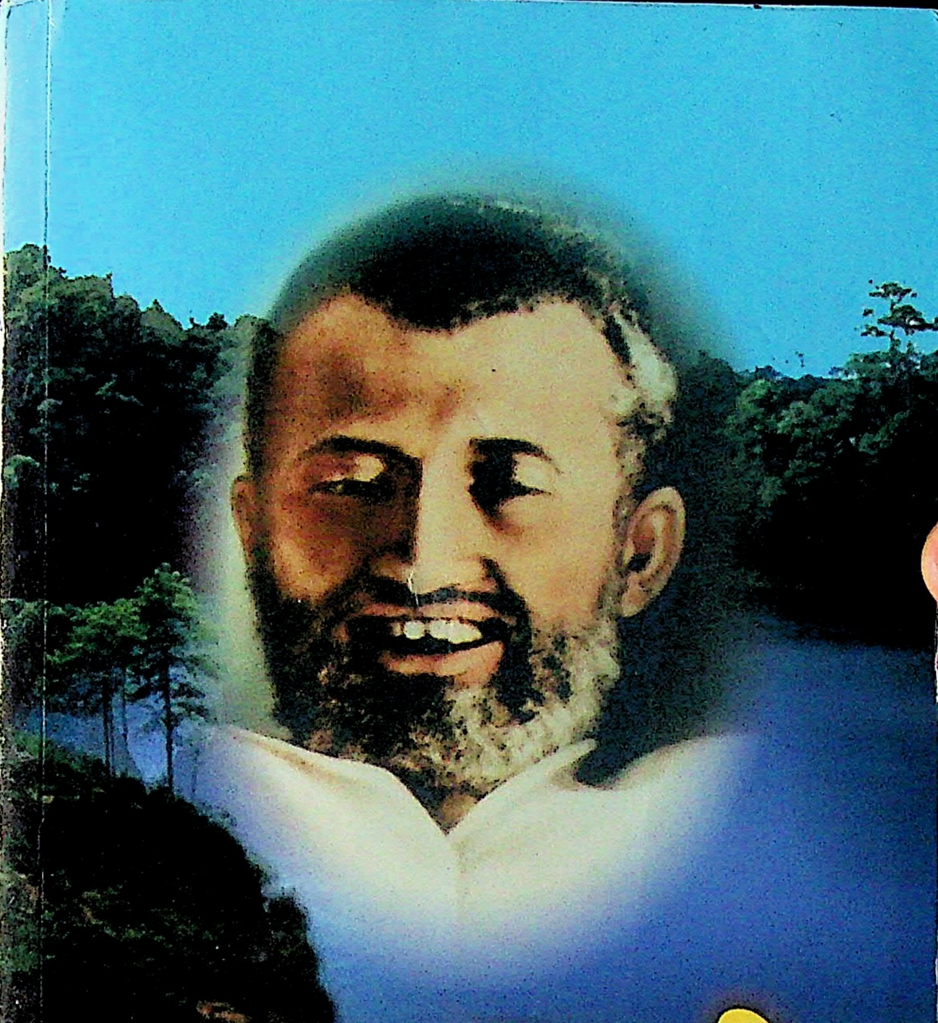

अमृतवाणी

श्रीरामकृष्णदेव के उपदेशों का बृहत् संग्रह

अमृतवाणी

(श्रीरामकृष्णदेव के उपदेशों का बृहत संग्रह)

अनुवादक :

स्वामी वागीश्वरानन्द

रामकृष्ण मठ

नागपुर

प्रकाशक :
स्वामी ब्रह्मस्थानन्द
अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ
रामकृष्ण आश्रम मार्ग
धन्तोली, नागपुर-४४० ०१२

श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द-स्मृतिग्रन्थमाला
पुष्प ९५
(रामकृष्ण मठ, नागपुर द्वारा सर्वाधिकार स्वरक्षित)

वर्ष १९८१ से २०१६ तक : ८१,२००
इक्कीसवाँ पुनर्मुद्रण : २७.७.२०१८
मुद्रित प्रतियाँ : ३,०००

मुद्रक :
लक्ष्मी ऑफसेट, नागपुर

मूल्य : रु. ६५.००

दो शब्द

(प्रथम संस्करण)

'अमृतवाणी' यह पुस्तक पाठकों के हाथ में देते हुए हमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है।

प्रस्तुत पुस्तक श्रीरामकृष्ण मठ, मद्रास से प्रकाशित अंग्रेजी पुस्तक 'Sayings of Sri Ramakrishna' का हिन्दी अनुवाद है। परन्तु यह शब्दशः अनुवाद नहीं है; अनुवाद करते समय केवल अंग्रेजी पुस्तक पर ही पूर्णतया निर्भर न रह अनुवादक ने कतिपय ग्रन्थों में इतस्तत: बिखरी हुई, श्रीरामकृष्णदेव की मूल बँगला उक्तियों की भी यथासम्भव सहायता ली है। पाठकों की सुविधा के लिए पुस्तक के प्रारम्भ में श्रीरामकृष्णदेव की संक्षिप्त जीवनी भी स्वतन्त्र रूप से दी गयी है।

धर्मभूमि भारत का आध्यात्मिक इतिहास इस बात का प्रमाण है कि जब जब भारत के आध्यात्मिक जीवन पर जड़वादरूपी संकट आया तब तब भगवान ने नरदेह धारण कर अवतीर्ण हो उसे उबारा। पूर्व पूर्व युगों की अपेक्षा वर्तमान युग का संकट अधिक भयंकर था, क्योंकि वह केवल साधारण भोगवाद नहीं था, यह तो वैज्ञानिक जड़वाद था जो अतिद्रुत गति से असंख्य नर-नारियों के अन्तस्तल में पैठता हुआ उनके हृदय के श्रद्धा-विश्वास को समूल नष्ट करने पर तुला था। इसके आकर्षक मोहजाल में फँसकर भारतवासी त्याग पर अधिष्ठित अपने सनातन धर्ममार्ग से दूर चले जा रहे थे। मानव-जाति को इस महान् संकट से बचाने के लिए सनातन धर्म की पुन:प्रतिष्ठा आवश्यक थी, परन्तु यह प्रतिष्ठा इस रूप से करनी थी जिससे वैज्ञानिक मनोभावयुक्त आधुनिक मानव उसकी प्रक्रिया को सरलता से समझ सके और अपना सके। इस कार्य की पूर्ति के लिए भगवान श्रीरामकृष्णदेव

का आविर्भाव हुआ था। उन्होंने अपने दिव्य जीवन द्वारा भारत की सुप्त आध्यात्मिक शक्ति को पुन: जागृत किया। न केवल हिन्दू धर्म को, बल्कि संसार के प्राय: सभी विख्यात धर्मों को पुनरुज्जीवित कर उन्होंने सम्पूर्ण संसार की धर्मग्लानि को दूर किया तथा भ्रान्त, अशान्त, अतृप्त जगद्वासियों को अमृतत्व का सन्धान देकर धन्य किया। भगवान श्रीरामकृष्ण सभी धर्मों के जीवन्त विग्रह थे; सनातन सत्य की अभिनव अभिव्यक्ति थे। वे अत्यन्त सरल और मनोहर भाषा में उपदेश देते थे तथा उनमें उनकी गहन-गम्भीर आध्यात्मिक अनुभूति की शक्ति भरी होती थी। इसलिए श्रोता के मन पर उनका विलक्षण प्रभाव पड़ता। उन उपदेशों को सुनते हुए श्रोता के मन से तत्काल सारा संशय, द्वन्द्व, अविश्वास दूर हो जाता और उसके हृदय में श्रद्धा का संचार होता। इस प्रकार अपने अलौकिक उपदेशों द्वारा उन्होंने अगणित नर-नारियों को दिव्य जीवन का मार्ग बताया।

हमें विश्वास है, उनके इन अमृतमय उपदेशों के अनुशीलन से पाठकों का सर्वांगीण कल्याण होगा।

नागपुर
दि. २७.१.१९८१
स्वामी विवेकानन्द जयन्ती

— **प्रकाशक**

अनुक्रमणिका

अध्याय | पृष्ठ

श्रीरामकृष्णदेव की संक्षिप्त जीवनी ११-२८

खण्ड १

जीव तथा संसार

१. **जीव** ३
- जीवन का उद्देश्य ... ३
- जीव का सच्चा स्वरूप ... ७
- जीव तथा बन्धन ... ९
- मृत्यु तथा पुनर्जन्म ... १२

२. **माया** १४
- ब्रह्मशक्ति माया ... १४
- अविद्या-माया ... १५
- विद्या-माया ... १७

३. **माया — कामिनी-कांचन** १८
- विषयासक्ति का बन्धन ... १८
- विषयासक्ति तथा आध्यात्मिक उन्नति ... १९
- विषयासक्ति पर विजय पाने का उपाय ... २१
- साधक और कांचनरूपी विघ्न ... २३

४. **माया — अहंकार** २६
- अहंकार के दोष ... २६
- अहंकार पर विजय पाना आसान नहीं है ... २८
- 'पक्का मैं' और 'कच्चा मैं' ... २९
- अहंकार पर विजय पाने का उपाय ... २९
- सिद्ध पुरुष का अहंकार ... ३१

५.	**विद्याध्ययन का बन्धन**		३४
	किताबी ज्ञान का खोखलापन	...	३४
	तर्क-युक्ति की नि:सारता	...	३६
	विद्या का यथार्थ उद्देश्य	...	३८
६.	**धर्मप्रचारक – असली और नकली**		४२
	प्रचारक के दोष	...	४२
	यथार्थ धर्मोपदेष्टा कौन है?	...	४४
७.	**संसारासक्त लोगों का जीवन**		४८
	संसारी जीव के लक्षण	...	४८
	संसारियों की भक्ति की अस्थिरता	...	५३
	संसारी जीव और साधना	...	५५

खण्ड २

जीव का क्रमविकास

८.	**विभिन्न साधक तथा उनके आदर्श**		६१
	भिन्न-भिन्न प्रकार के साधक	...	६१
	यथार्थ साधक के लक्षण	...	६४
	भगवद्भक्तों का आपसी नाता	...	६६
	संसार में रहनेवाले साधक का आदर्श	...	६७
	संन्यासी का आदर्श	...	७५
९.	**साधक जीवन के लिए कुछ सहायक बातें**		७९
	जातिप्रथा तथा बाह्याचार	...	७९
	मूर्तिपूजा	...	८१
	तीर्थयात्रा का महत्त्व	...	८३
	सत्संग के लाभ	...	८५
	भगवन्नाम का माहात्म्य	...	८७
१०.	**साधक का जीवनपथ**		९१
	साधकजीवन के कुछ विघ्न	...	९१
	पूर्व संस्कारों का प्रभाव	...	९२
	सिद्धियों से हानि	...	९३
	दान-धर्म	...	९६
	अन्न-वस्त्र	...	९७

शरीरविषयक दृष्टिकोण ... ९९
कष्टभोग-विषयक दृष्टिकोण ... ९९
सहनशीलता ... १०१
वाणी का संयम ... १०१
नम्रता तथा स्वाभिमान ... १०१
सरलता ... १०३
वासनात्याग ... १०४
स्त्रियों के प्रति मनोभाव ... १०६
भक्त और उसका परिवार ... १०८
प्रार्थना तथा भक्तिभाव ... १०९

११. **साधक तथा विभिन्न धर्ममत** **११२**
सभी धर्मों का ईश्वर एक ही है ... ११२
विभिन्न धर्म ईश्वरप्राप्ति के विभिन्न पथ हैं। ... ११३
धर्मान्धता का कारण तथा उसे दूर करने का उपाय ११४
विभिन्न धर्मों के प्रति उचित मनोभाव ... ११६

१२. **आध्यात्मिक जीवन के लिए आवश्यक बातें** ११९
ज्ञानलाभ के लिए कुछ शर्तें ... ११९
विश्वास ... १२०
ईश्वरार्पण ... १२४
इष्ट की आवश्यकता ... १२६
सत्य ... १२७
ब्रह्मचर्य ... १२८
विवेक ... १२९
वैराग्य ... १३१
उद्यमशीलता ... १३५
साधना ... १३८
एकाग्रता तथा ध्यान ... १४१

१३. **ईश्वर के लिए व्याकुलता** **१४५**
भगवान् के लिए पागल हो जाओ ... १४५
यथार्थ व्याकुलता का स्वरूप ... १४५
भगवत्प्राप्ति की अनिवार्य शर्तें ... १४७

खण्ड ३

जीव तथा ईश्वर

१४.	**भगवान् तथा भगवद्-भक्त**		१५३
	भगवान् क्यों नहीं दिखाई देते	...	१५३
	भगवान् तथा भक्त	...	१५३
	भक्तों की सांसारिक परिस्थिति	...	१५८
	भगवान् कैसे प्रकट होते हैं।	...	१५८
	भगवान् धन की परवाह नहीं करते	...	१५९
	भगवत्कृपा और पुरुषार्थ	...	१५९
१५.	**धर्मपथ के सहायक**		१६४
	(१) गुरु :	...	१६४
	गुरु का स्वरूप	...	१६४
	गुरु का प्रयोजन	...	१६५
	गुरु-शिष्य सम्बन्ध	...	१६६
	(२) अवतार :	...	१६८
	अवतार क्या है?	...	१६८
	अवतारों को पहचानना कठिन है	...	१७०
	अवतार ईश्वर की ही अभिव्यक्ति है	...	१७०
१६.	**ज्ञान, भक्ति तथा कर्म**		१७५
	(१) ज्ञानमार्ग :	...	१७५
	ज्ञानयोग क्या है?	...	१७५
	ज्ञानयोग की प्रणाली	...	१७६
	ज्ञानयोग की कठिनाइयाँ	...	१७८
	(२) भक्तिमार्ग :	...	१७९
	भक्ति तथा उसकी प्राप्ति के उपाय	...	१७९
	भक्ति तथा जागतिक प्रेम	...	१८२
	भक्ति का परिणाम	...	१८३
	भक्ति के विविध सोपान और पहलू	...	१८५
	प्रेम अथवा पराभक्ति	...	१८७
	गोपियों का प्रेम	...	१८९

	विरह तथा महाभाव	...	१९०
	(३) भक्ति तथा ज्ञान :	...	१९१
	भक्ति और ज्ञान का अन्तिम लक्ष्य एक ही है		१९१
	भक्ति ज्ञान की ओर ले जाती है	...	१९२
	ज्ञानी तथा भक्त के स्वभाव में अन्तर	...	१९५
	(४) कर्मयोग :	...	१९७
	कर्मयोग क्या है?	...	१९७
	कर्ममार्ग में भक्ति का महत्त्व	...	१९८
	सेवाभाव से किया जानेवाला कर्म पूजा के समान है		१९९
	कर्म उपाय है, उद्देश्य नहीं	...	२००
	कर्म तथा नैष्कर्म्य	...	२०१
१७.	**ईश्वर**		२०४
	ब्रह्म	...	२०४
	ब्रह्म ही द्वैतप्रपंच की सत्ता है	...	२०५
	ईश्वर, माया, शक्ति	...	२०७
	ईश्वर मन में विराजमान है	...	२०९
	साकार और निराकार	...	२१०
	कुछ ईश्वरीय रूप	...	२१३
	ईश्वर की सर्वव्यापकता	...	२१४
	ईश्वर तथा मनुष्य का नैतिक दायित्व	...	२१४
१८.	**ईश्वरदर्शन**		२१६
	ईश्वरदर्शन के लिए आवश्यक मनोभूमि	...	२१६
	कुण्डलिनी तथा आध्यात्मिक जागृति	...	२१७
	नकली भावावस्था	...	२२०
	ईश्वरीय रूपदर्शन तथा ध्वनिश्रवण	...	२२१
	समाधि तथा ब्रह्मज्ञान	...	२२१
	समाधि-अवस्था का मनोभाव	...	२२३
	समाधि के पश्चात् होनेवाला विज्ञान	...	२२५
१९.	**ईश्वरसाक्षात्कारी पुरुष**		२२८
	विभिन्न प्रकार के सिद्ध पुरुष	...	२२८
	ईश्वरोपलब्धि के बाद की अवस्था	...	२२९

सिद्धिप्राप्ति के कुछ लक्षण ... २३०
सिद्ध पुरुष की निर्विकारता ... २३२
सिद्ध पुरुष अच्छे और बुरे के पार होते हैं ... २३३
सिद्ध पुरुष तथा कर्म ... २३५
२०. **श्रीरामकृष्ण के दिव्य अनुभवों का निजमुखकथित विवरण** २३७
पूर्वायुष्य के अनुभव ... २३७
तान्त्रिक तथा अन्य साधनाएँ ... २४०
निर्विकल्प समाधि का अनुभव ... २४२
श्रीरामकृष्ण का अखण्ड भगवद्भाव ... २४५
श्रीरामकृष्ण की प्रार्थना ... २४६
भला और बुरा सब में भगवान् हैं ... २४७
श्रीरामकृष्ण की व्याधि ... २५०
श्रीरामकृष्ण का देवमानव भाव ... २५२

खण्ड ४

सूक्तियाँ तथा बोधकथाएँ

२१. **कुछ सूक्तियाँ** २५९
नैतिक सूक्तियाँ ... २५९
आध्यात्मिक सूक्तियाँ ... २६१
२२. **बोधकथाएँ** २६४
संसारासक्तों की दुर्गति ... २६४
कामिनी का बन्धन ... २६८
आध्यात्मिक उन्नति मन ही पर आधारित है ... २७२
धर्मतत्त्व को ठीक से समझ न सकना
कितना भयंकर होता है! ... २७४
मतान्धता के दोष ... २७६
भक्ति, विश्वास तथा शरणागति ... २७८
त्याग और वैराग्य ... २९१
माया का स्वरूप ... २९९
ब्रह्मज्ञान ... ३०२

श्रीरामकृष्णदेव की संक्षिप्त जीवनी

युगावतार श्रीरामकृष्ण का जन्म पश्चिम बंगाल के हुगली जिले के अन्तर्गत कामारपुकुर ग्राम में, एक निर्धन परन्तु धर्मनिष्ठ ब्राह्मण परिवार में, बुधवार दि. १७ फरवरी १८३६ को हुआ था।

पिता खुदिराम चटर्जी एक अत्यंत धर्मपरायण, निष्ठावान् एवं सदाचारसम्पन्न ब्राह्मण थे। वे रघुवीर के उपासक थे। उनकी पत्नी चन्द्रमणि देवी भी स्नेह, सरलता तथा दयालुता की मूर्ति थीं। सन् १८३५ ई. में खुदिरामजी गयाधाम गये हुए थे। वहाँ एक दिन उन्होंने एक दिव्य स्वप्न देखा जिसमें भगवान् गदाधर विष्णु उनसे कह रहे थे, "खुदिराम, मैं तेरी भक्ति से बड़ा सन्तुष्ट हूँ। मैं तेरे घर पुत्ररूप से अवतीर्ण हो तेरी सेवा ग्रहण करूँगा।" इधर, जिस समय खुदिराम गयाधाम गये हुए थे, उस समय कामारपुकुर में चन्द्रादेवी को भी कुछ दिव्य दर्शन एवं अनुभूतियाँ प्राप्त हुईं। एक दिन वे युगियों के शिवमन्दिर के सामने खड़ी थीं। इतने में उन्हें लगा मानो शिवजी के अंग से एक उज्ज्वल ज्योति निकली और तरंग के रूप में तीव्र वेग से बढ़ती हुई उनके उदर में प्रविष्ट हो गयी। वे मूर्छित हो गिर पड़ीं परन्तु शीघ्र ही उन्हें प्रतीत होने लगा कि उनके उदर में गर्भसंचार हुआ है। धर्मग्रन्थों का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि अवतारों के जन्म से पूर्व उनके माता-पिता को दिव्य दर्शनादि हुआ करते थे।

नवजात बालक के अंगलक्षणादि अलौकिक थे। प्रख्यात ज्योतिषियों ने जन्मकालीन गणना द्वारा निश्चय किया कि नवजातक नवीन धर्ममार्ग का प्रवर्तन करते हुए नारायण-अंश-सम्भूत महापुरुष के रूप में ख्याति प्राप्त कर मानवसमाज का पूज्य होगा। गया के गदाधर की कृपा से यह पुत्र हुआ है ऐसा सोचकर खुदिराम ने उसका नाम 'गदाधर' रखा।

बालक गदाधर अपनी मधुर बाललीलाओं द्वारा माता-पिता तथा समस्त ग्रामवासियों के हृदय को आनन्द देने लगा। उसकी आकर्षणशक्ति अद्भुत थी। उसकी अपूर्व सरलता, एकाग्रता, अलौकिक धारणाशक्ति एवं बुद्धिमत्ता को देख लोग दंग रह जाते।

बालक को समय आने पर गाँव की पाठशाला में भरती कर दिया गया। पढ़ना और लिखना तो उसने थोड़े समय में ही सीख लिया पर गणित के प्रति उसके मन में पहले से ही उदासीनता बनी रही। गदाधर का शरीर गठीला और प्रकृति नीरोग थी। उसकी वृत्ति सदा स्वतन्त्र और आनन्दपूर्ण थी। वह बड़ा साहसी और निडर था। वह समवयस्क मित्रों के साथ खेल-कूद, हास्य-विनोद, नृत्य-गीत में मग्न रहा करता।

देवी-देवताओं की भावपूर्ण मूर्तियाँ गढ़ने और चित्र बनाने में उसकी कुशलता विलक्षण थी। रामायण-महाभारतादि की कथाएँ, भजन, कीर्तन आदि को एक बार सुनते ही वह आत्मसात् कर लेता; धार्मिक नाटकों को केवल एक बार देखकर ही वह यथोचित हाव-भाव के साथ उनका सही सही अभिनय कर दिखाता।

अपने प्रेमपूर्ण निर्मल स्वभाव, मधुर भाषण, आनन्दमय वृत्ति के कारण वह सब का प्रिय था। उसका स्वाभाविक एकाग्र चित्त जब जिस विषय की ओर आकर्षित होता उस समय वह उसी में तल्लीन हो जाता, तब उसे अपनी देह की सुध नहीं रहती। छह-सात वर्ष की अवस्था में एक बार खेत की मेंड़ पर से जाते समय काली घटाओं से घिरे आकाश में शुभ्र बगुलों की पंक्ति को उड़ते देख बालक समाधिमग्न हो गया था।

सात-आठ वर्ष की उम्र में गदाधर को पितृवियोग का दुःख सहना पडा। पिता के प्रेम से वंचित हो बालक का मन अन्तर्मुख हो संसार के यथार्थस्वरूप का चिन्तन करने लगा। उसकी हास्यप्रियता तथा नृत्यगीत आदि का रूपान्तर गम्भीर भावुकता में होने लगा। वैसे वह अधिकांश समय अपनी दुखियारी माता के साथ रहकर गृहकार्यों में सहायता करते हुए उसके दुःख को कम करने की कोशिश करता।

गाँव में समय-समय पर जब तीर्थयात्री साधु-बैरागी कुछ दिनों के लिए डेरा डालते तो बालक गदाधर उन साधुओं के पास जाकर उनके आचरणों को गौर से देखता तथा उनकी छोटी-मोटी सेवा किया करता। वे साधु भी इस सुन्दर बालक के मधुर आचरण से प्रसन्न हो उसे भजन आदि सिखाते, कथाएँ सुनाते और प्रसाद भी देते।

इसी समय एक दिन गाँव की कुछ स्त्रियों के साथ देवी विशालाक्षी के मन्दिर में पूजा चढ़ाने जाते समय देवी-महिमा के गीत गाते गाते गदाधर को भावावस्था प्राप्त हो गयी और वह सुधबुध खो बैठा। काफी समय बाद देवी का नामगुणगान सुनते सुनते उसकी बाह्य चेतना लौटी और वह प्रकृतिस्थ हुआ।

बालक का नवाँ वर्ष समाप्त होते देख माता ने उसके उपनयन का प्रबन्ध किया। गाँव की धनी लोहारिन का बालक गदाधर पर अत्यन्त स्नेह था। एक बार उसने बालक से कहा था कि जनेऊ के समय तू पहली भिक्षा मुझसे लेना और गदाधर ने यह स्वीकार किया था। उपनयनकाल निकट आते देख गदाधर ने यह बात बडे भाई रामकुमार को बतायी। अब्राह्मण स्त्री का ब्राह्मण बालक की 'भिक्षामाता' बनना एक रूढीविरुद्ध बात होने के कारण रामकुमार आदि ने इसका कड़ा विरोध किया। परन्तु सत्यनिष्ठ बालक को अपने दिये हुए वचन को पालना ही था। वह सत्यरक्षा के संकल्प पर अडिग रहा। अन्त में सब को उसी की बात माननी पड़ी।

उपनयन होने पर गदाधर को देवपूजा का अधिकार प्राप्त हो गया। अब वह अपना बहुतसा समय सन्ध्या-वन्दन, पूजा-ध्यान आदि में बिताने लगा। पवित्रहृदय बालक को कई दिव्य अनुभव आदि होने लगे।

एक बार शिवरात्रि के उपलक्ष्य में आयोजित शिवविषयक नाटक में शिवजी का अभिनय करनेवाले अभिनेता के अकस्मात् अस्वस्थ हो जाने के कारण गदाधर को शिवजी का अभिनय करने के लिए तैयार किया गया। शिवजी का भेष धारण करते हुए वह शिवजी के भाव में इतना तन्मय हो गया कि रंगमंच पर खड़े होते ही बाह्यज्ञानशून्य हो गया। इस समय गदाधर

दस वर्ष का था।

जब वह बारह वर्ष का हुआ उस समय बड़े भाई रामकुमार अपने मझले भाई रामेश्वर पर गृहस्थी का भार सौंप कलकत्ता चले गये और श्यामापुकुर मुहल्ले में पाठशाला चलाते हुए एवं कुछ यजमानों के घर पूजा करते हुए धनोपार्जन करने लगे।

रामकुमार के कलकत्ता चले जाने के बाद गदाधर का मन पढ़ाई से बिलकुल ही उचट गया। प्रखर बुद्धिमत्ता के कारण उसे यह समझते देर नहीं लगी कि लोग विद्योपार्जन केवल पैसा कमाने के लिए करते हैं। उसने अपने मन में विचार किया – कठोर परिश्रम और अध्ययन करके शास्त्रों में लिखी बातों का पठन-पाठन मात्र करके क्या लाभ? इससे शास्त्रनिहित सत्यों की उपलब्धि तो नहीं होती।

तीन वर्ष बाद रामकुमार गदाधर को कलकत्ता ले गये। उद्देश्य था, उनके पास रहने से गदाधर का विद्याभ्यास ठीक चलेगा और उससे उन्हें स्वयं भी कुछ सहायता प्राप्त होगी। अत: गदाधर के आने के बाद उन्होंने यजमानों के घर की देवपूजा का काम उसे सौंप दिया। गदाधर यह कार्य बड़े आनन्दपूर्वक करने लगा। इस समय उसकी उम्र सत्रह वर्ष की थी। अपने सौम्य रूप, सरल स्वभाव, मधुर आचरण, अद्भुत कार्यकुशलता, अगाध देवभक्ति आदि अनेक गुणों के कारण वह यजमानों के घर के सभी लोगों को प्रिय हो गया। उसने कुछ मित्रमण्डली भी जमा ली और आनन्द से दिन बिताने लगा। पर पढ़ाई-लिखाई की ओर उसका बिलकुल ध्यान न था। एक दिन रामकुमार ने जब उसे चेतावनी देते हुए विद्याभ्यास करने का उपदेश दिया तो निर्भीक गदाधर ने नम्रतापूर्वक परन्तु दृढ़ और स्पष्ट स्वर से कह दिया – "दाल-रोटी दिलानेवाली विद्या मुझे नहीं चाहिए, मुझे तो वही विद्या चाहिए जिससे हृदय में ज्ञान का उदय होकर मनुष्य कृतार्थ हो जाता है।"

परमेश्वर की अचिन्त्य योजना से इसी समय रानी रासमणि ने दक्षिणेश्वर में भवतारिणी कालीमाता का मन्दिर प्रतिष्ठित करवाया और रामकुमारजी को उसका पुजारी नियुक्त किया। बड़े भाई के साथ गदाधर भी वहीं आकर रहने

लगा।

धीरे-धीरे रामकुमार ने गदाधर को देवीपूजा सिखा दी और केनाराम भट्टाचार्य नामक एक शक्तिसाधक से दीक्षा ग्रहण कर गदाधर ने कालीमन्दिर का पुजारीपद ग्रहण किया। इसके अल्प समय के भीतर अचानक रामकुमार की मृत्यु हो गयी।

पितृतुल्य अग्रज की इस अकस्मात् मृत्यु से पूजक गदाधर की अन्तर्निहित वैराग्यवह्नि और भी प्रज्वलित हो उठी। अनित्य संसार के क्षणभंगुर विषयों के प्रति विराग के साथ ही साथ उनके मन में सत्-चित्-आनन्दस्वरूप नित्यवस्तु के प्रति अनुराग अधिकाधिक तीव्र होने लगा। मन्दिर में आनन्दमयी जगज्जननी की पूजा-अर्चना में तन्मय हो वे समस्त संसार भूल जाते। विह्वल हो जगन्माता को अपने हृदय की व्याकुलता निवेदित करते हुए वे घण्टों बिता देते। देवी के सम्मुख भक्तिपूर्ण हृदय से भजन गाते हुए वे सुधबुध खो बैठते और नेत्रों से अविरल प्रेमाश्रु की धारा बहती हुई उनके वक्षःस्थल को भिगो देती। उनके मन में प्रश्न उठता – 'क्या यह प्रतिमा वास्तव में चिन्मयी जगज्जननी है अथवा यह केवल पाषाणमयी मूर्ति है? क्या सचमुच इसके चिन्मय रूप का दर्शन हो सकता है?'

दोपहर को मन्दिर बन्द होने पर तथा रात्रि के समय वे मन्दिर से कुछ ही दूर पंचवटी नामक वृक्षों तथा झाड़ियों से घिरे हुए एकान्त स्थल में जाकर गम्भीर ध्यान में डूब जाते। आहार-विहार, निद्रा सभी के प्रति तब उनकी तीव्र उदासीनता थी। शरीर क्षीण होता जा रहा था। वक्षःस्थल सदा आरक्त रहता और आँखें सजल रहतीं। हृदय में अव्यक्त अशान्ति थी। अन्तर्दाह से छटपटाते हुए वे 'माँ, माँ' कहकर आर्तनाद करते।

तीव्र व्याकुलता के कारण कभी कभी जमीन पर पछाड़ खाकर लोटने लगते। लोग समझते कि इसे उदरशूल का रोग हो गया है। सन्ध्यासमय जब देवी के मन्दिर में आरती के वाद्य बज उठते तो वे व्याकुल हो रोने लगते – "माँ, और एक दिन बीत गया, अब तक तेरे दर्शन नहीं मिले!"

एक दिन तो भगवत्-विरह की पीड़ा इतनी असह्य हो गयी कि उनके

मन में बारम्बार यह विचार उठने लगा – 'यदि माता के दर्शन ही न हों तो इस जीवन को रखकर क्या लाभ?' और ऐसा सोच वे अपने जीवन का अन्त कर देने के इरादे से पागलों की तरह मन्दिर की दीवाल पर लटक रहे खड्ग की ओर लपके और उसे हाथ में ले अपने गले में मारने ही वाले थे कि उन्हें माँ-जगदम्बा का अपूर्व दिव्य दर्शन हुआ और वे बाह्य-ज्ञानशून्य हो जमीन पर गिर पड़े। घर, द्वार, मन्दिर सब जाने कहाँ विलीन हो गये और वे एक असीम, अनन्त चैतन्यमय ज्योति:समुद्र में निमग्न हो अपना अस्तित्व खो बैठे। अन्त:करण में एक अननुभूत अपूर्व आनन्द का स्रोत निरन्तर बहने लगा।

इस दर्शन के पश्चात् श्रीजगज्जननी की चिन्मयमूर्ति के सदासर्वकाल अखण्ड दर्शन के लिए उनके हृदय में प्रचण्ड उद्वेग हुआ करता और वे असह्य वेदना से संज्ञारहित हो जाते। ऐसे समय उन्हें माता की उस वराभयकरा चिन्मय मूर्ति के दर्शन होते और वह उन्हें तरह तरह से सान्त्वना देती।

जगन्माता के प्रथम दर्शन के पश्चात् गदाधर शास्त्रोक्त विधि-निषेध की सीमा का अतिक्रमण कर मानो असीम भावसमुद्र में निमग्न हो गये। अब उनके लिए भवतारिणी की प्रतिमा पाषाणमयी नहीं रह गयी – वह तो जीती-जागती जगज्जननी थी। वह उनके साथ बातचीत करती, उनकी पूजा ग्रहण करती, उनका निवेदित भोग सचमुच खाया करती। विधिवत् पूजा से सम्पूर्णतया भिन्न उनकी इस भावमयी पूजा को अनाचार समझकर कालीमन्दिर के कार्यकर्ताओं ने मन्दिर के मालिक रानी रासमणि के दामाद मथुरबाबू से उनके विरुद्ध शिकायत की। परन्तु जब मथुरबाबू ने स्वयं आकर गदाधर की इस भावमयी पूजा को देखा तो वे मुग्ध हो गये और गदाधर के प्रति उनका आकर्षण गम्भीर श्रद्धा में परिणत हो गया। क्रमशः नाना प्रकार से गदाधर के दिव्यत्व का परिचय पाने के फलस्वरूप मथुरबाबू अन्त तक उनके भक्त और सेवक बने रहे।

गदाधर सुदीर्घ बारह वर्ष तक अविरत कठोर साधना करते रहे। प्रथम चार वर्ष के साधनकाल में वे केवल अपनी तीव्र व्याकुलता के सहारे

जगज्जननी पर अपना समस्त भार सौंपकर चल रहे थे। और एकमात्र इस व्याकुलता के बल पर ही उन्हें जगज्जननी के दर्शन हुए थे।

श्रीजगदम्बा के दर्शन होने के बाद अपने कुलदेवता रघुवीर के दर्शन की इच्छा उनके मन में उदित हुई और वे दास्यभक्ति की साधना में डूब गये। इस समय उनकी अवस्था हनुमानजी की तरह हो गयी और उन्हें सीताजी के दर्शन हुए।

भावभक्ति के प्रबल वेग के कारण गदाधर के शरीर में अनेक अद्भुत लक्षण उत्पन्न हुए। उनके शरीर में असह्य दाह होने लगा। आँखों से नींद उड़ गयी। उनके आचार-विचारों को देख लोगों को लगता कि उन्हें उन्माद हो गया है। पर वह तो दिव्योन्माद था !

इसी समय काम-कांचनासक्ति को पूर्णतया नष्ट करने के लिए उन्होंने अद्भुत साधनाएँ कीं और उस पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली। उनकी अवस्था ऐसी हो गयी कि अनजाने में भी यदि पैसे का स्पर्श हो जाता तो उनके हाथ-पैर टेढ़े-मेढ़े हो जाते और श्वास बन्द हो जाता। धातु के बरतन का कहीं स्पर्श हो जाता तो बिच्छू के डंक मारने के समान पीड़ा होती। पतित स्त्रियों में भी उन्हें जगन्माता का ही रूप दिखाई देता। अहंकार को निर्मूल करने के लिए वे अपने हाथ से भिखारियों की जूठन साफ करते, उनका प्रसाद ग्रहण करते, निम्न श्रेणियों के लोगों के शौचालय को साफ करते। इस प्रकार अहंभाव को पूर्णतया नष्ट कर वे जगदम्बा के हाथ के यन्त्रस्वरूप बन गये।

उस समय उनका मन ही उनके गुरु का काम कर रहा था। बाह्य गुरु कोई नहीं थे। उनके शरीर के भीतर से उन्हीं के जैसा दिखाई देनेवाला एक युवक संन्यासी बाहर प्रकट हो उन्हें हर विषय में उपदेश दिया करता। बाद में भैरवी ब्राह्मणी, तोतापुरी आदि गुरुओं ने आकर उन्हें वही उपदेश दिये।

साधना के प्रथम चार वर्षों के अन्तिम भाग में उन्हें श्रीचैतन्य और नित्यानंद के दर्शन हुए तथा वे दोनों उनकी देह में समा गये।

इधर जब माता चन्द्रमणि के पास यह समाचार पहुँचा कि गदाधर

को उन्माद रोग हो गया है और वह मन्दिर में पूजा नहीं कर पा रहा है, तो वे बेचैन हो गयीं। उन्होंने गदाधर को कामारपुकुर बुलवा लिया और उनके उन्माद के चिकित्सार्थ शान्ति-स्वस्त्ययन, झाड़-फूँक आदि नाना उपाय करने लगीं। कामारपुकुर आने के बाद गदाधर 'भूतिर खाल' और 'बुधुई मोड़ल' के श्मशान में जाकर साधना करते। धीरे धीरे जगन्माता के अबाधित अविरत दर्शन और नाना प्रकार की लीलाएँ आदि देखने के फलस्वरूप गदाधर की बाह्य अस्वस्थता कुछ कम हुई। वे परिवार के लोगों और मित्रों के साथ पूर्ववत् मधुर आचरण करने लगे। इस समय चन्द्रमणि तथा रामेश्वर ने परामर्श कर गदाधर का विवाह कर देने की ठानी। वधू की खोज चल रही थी, ऐसे समय गदाधर ने स्वयं ही कह दिया कि इधर-उधर खोज करना वृथा है, जयरामवाटी के रामचन्द्र मुखर्जी के घर कन्या पहले से ही चिह्नित हो चुकी है। और वास्तव में उसी कन्या के साथ सन् १८५९ ई. के मई माह में गदाधर का शुभ विवाह सम्पन्न हुआ। गदाधर की उम्र उस समय साढ़े तेईस वर्ष की थी और वधू सारदामणि की साढ़े पाँच वर्ष।

विवाह के पश्चात् कई दिन तक कामारपुकुर में ही रहने के बाद गदाधर दक्षिणेश्वर आये और फिर से कालीमाता की पूजा करने लगे। पुन: उनका उन्मादभाव बढ़ गया और सारे शरीर में पुन: विलक्षण दाह और बेचैनी होने लगी। आँखों की पलकें झपकती न थीं। मथुरबाबू ने चिकित्सा करायी। किसी वैद्य ने कहा, "उन्हें तो दिव्योन्माद हुआ है, यह योगप्रसूत व्याधि है।"

इसी समय (१८६१ ई. आरम्भ में) रानी रासमणि स्वर्ग सिधारीं और इसके कुछ दिनों बाद योगेश्वरी भैरवी ब्राह्मणी का दक्षिणेश्वर आगमन हुआ। ये उच्चकोटि की साधिका थीं और देवी के आदेशानुसार गदाधर को तन्त्रसाधना कराने आयी थीं। गदाधर के भीतर भाव, महाभाव आदि देख उन्होंने ही उन्हें सर्वप्रथम अवतार घोषित किया एवं प्रसिद्ध पण्डितों की सभा कराकर शास्त्रवाक्यों का प्रमाण देते हुए इस तथ्य को प्रतिपादित किया। उन्होंने अद्भुत दैवी उपाय द्वारा गदाधर के गात्रदाह को दूर किया।

जगज्जननी की अनुमति लेकर गदाधर ने भैरवी ब्राह्मणी के निर्देशानुसार

यथाशास्त्र तन्त्रसाधना आरम्भ की। पंचवटी के नीचे तथा उससे कुछ दूर बिल्ववृक्ष के नीचे दो पंचमुण्डयुक्त वेदियाँ बनवायी गयीं। ब्राह्मणी दिनभर इधर-उधर घूमती हुई तन्त्रसाधना के लिए आवश्यक विभिन्न दुष्प्राप्य वस्तुओं का संग्रह करतीं और शाम होते ही गदाधर से साधना करवातीं। ये साधनाएँ अत्यन्त कठिन और गूढ़ थीं। इन्हें करते हुए गदाधर इतने तन्मय हो गये कि महीनों उन्हें दिन और रात का भी पता नहीं रहा। कितने ही दिव्य दर्शन, अलौकिक अनुभूतियाँ एवं सिद्धियाँ उन्हें प्राप्त होती रहीं। क्रमशः चौसठ प्रकार के तन्त्रों में विहित सभी साधनाओं में सिद्धि प्राप्त कर उन्होंने तन्त्रशास्त्र की प्रामाणिकता सिद्ध कर दिखायी और इस प्रकार उसकी महिमा बढ़ा दी।

तन्त्रोक्त शक्तिसाधना में सिद्धि प्राप्त करने के बाद गदाधर के मन में वैष्णवमत की साधना करने की इच्छा उत्पन्न हुई। इसी समय (सम्भवतः १८६३ ई. में) जटाधारी नामक एक रामायतपन्थी साधु दक्षिणेश्वर में आये। उनके पास 'रामलला' (बाल-रामचन्द्र) की – एक अष्टधातुनिर्मित छोटीसी मूर्ति थी और वे सदा अत्यन्त निष्ठापूर्वक उसी की सेवा में निमग्न रहते। भक्तियुक्त अन्तःकरण से तन्मय हो रामलला की पूजा-सेवा करते हुए जटाधारी बाबा को अनेक दिव्य दर्शन आदि होते।

इस समय गदाधर स्वयं को जगदम्बा की दासी या सखी मानते हुए उनकी पूजासेवा में मग्न थे। रामलला की बालमूर्ति को देख उनके मन में उसके प्रति वात्सल्यभाव उत्पन्न हुआ और जटाधारी से राममन्त्र की दीक्षा ग्रहण कर वे वात्सल्यभाव की साधना में प्रवृत्त हुए। शीघ्र ही यह रामलला चिन्मयरूप धारण कर उनके साथ अनेकविध अपूर्व बालसुलभ लीलाएँ करने लगा। वह रातदिन उन्हीं के पास रहता, उन्हें छोड़ना ही नहीं चाहता था। अन्त में बाबाजी को ऐसी कुछ अलौकिक अनुभूति प्राप्त हुई कि वे वह मूर्ति गदाधर को देकर दक्षिणेश्वर से चले गये। इस समय दक्षिणेश्वर में अनेक साधु-सन्त आने लगे। उनके पास से उन्होंने कई रामभक्तिपरक पद एवं दोहे सीखे थे।

वात्सल्यभाव में सिद्ध होने के पश्चात् गदाधर मधुरभाव की साधना

में प्रवृत्त हुए। वैष्णव शास्त्र में मधुर भाव को शान्त-दास्य-सख्य-वात्सल्य भावों की सारसमष्टि अथवा परिपूर्ति माना जाता है।

गदाधर शास्त्र की प्रतिष्ठा करने आये थे, अत: किसी भावविशेष की साधना करते समय वे शास्त्रानुसार उस भाव के अनुकूल वेश एवं बाह्य चिह्नादि भी धारण करते। मधुरभाव की साधना के समय वे स्त्री-वेश धारण किये रहते। उस समय उनके शरीर और मन के प्रत्येक क्रियाकलाप से स्त्रीजनोचित भाव ही प्रकट होता। श्रीमती राधिका के भाव में मग्न हो श्रीकृष्ण के दर्शन के लिए व्याकुल होकर वे करुण विलाप किया करते। श्रीकृष्ण-विरह की प्रबलता के कारण उन्हें फिर गात्रदाह होने लगा तथा शरीर के प्रत्येक रोमकूप से बिन्दु बिन्दु रक्त बाहर आने लगा। इस अवस्था में उन्हें श्रीराधिका एवं श्रीकृष्ण के दर्शन हुए थे ।

मधुरभाव में सिद्धि प्राप्त कर गदाधर पंचभावसाधना के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ हो गये। अब उनके मन से भावातीतभाव – अद्वैतभाव – की साधना करने की प्रबल इच्छा जागृत हुई। जगज्जननी की अचिन्त्य लीला से वह इच्छा भी अविलम्ब पूर्ण हो गयी। उसी समय ब्रह्मदर्शी नागा परिव्राजक श्रीतोतापुरीजी का दक्षिणेश्वर में आगमन हुआ। गदाधर को देखते ही उन्होंने पहचान लिया कि यह वेदान्तसाधना का यथार्थ अधिकारी है। उन्होंने उनसे वेदान्तसाधना कराने की इच्छा प्रकट की। जगदम्बा का आदेश पाकर गदाधर ने उनसे संन्यासदीक्षा ग्रहण की। किसी किसी के मतानुसार इसी समय उन्हें तोतापुरीजी से 'रामकृष्ण' नाम प्राप्त हुआ। तोतापुरीजी से वेदान्त के सिद्धान्तवाक्यों का उपदेश सुनते हुए श्रीरामकृष्ण आत्मध्यान में लीन हो गये। ज्यों ही उनका मन सभी विषयों से उपरत होता त्यों ही उसमें जगन्माता की चैतन्य-घनमूर्ति उदित हो जाती। परन्तु तोतापुरी के उपदेश के अनुसार यह भी एक विकल्प ही था। अन्त में श्रीरामकृष्ण ने ज्ञानरूपी खड्ग द्वारा उस मूर्ति के टुकड़े टुकड़े कर डाले और उनका मन नामरूप के राज्य का अतिक्रमण कर द्रुतगति से निर्विकल्प समाधि में निमग्न हो गया। तीन दिन और तीन रातें बीत गयीं परन्तु श्रीरामकृष्ण का मन बाह्य जगत् में नहीं लौटा।

श्रीरामकृष्ण को इतने अल्प समय में इतनी आसानी से इस प्रकार निर्विकल्प समाधि में मग्न होते देख तोतापुरी स्तम्भित हो गये। उन्होंने प्रयत्नपूर्वक श्रीरामकृष्ण को समाधि से जगाया। शिष्य के अलौकिक व्यक्तित्व से प्रभावित हो ये परिव्राजक संन्यासी – जो किसी भी स्थान पर तीन दिनों से अधिक नहीं रहते थे – ग्यारह माह दक्षिणेश्वर में रहे तथा उसके परिपूर्ण जीवन से उन्होंने बहुत कुछ सीखा। उनके जीवन में जो अपूर्णता रह गयी थी, वह श्रीरामकृष्ण के दिव्य संग से पूरी तरह दूर हो गयी।

तोतापुरी के चले जाने के पश्चात् (१८६५-६६) श्रीरामकृष्ण को निर्विकल्प अद्वैतभाव में ही निरन्तर मग्न रहने की इँच्छा हुई और तदनुसार वे अद्वय अखण्ड सच्चिदानन्द स्वरूप में लीन हो अनिर्वचनीय आनन्द की स्थिति में अवस्थान करने लगे। शास्त्र में कहा है कि साधारण जीव यदि कठोर साधना द्वारा किसी प्रकार निर्विकल्प समाधि प्राप्त कर ले तो उस अवस्था में वह अधिक से अधिक इक्कीस दिन तक रह सकता है; उसके बाद उसकी देह सूखी पत्ती की तरह झड़ जाती है। परन्तु श्रीरामकृष्ण तो ईश्वरावतार ही थे ! लगातार छह महीने वे इसी अवस्था में रहे। इस अवस्था में उन्हें अपने शरीर तक का ध्यान नहीं रहता था, फिर बाह्य जगत् की तो बात ही क्या ? मृतदेह के नाक-मुँह में जैसे मक्खियाँ चली जाती हैं वैसे ही उनके नाक-मुँह में चली जातीं, मलमूत्रादि शरीरधर्म कब हो जाता कुछ पता न चलता। शरीर तो कब का नष्ट हो गया होता परन्तु उस शरीर से अभी जगत्कल्याण का कार्य होनेवाला था। इसलिए परमेश्वर की अचिन्त्य योजना से वे पुनः बाह्यभूमि में लौट आये।

इस समय उन्हें अनुभव हुआ कि अद्वैतभाव में स्थिर होना ही सब प्रकार की साधनाओं का अन्तिम ध्येय है और यह भी कि जो भिन्न भिन्न धर्ममत हैं वे अलग अलग मार्ग हैं; पर अन्त में वे सभी इस अद्वैतस्थिति में आ मिलते हैं।

इसी समय (१८६६-६७) इस्लाम धर्म के अन्तर्गत सूफी सम्प्रदाय के अनुयायी गोविन्द राय नामक एक साधक का दक्षिणेश्वर में आगमन हुआ।

श्रीरामकृष्ण ने उनसे इस्लाम धर्म की दीक्षा ग्रहण की और तदनुसार साधना में निमग्न हो गये। तीन ही दिनों में उन्हें इस्लाम धर्म के अन्तिम ध्येय की प्राप्ति हुई। प्रथम उन्हें एक लम्बी दाढ़ीवाले गम्भीर, ज्योतिर्मय दिव्य पुरुष का दर्शन हुआ और फिर उनका मन अद्वैतभूमि में लीन हो गया।

इसके कुछ साल बाद श्रीरामकृष्ण के मन में ईसाई धर्म के गूढ़ मर्म को जानने की इच्छा हुई। एक दिन वे दक्षिणेश्वर काली मन्दिर के निकट स्थित यदु मल्लिक के बैठकखाने में गये हुए थे। वहाँ दीवार पर टँगी 'माता मेरी की गोद में विराजमान शिशु-ईसा' के चित्र की ओर देखते हुए वे भावाविष्ट हो गये और उस अवस्था में उन्होंने देखा वह चित्र मानो सजीव ज्योतिर्मय हो उठा तथा उसमें से दिव्य ज्योति निकलकर उनके शरीर में प्रविष्ट हो गयी। वे गम्भीर ध्यान में निमग्न हो गये और उन्हें कुछ अपूर्व दिव्य अनुभूतियाँ हुईं। तीन दिन तक वे इसी भाव में तल्लीन रहे। अन्तिम दिन भावविभोर हो पंचवटी में टहलते समय उन्हें ईसामसीह के दिव्य दर्शन हुए – ईसामसीह ने उनका आलिंगन किया और उनकी देह में विलीन हो गये।

श्रीरामकृष्ण ने बौद्ध, जैन, सिख धर्मों की साधना की थी या नहीं इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता परन्तु इन धर्मों पर उनकी श्रद्धा को देखकर ऐसा लगता कि अवश्य ही उन्हें इन धर्मों की भी अनुभूतियाँ प्राप्त हुई होंगी।

विभिन्न धर्ममार्गों की साधना द्वारा उसी एक चरम सत्य की उपलब्धि कर उन्होंने संसार के सन्मुख सर्वधर्मसमन्वय का आदर्श प्रतिष्ठित कर दिया।

निर्विकल्प समाधि में छह माह तक अवस्थान करने के पश्चात् कठिन उदर रोग के कारण उनका स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया था। इस कारण मथुरबाबू ने उन्हें कुछ दिनों के लिए कामारपुकुर भेज दिया। उनके भानजे और सेवक हृदयराम तथा भैरवी ब्राह्मणी भी उनके साथ गयीं।

लगभग सात वर्ष बाद श्रीरामकृष्ण को अपने बीच पाकर आत्मीय-स्वजन एवं ग्रामवासी बड़े आनन्दित हुए। जयरामवाटी में मनुष्य भेजकर सारदा को भी कामारपुकुर लिवा लाया गया। वस्तुतः सारदा का अपने पति के सान्निध्य में आने का यही प्रथम अवसर था। जयरामवाटी में रहते हुए वे

श्रीरामकृष्ण के 'पागलपन' के बारे में इतने दिन काफी अफवाहें सुनती आ रही थीं परन्तु कामारपुकुर आने के पश्चात् उनके मन का सब द्वन्द्व-संशय दूर हो गया। यथार्थ ब्रह्मदर्शन के बाद तो मन में स्त्री और पुरुष के भेद की कल्पना का लवलेश भी नहीं रह जाता; ब्रह्मदर्शी की दृष्टि में सब कुछ उसी एकमेव अद्वितीय अखण्ड एकरस ब्रह्म का ही प्रकाश हुआ करता है। श्रीरामकृष्ण ने इसी बोध से अपनी पत्नी को स्वीकार किया। वे अत्यन्त स्नेहपूर्वक सारदा को सामान्य व्यावहारिक आचरण से लेकर सर्वोच्च आध्यात्मिक ज्ञान तक की सभी बातों का उपदेश देते हुए उनके जीवन को सर्वांगसम्पूर्ण बनाने में सहायता देने लगे। श्रीरामकृष्ण की अपूर्व शिक्षाप्रणाली एवं उनके कामगन्धरहित दिव्य प्रेम के प्रभाव से सारदा बड़ी शीघ्रता से पारमार्थिक उन्नति के सोपान चढ़ती हुई निर्विकल्प समाधि के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ हो गयीं।

कामारपुकुर में छह-सात महीने रहकर सन् १८६७ के अक्तूबर-नवम्बर मास में श्रीरामकृष्ण दक्षिणेश्वर वापस आये तथा शीघ्र ही (१८६८ के जनवरी माह में) मथुरबाबू के अनुरोध से उनके दल के साथ तीर्थयात्रा करने निकले।

सब से पहले तीर्थयात्रियों की यह मण्डली वैद्यनाथजी के दर्शनार्थ गयी। वैद्यनाथ क्षेत्र के निकट एक छोटे गाँव में ग्रामवासियों की दीनहीन दशा देख श्रीरामकृष्ण का हृदय करुणा और सहानुभूति से विह्वल हो उठा और उन्होंने मथुरबाबू से कहकर उन सभी को एक दिन पेट भर भोजन कराया और हर एक को एक एक वस्त्र दिलाया।

वैद्यनाथ से होकर सब लोग काशीधाम पहुँचे। श्रीरामकृष्ण को भावावेश में शिवपुरी वाराणसी सुवर्णमयी प्रतीत हुई। काशीधाम में रहते हुए उन्हें अनेक दिव्य दर्शनादि हुए। इसी समय, काशीक्षेत्र में मरनेवाले जीव को विश्वनाथ किस प्रकार तारक-ब्रह्ममन्त्र सुनाते हुए मुक्त कर देते हैं इसका भी उन्हें दिव्य दर्शन हुआ। तत्पश्चात् उन्होंने प्रयाग एवं वृन्दावनधाम की यात्रा की। वृन्दावन में श्रीरामकृष्ण सदा भावावेश में रहते और उन्हें अनेक दिव्य दर्शनादि होते। इस प्रकार अपनी आध्यात्मिक शक्ति द्वारा इन तीर्थक्षेत्रों के तीर्थत्व को जागृत

कर वे १८६८ ई. के मई माह में दक्षिणेश्वर लौट आये।

काशी और वृन्दावन आदि के अतिरिक्त श्रीरामकृष्ण एक बार मथुरबाबू के साथ श्रीचैतन्यदेव के जन्मस्थान नवद्वीप भी गये थे एवं वहाँ उन्हें भावभूमि में श्रीचैतन्य एवं नित्यानन्द के दर्शन हुए थे।

सतत चौदह वर्ष तक श्रीरामकृष्ण की तन-मन-धन से सेवा करने के बाद (१६ जुलाई १८७१ ई. को) मथुरबाबू स्वर्गधाम सिधारे। इस समय श्रीरामकृष्ण ने भावसमाधि में देखा कि जगदम्बा की सखियाँ मथुरबाबू को बड़े आदर के साथ दिव्य रथ पर बिठा देवीलोक को ले गयीं।

इसके कुछ समय बाद (१८७२ मार्च) सारदा दक्षिणेश्वर आयीं। इस समय उनकी अवस्था साढ़े अठारह वर्ष की थी। संन्यासी और गृहस्थ दोनों के सम्मुख परिपूर्ण दिव्य जीवन का आदर्श प्रस्थापित करने के लिए ही श्रीरामकृष्ण का आगमन हुआ था। अत: उन्होंने पत्नी को अपने पास रखते हुए दिव्य दाम्पत्य जीवन का उज्ज्वल उदाहरण संसार के समक्ष प्रस्तुत किया।

देहबोधरहित आत्मिक विशुद्ध प्रेम की नींव पर प्रतिष्ठित यह दाम्पत्य जीवन वास्तव में अलौकिक और अपूर्व था। सारे संसार के आध्यात्मिक इतिहास में सम्भवत: अपने ढंग का यह अद्वितीय उदाहरण था। स्वस्थ, सबल एवं पूर्ण यौवनयुक्त श्रीरामकृष्ण एवं नवयौवनसम्पन्न सारदा लगातार आठ माह तक दिन-रात एक साथ रहे परन्तु दोनों के मन में क्षणमात्र के लिए भी देहबुद्धि का उदय नहीं हुआ। श्रीरामकृष्ण का मन सदा दिव्य भावभूमि में आरूढ़ रहता।

परम भोग्य वस्तु समझकर जिस स्त्री-शरीर का उपभोग करने के लिए लोग सदा लालायित रहते हैं उसी स्त्री-शरीर के स्पर्श की केवल कल्पना से श्रीरामकृष्ण का मन समाधिमग्न हो जाता। कभी कभी तो प्राय: सारी रात गम्भीर समाधि में बीत जाती। सारदा को उनके कानों में भगवत्-नामोच्चारण करते हुए प्रयत्नपूर्वक उनकी समाधि को भंग करना पड़ता।

१८७५ ई. के ज्येष्ठ मास की अमावस्या को, फलहारिणी कालीपूजा के दिन, रात्रि के समय श्रीरामकृष्ण ने अपने कमरे में सारदादेवी की षोडशी

के रूप में षोडशोपचारों से यथाविधि पूजा की। पूजन के समय पूजक और पूज्य – श्रीरामकृष्ण और सारदादेवी – दोनों समाधिमग्न हो गये। दोनों आत्मस्वरूप में मिलकर एक हो गये। रात्रि का द्वितीय प्रहर बीत जाने के बाद अर्धचेतन अवस्था में आकर श्रीरामकृष्ण ने सारदादेवी के चरणों में अपनी जपमाला के साथ सम्पूर्ण साधना का फल समर्पित करते हुए आत्मनिवेदन किया। यह षोडशीपूजा मानो श्रीरामकृष्ण की अलौकिक साधनालीला की परिसमाप्ति थी। उनके जीवन में लगातार बारह वर्षों से जो साधना-यज्ञ की प्रचण्ड अग्नि धधक रही थी वह मानो षोडशीपूजा-रूपी पूर्णाहुति पाकर शान्त हुई।

सन् १८७५ ई. में उनके मन में एक बार यह देखने की इच्छा जागृत हुई कि श्रीचैतन्यदेव का पावन नगर-संकीर्तन कैसा रहा होगा। जगदम्बा की कृपा से शीघ्र ही एक दिन उन्हें सहज स्थिति में ही दर्शन हुआ कि पंचवटी की ओर से निकलकर एक विराट् जनसमुदाय भजन करते हुए फाटक की ओर चला जा रहा है, जिसके मध्यभाग में श्रीचैतन्यदेव, नित्यानन्द आदि भावविभोर हो नृत्य कर रहे हैं। श्रीरामकृष्ण ने इस दर्शन में जिन जिन भक्तों को देखा था उनमें से अनेक भक्त बाद में श्रीरामकृष्ण के पास आए। इस अद्भुत दर्शन के पश्चात् श्रीरामकृष्ण कुछ दिन कामारपुकुर और शिउड़ (हृदयराम का जन्मस्थान) रह आये।

अब उनके जीवन का एक नया अध्याय आरम्भ हुआ। उनका अन्तर्निहित दिव्य भाव अब पूर्ण-विकसित हो चुका था। जगद्गुरु-पद पर प्रतिष्ठित हो अब वे जीवकल्याणकार्य में रत हुए। विभिन्न सम्प्रदायों एवं श्रेणियों के साधकों के भीतर यथार्थ सत्य को जागृत करते हुए वे उन्हें अपनी अभिनव उदार भावधारा से परिप्लावित करने लगे। इस समय उनका अनेक पाश्चात्यशिक्षासम्पन्न सुप्रसिद्ध व्यक्तियों से सम्बन्ध आया। ब्राह्मसमाज के केशवचन्द्र सेन, विजयकृष्ण गोस्वामी, शिवनाथ शास्त्री आदि नेताओं के सम्पर्क में आकर श्रीरामकृष्ण को बंगाल के शिक्षित समुदाय के मनोभावों से परिचित होने का अवसर मिला। इनके अलावा श्रीरामकृष्ण और भी कई

सुविख्यात व्यक्तियों से परिचित हुए, जिनमें पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, बंकिमचन्द्र चटर्जी, माइकेल मधुसूदन दत्त, पण्डित शशधर तर्कचूड़ामणि, कृष्णदास पाल, अश्विनीकुमार दत्त आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। उनके माध्यम से शिक्षित समाज को श्रीरामकृष्ण के अपूर्व जीवन और सन्देश की जानकारी प्राप्त हुई तथा लोग अधिकाधिक संख्या में उनके पास आते हुए आध्यात्मिक मार्गदर्शन पाने लगे।

इधर युगधर्मस्थापनारूपी अपने अवतरण के उद्देश्य को कार्यान्वित करने के लिए श्रीरामकृष्ण भी व्यग्र हो रहे थे। जिनके माध्यम से उनका अभिनव युगधर्म संसार भर में प्रचारित होनेवाला था, उन त्यागवैराग्यशील अन्तरंग-पार्षदों और शिष्यों के आगमन की प्रतीक्षा में वे अधीर हो रहे थे। १८७९ ई. से इस श्रेणी के भक्तों का आना शुरू हुआ। इन भक्तों को श्रीरामकृष्ण ने पहले ही अपने दिव्य दर्शनों में देख रखा था। केशवचन्द्र सेन द्वारा प्रकाशित समाचारपत्र से श्रीरामकृष्ण के विषय में जानकारी पाकर कलकत्ते से रामचन्द्र दत्त और मनोमोहन मित्र आये तथा श्रीरामकृष्ण के सान्निध्य में आकर वे मुग्ध हो गये। फिर वे अपने स्वजनों और मित्रों को भी श्रीरामकृष्ण के पास लाने लगे। इस प्रकार सुरेन्द्रनाथ मित्र आये, बलराम बसु आये, अमर-ग्रन्थ 'श्रीरामकृष्णकथामृत'* के प्रणेता महेन्द्रनाथ गुप्त आये। फिर दुर्गाचरण नाग, बंगाली रंगमंच के जनक गिरिशचन्द्र घोष आदि सैकड़ों निष्ठावान् भक्त आये। फिर उन पवित्र नवयुवकों का आगमन आरम्भ हुआ जिन्होंने कालान्तर में अपना सर्वस्व त्यागकर संन्यास व्रत ग्रहण किया तथा जो रामकृष्ण संघ के आधारस्तम्भ बने। इनमें सर्वप्रथम थे लाटू (अद्भुतानन्द)। फिर १८८१ ई. में राखालचन्द्र घोष (ब्रह्मानन्द) आये, जिन्हें श्रीरामकृष्ण ने अपने मानसपुत्र के रूप में देखा था। फिर गोपालचन्द्र घोष (अद्वैतानन्द) आये, ये उम्र में बड़े थे। क्रमशः नरेन्द्रनाथ दत्त (विवेकानन्द), तारकनाथ घोषाल (शिवानन्द), बाबूराम घोष (प्रेमानन्द), योगीन्द्रनाथ रायचौधरी (योगानन्द), शरत्चन्द्र चक्रवर्ती (सारदानन्द), शशिभूषण चक्रवर्ती (रामकृष्णानन्द), हरिनाथ चटर्जी (तुरीयानन्द), गंगाधर घटक

(अखण्डानन्द), हरिप्रसन्न चटर्जी (विज्ञानानन्द), कालीप्रसाद चन्द्र (अभेदानन्द), सुबोधचन्द्र घोष (सुबोधानन्द), सारदाप्रसन्न मित्र (त्रिगुणातीतानन्द) आदि अन्तरंग त्यागी भक्त आये। श्रीरामकृष्ण के निकट कई महिलाभक्तों का भी आगमन हुआ जिनमें योगीन-माँ, गोलाप-माँ, अघोरमणि देवी, गौरी-माँ आदि का नाम उल्लेखनीय है। इन सभी भक्तों ने श्रीरामकृष्णदेव के मार्गदर्शनानुसार त्याग, वैराग्य, तपस्या आदि के द्वारा सर्वोच्च आध्यात्मिक सत्य की उपलब्धि कर अपने जाज्वल्यमान जीवन द्वारा संसार का अशेष कल्याण साधित किया। श्रीसारदादेवी के सम्बन्ध में तो हम पहले ही कुछ परिचय पा चुके हैं। उनका जीवन श्रीरामकृष्ण के जीवन का एक परिपूरक पहलू था।

इन भक्तों के जीवन को गठित कर इन्हें युगधर्मप्रचार का योग्य माध्यम बनाने के लिए तथा साथ ही संसारताप से तप्त असंख्य जीवों का दुःख दूर करने के लिए श्रीरामकृष्ण ने अपनी आयु के अन्तिम छह वर्षों में मानो छह युग का कार्य सम्पादित किया। उनके उस छोटेसे कमरे में दिनभर भक्तों का ताँता लगा रहता। स्वयं के स्नान, भोजन, विश्राम आदि के लिए वे बड़ी मुश्किल से अवसर पाते। उनके निकट आकर अगणित मुमुक्षओं की आध्यात्मिक पिपासा शान्त होती; उनके कृपाहस्त के स्पर्श से जीवों का पाप-ताप, ग्लानि, मलिनता मिट जाती और उनके जीवन की गति बदल जाती। उनका वह छोटा-सा कमरा मानो आध्यात्मिक शक्ति का एक विशाल केन्द्र था। वहाँ सतत उच्च आध्यात्मिक भाव का दिव्य स्रोत प्रवाहित होता रहता जिसमें उपस्थित सभी व्यक्ति परिप्लावित होकर धन्य हो जाते।

इस प्रकार अविरत भावसमाधि एवं अगणित नर-नारियों को शान्तिदान, धर्मदान और मुक्तिदान के अतिश्रम के फलस्वरूप उनका स्वास्थ्य भग्न हो गया। १८८५ ई. के ग्रीष्म में उन्हें गले की बीमारी हुई जो शीघ्र ही असाध्य कैन्सर में परिणत हो गयी। चिकित्सा की सुविधा के लिए उन्हें प्रथम कलकत्ते के श्यामपुकुर नामक मुहल्ले में और फिर दो महीने बाद काशीपुर में लाया गया। प्रसिद्ध चिकित्सकों की औषधियों और युवक-भक्तों

की अक्लान्त सेवाशुश्रूषा के बावजूद रोग बढ़ता गया। परन्तु जीवों के उद्धार के लिए ही जिन्होंने देहधारण किया था वे भला कष्ट की परवाह क्यों करने लगे? इस अवस्था में भी उनकी भाव-समाधि, उपदेशदान आदि का क्रम जारी ही रहा। जीवों पर वे मानो शतधारा से कृपा बरसा रहे थे। काशीपुर के इस मकान में उन्होंने असंख्य नरनारियों को अभयदान देते हुए अमृतत्व का सन्धान दिया; इसी मकान में उन्होंने नरेन्द्र आदि ग्यारह त्यागी भक्तों को गेरुआ वस्त्र प्रदान कर आडम्बररहित रूप से रामकृष्ण-संघ की स्थापना की; यहीं पर उन्होंने नरेन्द्रनाथ को विशेष रूप से शिक्षा देते हुए उन पर संघ के नेतृत्व का भार सौंपा।

अवतारकार्य को पूर्ण होता देख अब श्रीरामकृष्ण लीलासंवरण के लिए प्रस्तुत हो गये। रविवार, १५ अगस्त १८८६ की रात्रि के एक बजने के कुछ देर बाद भगवन्नाम का उच्चारण कर वे समाधिमग्न हो गये। यही समाधि महासमाधि में परिणत हुई।

— अनुवादक

खण्ड १

जीव तथा संसार

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।

– मेरा ही सनातन अंश जीवलोक में जीव बनकर प्रकृति में स्थित मनसहित पंचेन्द्रियों को आकर्षित करता है।

(गीता, १५-७)

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।।

– काम, क्रोध तथा लोभ ये तीन आत्मा का विनाश करनेवाले, नरक के तीन द्वार हैं। इसलिए इन तीनों को त्याग देना चाहिए।

(गीता, १६-२१)

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्।।

– हे अर्जुन! इन तीन तमोमय द्वारों से मुक्त होकर मनुष्य अपने कल्याण के लिए उपयुक्त आचरण कर परमगति को प्राप्त होता है।

(गीता, १६-२२)

अध्याय १

जीव

जीवन का उद्देश्य

१. तुम रात को आकाश में कितने तारे देखते हो, परन्तु सूरज उगने के बाद उन्हें देख नहीं पाते। किन्तु इस कारण क्या तुम यह कह सकोगे कि दिन में आकाश में तारे नहीं होते! हे मानव, अज्ञान-अवस्था में तुम्हें ईश्वर के दर्शन नहीं होते इसलिए ऐसा न कहो कि ईश्वर हैं ही नहीं।

२. इस दुर्लभ मनुष्य-जन्म को पाकर जो इसी जीवन में ईश्वरलाभ के लिए चेष्टा नहीं करता, उसका जन्म लेना ही व्यर्थ है।

३. जैसी जिसकी भावना होगी वैसा ही उसे लाभ होगा। भगवान् मानो कल्पवृक्ष हैं। उनसे जो, जो माँगता है, उसे वही प्राप्त होता है। गरीब का लड़का पढ़-लिखकर तथा कड़ी मेहनत कर हाईकोर्ट का जज बन जाता है और मन ही मन सोचता है, 'अब मैं मजे में हूँ। मैं उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर आ पहुँचा हूँ। अब मुझे बहुत आनन्द है।' भगवान् भी तब कहते हैं, 'तुम मजे में ही रहो।' किन्तु जब वह हाईकोर्ट का जज सेवानिवृत्त होकर पेन्शन लेते हुए अपने विगत जीवन की ओर देखता है तो उसे लगता है कि उसने अपना सारा जीवन व्यर्थ ही गुजार दिया। तब वह कहता है, 'हाय, इस जीवन में मैंने कौनसा उल्लेखनीय काम किया?' भगवान् भी तब कहते हैं, 'ठीक ही तो, तुमने किया ही क्या!'

४. संसार में मनुष्य दो तरह की प्रवृत्तियाँ लेकर जन्मता है → विद्या और अविद्या। विद्या मुक्तिपथ पर ले जानेवाली प्रवृत्ति है और अविद्या संसार-

बन्धन में डालनेवाली। मनुष्य के जन्म के समय ये दोनों प्रवृत्तियाँ मानो खाली तराजू के पल्लों की तरह समतोल स्थिति में रहती हैं। परन्तु शीघ्र ही मानो मनरूपी तराजू के एक पल्ले में संसार के भोग-सुखों का आकर्षण तथा दूसरे में भगवान् का आकर्षण स्थापित हो जाता है। यदि मन में संसार का आकर्षण अधिक हो तो अविद्या का पल्ला भारी होकर झुक जाता है और मनुष्य संसार में डूब जाता है; परन्तु यदि मन में भगवान् के प्रति अधिक आकर्षण हो तो विद्या का पल्ला भारी हो जाता है और मनुष्य भगवान् की ओर खिंचता चला जाता है।

५. उस 'एक' ईश्वर को जानो; उसे जानने से तुम सभी कुछ जान जाओगे। 'एक' के बाद शून्य लगाते हुए सैकड़ों और हजारों की संख्या प्राप्त होती है, परन्तु 'एक' को मिटा डालने पर शून्यों का कोई मूल्य नहीं होता। 'एक' ही के कारण शून्यों का मूल्य है। पहले 'एक', बाद में 'बहु'। पहले ईश्वर, फिर जीव-जगत्।

६. पहले ईश्वरलाभ करो, फिर धन कमाना; इसके विपरीत पहले धनलाभ करने की कोशिश मत करो। यदि तुम भगवत्प्राप्ति कर लेने के बाद संसार में प्रवेश करो तो तुम्हारे मन की शान्ति कभी नष्ट नहीं होगी।

७. तुम समाज-सुधार करना चाहते हो? ठीक है, यह तुम भगवत्प्राप्ति करने के बाद भी कर सकोगे। स्मरण रखो कि भगवान् को प्राप्त करने के लिए प्राचीनकाल के ऋषियों ने संसार को त्याग दिया था। भगवत्प्राप्ति ही सब से अधिक आवश्यक वस्तु है। यदि तुम चाहो तो तुम्हें अन्य सभी वस्तुएँ मिल जाएँगी। पहले भगवत्प्राप्ति कर लो, फिर भाषण, समाज-सुधार आदि की सोचना।

८. मुसाफिर को नये शहर में पहुँचकर पहले रात बिताने के लिए किसी सुरक्षित डेरे का बन्दोबस्त कर लेना चाहिए। डेरे में अपना सामान रखकर वह निश्चिन्त होकर शहर देखते हुए घूम सकता है। परन्तु यदि रहने का बन्दोबस्त न हो तो रात के समय अँधेरे में विश्राम के लिए जगह खोजने में उसे बहुत तकलीफ उठानी पड़ती है। उसी प्रकार, इस संसाररूपी विदेश

में आकर मनुष्य को पहले ईश्वररूपी चिर-विश्रामधाम प्राप्त कर लेना चाहिए, फिर वह निर्भय होकर अपने नित्य कर्तव्यों को करते हुए संसार में भ्रमण कर सकता है। किन्तु यदि ऐसा न हो तो जब मृत्यु की घोर अन्धकारपूर्ण भयंकर रात्रि आएगी तब उसे अत्यन्त क्लेश और दुःख भोगना पड़ेगा।

९. बड़े-बड़े गोदामों में चूहों को पकड़ने के लिए दरवाजे के पास चूहादानी रखकर उसमें लाही-मुरमुरे रख दिए जाते हैं। उसकी सोंधी-सोंधी महक से आकृष्ट हो चूहे गोदाम में रखे हुए कीमती चावल का स्वाद चखने की बात भूल जाते हैं और लाही खाने जाकर चूहादानी में फँसकर मारे जाते हैं। जीव का भी ठीक यही हाल है। कोटि-कोटि विषयसुखों के घनीभूत समष्टिस्वरूप ब्रह्मानन्द के द्वारदेश पर अवस्थित होते हुए भी जीव उस आनन्द को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न न कर संसार के क्षुद्र विषयसुखों में लुब्ध हो माया के फन्दे में फँसकर मारा जाता है।

१०. एक पण्डित ने पूछा – "थिओसाफीवाले कहते हैं कि 'महात्माओं' का अस्तित्व है। सूर्यलोक, चन्द्रलोक, नक्षत्रलोक, देवयान आदि विभिन्न लोक और स्तर सत्य हैं और मनुष्य का सूक्ष्म शरीर इन सब स्थानों में जा सकता है। वे लोग इस तरह की अनेक बातें बताते हैं। अच्छा महाराज, थिओसाफी के बारे में आपका क्या मत है?"

श्रीरामकृष्ण ने कहा – "भक्ति ही एक मात्र सार वस्तु है, – ईश्वर के प्रति भक्ति। क्या वे लोग भक्ति के लिए प्रयत्न करते हैं? अगर ऐसा हो, तो ठीक है। अगर उनका उद्देश्य, ईश्वर का साक्षात्कार करना हो तो अच्छा है। लेकिन याद रखो कि सूर्यलोक, चन्द्रलोक, नक्षत्रलोक आदि तुच्छ विषयों में डूबे रहना ईश्वर की खोज का सही रास्ता नहीं है। उनके चरणकमलों में भक्ति होने के लिए साधना करनी पड़ती है, अत्यन्त व्याकुल हृदय से रोते हुए उन्हें पुकारना पड़ता है। विभिन्न वस्तुओं में बिखरे हुए मन को खींच लाकर पूरी तरह से ईश्वर में ही लगाना पड़ता है। चाहे वेद कहो, चाहे वेदान्त कहो, चाहे और कोई शास्त्र – ईश्वर किसी में नहीं हैं। उनके लिए प्राणों के व्याकुल हुए बिना कहीं कुछ नहीं होगा। खूब भक्ति के साथ व्याकुल

होकर उनकी प्रार्थना करनी चाहिए, साधना करनी चाहिए। ईश्वरलाभ इतना आसान नहीं है, उसके लिए खूब साधना चाहिए।''

११. क्या सभी लोग भगवान् के दर्शन पा सकेंगे? किसी को भी दिन भर भूखा नहीं रहना पड़ता। किसी को सबेरे नौ बजे, किसी को दोपहर के दो बजे, तो किसी को शाम के वक्त भोजन मिल जाता है। उसी प्रकार, जन्म-जन्मान्तर में किसी न किसी समय, इसी जन्म में या अनेक जन्मों के बाद, सभी को भगवान् के दर्शन प्राप्त होंगे।

१२. छोटा बच्चा घर में अकेले ही बैठे-बैठे खिलौने लेकर मनमाने खेल खेलता रहता है, उसके मन में कोई भय या चिन्ता नहीं होती। किन्तु जैसे ही उसकी माँ वहाँ आ जाती है वैसे ही वह सारे खिलौने छोड़कर 'माँ, माँ' कहते हुए उसकी ओर दौड़ जाता है। तुम लोग भी इस समय धन-मान-यश के खिलौने लेकर संसार में निश्चिन्त होकर सुख से खेल रहे हो, कोई भय या चिन्ता नहीं है। पर यदि तुम एक बार भी उस आनन्दमयी माँ को देख पाओ तो फिर तुम्हें धन-मान-यश नहीं भाएँगे, तब तुम सब फेंककर उन्हीं की ओर दौड़ जाओगे।

१३. रत्नाकर (समुद्र) में अनेक रत्न हैं, पर उन्हें पाने के लिए तुम्हें कठिन परिश्रम करना होगा। यदि एक ही डुबकी में तुम्हे रत्न न मिले तो समुद्र को रत्न से रहित मत समझ बैठो। बार-बार डुबकी लगाओ, डुबकी लगाते लगाते अन्त में तुम्हें रत्न जरूर मिलेगा। उसी प्रकार भगवत्प्राप्ति के पथ में यदि तुम्हारे शुरू-शुरू के प्रयत्न असफल सिद्ध हों, यदि थोड़ी साधना कर तुम्हें ईश्वर के दर्शन न हों, तो हताश न होओ, धीरज के साथ साधना करते रहो। अन्त में, ठीक समय पर, तुम्हें उनके दर्शन अवश्य होंगे।

१४. चैतन्यस्वरूप, आनन्दस्वरूप ईश्वर का ध्यान करो, तुम्हें आनन्द प्राप्त होगा। यह आनन्द वास्तव में नित्य ही विद्यमान है, किन्तु अज्ञान के द्वारा आच्छन्न होकर वह मानो लुप्त हो गया है। इन्द्रिय-भोग्य विषयों के प्रति तुम्हारा आकर्षण जितना कम होगा, ईश्वर के प्रति तुम्हारा अनुराग उतना ही अधिक बढ़ेगा।

१५. केवल धनसंचय कर कोई धनी नहीं होता। ठीक-ठीक धनी का लक्षण यह है कि उसके घर में हरएक कमरे में दीया जलता है। गरीब आदमी इतना तेल खर्च नहीं कर पाता, इसलिए वह इतने दीयों का प्रबन्ध नहीं कर सकता है। देह-मन्दिर को भी अँधेरे में नहीं रखना चाहिए, उसमें ज्ञान का दीप जलाना चाहिए। "ज्ञान-प्रदीप जला निज घर में, ब्रह्ममयी का मुख देखो न!" हरएक व्यक्ति ज्ञानलाभ कर सकता है। हरएक जीवात्मा का परमात्मा के साथ संयोग है। हरएक घर में गैस की नली होती है जिसके द्वारा गैस कम्पनी से गैस आ सकता है। बस, योग्य अधिकारी को अर्जी भेजो, गैस भिजवाने का प्रबन्ध हो जाएगा और तुम्हारे घर में गैसबत्ती जलने लग जाएगी।

जीव का सच्चा स्वरूप

१६. संख्या 'एक' के बाद शून्य लगाते हुए चाहे जितनी बड़ी संख्या पाई जा सकती है; पर यदि उस 'एक' को मिटा दिया जाए तो शून्यों का कोई मूल्य नहीं होता। उसी प्रकार, जब तक जीव उस एक-स्वरूप ईश्वर के साथ युक्त नहीं होता तब तक उसकी कोई कीमत नहीं होती; कारण, जगत् में सभी वस्तुओं को ईश्वर के सहित सम्बन्ध होने पर ही मूल्य प्राप्त होता है। जब तक जीव जगत् के पीछे अवस्थित उस मूल्य प्रदान करनेवाले ईश्वर के साथ संयुक्त रहकर उन्हीं के लिए कार्य करता है, तब तक उसे अधिकाधिक श्रेय प्राप्त होता रहता है; लेकिन इसके विपरीत जब वह ईश्वर की उपेक्षा करते हुए अपने स्वयं के गौरव के लिए बड़े-बड़े कार्य सिद्ध करने में भिड़ जाता है, तब उसे कोई लाभ नहीं मिलता।

१७. जिस प्रकार तेल न हो तो दीप नहीं जल सकता, उसी प्रकार ईश्वर न हों तो मनुष्य जी नहीं सकता।

१८. ईश्वर और जीव का बहुत ही निकट का सम्बन्ध है – जैसे लोहे और चुम्बक का। किन्तु ईश्वर जीव को आकर्षित क्यों नहीं करता? जैसे लोहे पर बहुत अधिक कीचड़ लिपटा हो तो वह चुम्बक के द्वारा आकर्षित

नहीं होता, वैसे ही जीव मायारूपी कीचड़ में अत्यधिक लिपटा हो तो उस पर ईश्वर के आकर्षण का असर नहीं होता। फिर जिस प्रकार कीचड़ को जल से धो डालने पर लोहा चुम्बक की ओर खिंचने लगता है, उसी प्रकार जब जीव अविरत प्रार्थना और पश्चाताप के आँसुओं से इस संसारबन्धन में डालनेवाली माया के पंक को धो डालता है तब वह तेजी से ईश्वर की ओर खिंचता जाता है।

१९. जीवात्मा और परमात्मा का योग किस प्रकार का होता है? यह वैसा ही है जैसे घड़ी का छोटा काँटा और बड़ा काँटा। दोनों घण्टे में एक बार मिलकर एक हो जाते हैं। जीवात्मा और परमात्मा दोनों परस्पर-सम्बद्ध तथा अन्योन्य-आश्रित हैं। यद्यपि साधारणतया दोनों वियुक्त प्रतीत होते हैं तथापि अनुकूल अवस्था के प्राप्त होते ही वे युक्त होकर एक हो जाते हैं।

२०. मायापाश में बद्ध आत्मा 'जीव' है, पाशमुक्त आत्मा ही 'शिव' (ईश्वर) है।

२१. जीवात्मा और परमात्मा का सम्बन्ध किस प्रकार का है? जिस प्रकार जलप्रवाह में एक पटिया अड़ा देने से जल के दो भाग हो जाते हैं, उसी प्रकार एक अखण्ड परमात्मा माया की उपाधि के कारण जीवात्मा और परमात्मा के रूप में द्विधा-विभक्त हुआ-सा प्रतीत होता है।

२२. पानी और बुलबुला वस्तुत: एक ही हैं। बुलबुला पानी में ही उत्पन्न होता है, पानी में ही रहता है और अन्त में पानी में ही समा जाता है। उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा वस्तुत: एक ही हैं। उनमें अन्तर केवल उपाधि के तारतम्य का है – एक सान्त-सीमित है तो दूसरा अनन्त-असीम; एक आश्रित है तो दूसरा स्वतन्त्र।

२३. जीव के अस्तित्व की कल्पना वैसी ही है जैसे कोई गंगा का कुछ भाग घेर ले और कहे कि यह हमारी निजी गंगा है।

२४. पारे के सरोवर में यदि एक सीसे का टुकड़ा छोड़ दिया जाए तो वह भी पारा बन जाता है। उसी प्रकार, ब्रह्मसागर में मग्न होकर जीव अपने सीमित अस्तित्व को खोकर ब्रह्मरूप हो जाता है।

२५. ईश्वर अनन्त हैं और जीव सान्त। भला सान्त जीव अनन्त ईश्वर की धारणा कैसे कर सकता है? यह तो मानो नमक की गुड़िया का समुद्र की गहराई नापने का-सा प्रयास है। नमक की गुड़िया समुद्र की गहराई की थाह लेने ज्यों ही पानी में उतरी त्योंही घुलकर विलीन हो गई। उसी प्रकार, जीव भी ईश्वर की थाह लेने, उन्हें जानने जाकर अपना पृथक् अस्तित्व खो बैठता है तथा ईश्वर के साथ एकरूप हो जाता है।

२६. ईश्वर स्वयं ही मनुष्य के रूप में लीला करते हैं। वे बड़े जादूगर हैं – यह जीव-जगत्-रूपी इन्द्रजाल उन्हीं के जादू का खेल है। केवल जादूगर ही सत्य है और जादू मिथ्या।

२७. मनुष्य की देह मानो एक हाँड़ी है और मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ मानो पानी, चावल और आलू। हाँड़ी में पानी, चावल और आलू छोड़कर उसे आग पर रख देने से वे तप्त हो जाते हैं और कोई अगर उन्हें हाथ लगाए तो उसका हाथ जल जाता है। वास्तव में जलाने की शक्ति हाँड़ी, पानी, चावल या आलू में से किसी में नहीं है, वह तो उस आग में है; फिर भी उनसे हाथ जलता है। इसी प्रकार मनुष्य के भीतर विद्यमान रहनेवाली ब्रह्मशक्ति के कारण ही मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ कार्य करती हैं, और जैसे ही इस ब्रह्मशक्ति का अभाव हो जाता है वैसे ही ये मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं।

जीव तथा बन्धन

२८. जीव वास्तव में सच्चिदानन्द-स्वरूप है, किन्तु अहंभाव के कारण वह विभिन्न उपाधियों में उलझकर अपने यथार्थ स्वरूप को भूल बैठा है।

२९. एक-एक उपाधि आती है और जीव का स्वभाव बदल जाता है। किसी ने शौकीनों की तरह काली धारीदार धोती पहनी कि देखना उसके मुँह से निधुबाबू* के प्रेमगीतों की धुन अपने आप निकल पड़ती है। बूट-जूता चढ़ाते ही दुबला-पतला आदमी भी फूलकर कुप्पा हो जाता है; मुँह से सीटी बजाने लगता है, सीढियाँ चढ़नी हों तो साहबों की तरह उछल-

* ये बँगला में टप्पा गीतों की रचना के लिए विख्यात थे।

उछलकर चढ़ता है! मनुष्य के हाथ में यदि कलम रहे तो उसका गुण ही ऐसा है कि सामने चाहे जैसा भी कागज का टुकड़ा क्यों न पड़ जाए, वह उसी पर कलम घिसने लग जाता है।

३०. जिस प्रकार साँप अपनी केंचुली से अलग होता है, उसी प्रकार आत्मा भी देह से अलग होती है।

३१. आत्मा निर्लिप्त है। सुख-दुःख, पाप-पुण्य आदि देह पर ही परिणामकारक होते हैं, आत्मा पर उनका कोई परिणाम नहीं होता। जैसे धुआँ सिर्फ दीवारों को ही काला करता है, दीवारों के बीच अवस्थित आकाश पर उसका कोई परिणाम नहीं होता।

३२. वेदान्तवादी कहते हैं कि आत्मा पूर्ण निर्लिप्त है। सुख-दुःख, पाप-पुण्य आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते; किन्तु वे देहाभिमानी व्यक्तियों को क्लेश दे सकते हैं। जिस प्रकार, धुआँ दीवार को काला कर सकता है, पर आकाश को कुछ नहीं कर सकता।

३३. सत्त्व, रज और तम के तारतम्य से मनुष्य भिन्न-भिन्न स्वभाव के होते हैं।

३४. वस्तुतः सभी जीवों का यथार्थ स्वरूप एक ही है, किन्तु अवस्थाभेद के अनुसार वे चार दर्जे के होते हैं – बद्ध, मुमुक्षु, मुक्त और नित्यमुक्त।

३५. किसी मछुए ने नदी में जाल डाला। जाल में बहुतसी मछलियाँ फँसीं। कुछ मछलियाँ तो जाल में पड़कर एकदम शान्त, निश्चेष्ट पड़ी रहीं – उन्होंने बाहर निकलने की बिलकुल कोशिश नहीं की; कुछ ने भागने की बहुत कोशिश की, काफी उछल-कूद मचाई किन्तु वे भाग न पाईं; और कुछ किसी तरह कूद-फाँदकर भाग निकलीं। इसी प्रकार संसार में भी तीन प्रकार के जीव होते हैं – बद्ध जीव, जो कभी मुक्त होने का प्रयत्न नहीं करते; मुमुक्षु जीव, जो बन्धन में होते हुए भी मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं; और मुक्त जीव, जिन्होंने मुक्ति प्राप्त कर ली है।

३६. तीन गुड़ियाँ हैं – एक नमक की, एक कपड़े की और एक

पत्थर की। यदि इन तीनों को समुद्र में डुबो दिया जाए तो पहली बिलकुल घुल जाएगी, उसके आकार का अस्तित्व ही नहीं रहेगा; दूसरी बहुतसा पानी सोख लेगी, किन्तु उसका आकार पूरा नष्ट नहीं होगा; और तीसरी पर पानी का कोई असर नहीं होगा। नमक की गुड़िया मानो मुक्त जीव की प्रतीक है जो अपने अस्तित्व को विराट् सर्वव्यापी ब्रह्म के अस्तित्व में लीन कर उसके साथ एकरूप हो जाता है; कपड़े की गुड़िया मानो सच्चे भक्त की प्रतीक है, जो ईश्वरीय आनन्द और ज्ञान से पूर्ण रहता है; और पत्थर की गुड़िया मानो बद्ध संसारी जीव की प्रतीक है, जो यथार्थ ज्ञान का एक कणमात्र भी आत्मसात् नहीं करता।

३७. मनुष्य मानो तकिए के गिलाफ जैसे हैं। ऊपर से देखने में कोई गिलाफ लाल, कोई नीला, तो कोई काला होता है, परन्तु सभी के भीतर एक ही रुई है। उसी प्रकार, कोई मनुष्य देखने में सुन्दर है, तो कोई काला, कोई सज्जन है तो कोई दुष्ट, किन्तु सब के भीतर एक ही परमात्मा विराजमान हैं।

३८. सभी गुझियाँ ऊपर से एक ही मैदे की बनी होती हैं, पर उनके भीतर अलग-अलग किस्म की पीठी होती है – किसी के भीतर नारियल की, तो किसी में खोए की। पीठी के भेद से गुझियों के प्रकार भिन्न हो जाते हैं। उसी प्रकार सभी मनुष्य एक ही उपादान से निर्मित होते हुए भी अन्तःकरण की पवित्रता के तारतम्य से गुण में भिन्न हो जाते हैं।

३९. यद्यपि ब्राह्मण के घर जन्म लेने से सभी ब्राह्मण होते हैं, तथापि उनमें कोई बड़े पण्डित बनते हैं, तो कोई पुजारी होते हैं, कोई रसोई बनाते हैं तो कोई वेश्याओं के दरवाजों पर लोटते रहते हैं।

४०. यह ठीक है कि बाघ के भीतर भी परमेश्वर विद्यमान हैं, पर इस कारण उसके सामने नहीं चले जाना चाहिए। उसी प्रकार यद्यपि अत्यन्त दुर्जन व्यक्तियों के भीतर भी ईश्वर विराजमान हैं, तथापि उनकी संगति करना उचित नहीं।

४१. यह सत्य है कि सभी जल नारायणस्वरूप है, किन्तु सभी प्रकार

का जल पीने लायक नहीं होता। उसी प्रकार, यह सत्य है कि सभी जगह ईश्वर का वास है, फिर भी सभी स्थान जाने योग्य नहीं होते। किसी जल में सिर्फ पैर धोए जा सकते हैं, किसी में मुँह धोया जा सकता है, कोई जल पिया जा सकता है, तो कोई स्पर्श तक नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार, किसी स्थान में ठहरा जा सकता है, कहीं देखने भर के लिए जाया जा सकता है, और किसी-किसी स्थान को तो दूर से ही दण्डवत् करके भाग जाना पड़ता है।

४२. जो आदमी बहुत ज्यादा बड़बड़ करता है, जो सब बातें पेट में ही छिपा रखता है, जो कान में तुलसीपत्र लगाकर धार्मिकता का ढोंग रचता है, जो औरत बहुत लम्बा घूँघट काढ़ती है, और जिस तालाब में काई छा गई हो उसका ठण्डा जल, ये सब बहुत हानिकारक होते हैं। इनसे सावधान रहना चाहिए।

मृत्यु तथा पुनर्जन्म

४३. संसारासक्त बद्धजीव मृत्यु के समय भी संसार की ही बातें करता है। बाहर माला जपने, गंगा नहाने और तीर्थयात्रा करने से क्या होगा? भीतर संसार के प्रति आसक्ति हो तो मृत्यु के समय वह अवश्य प्रकट होती है। इसी कारण बद्ध जीव उस समय कितनी ही आलतू-फालतू बातें बकता रहता है। तोता वैसे तो 'राधाकृष्ण' रटता है, पर जब बिल्ली पकड़ती है तो अपनी स्वाभाविक बोली में 'टें टें' कर चिल्लाने लगता है।

४४. ईश्वर में भक्ति-विश्वास नहीं है, इसीलिए तो जीव को इतना कर्मभोग भोगना पड़ता है। जिससे देह त्यागते समय मन में ईश्वर का चिन्तन चले, इसके लिए पहले से ही उपाय करना चाहिए। वह उपाय है अभ्यास-योग। यदि जीवन भर ईश्वर-चिन्तन का अभ्यास किया जाए तो अन्त समय में भी मन में ईश्वर का ही विचार आएगा।

४५. ठीक मृत्यु के समय मनुष्य जो कुछ सोचता है उसी के अनुसार उसका अगला जन्म होता है; इसीलिए साधना की अत्यन्त आवश्यकता है।

निरन्तर अभ्यास करते हुए जब मन सब तरह की सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है तो उसमें सब समय केवल ईश्वर का ही चिन्तन होने लगता है, फिर तो मृत्यु के समय भी वह नहीं छूटता।

४६. अगर कच्ची मिट्टी की हाँड़ी फूट जाए तो कुम्हार उस मिट्टी से फिर नई हाँड़ी बना सकता है, किन्तु पकी हुई हाँडी के फूट जाने पर ऐसा नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार, अज्ञान-अवस्था में मृत्यु होने से मनुष्य को फिर जन्म लेना पड़ता है, किन्तु ज्ञानाग्नि में अच्छी तरह पक जाने के बाद यदि मृत्यु हो तो उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

४७. सिद्ध (भुना हुआ) धान बोने से अंकुर नहीं निकलता, असिद्ध (बिना भुने) धान से ही अंकुर आते हैं। इसी प्रकार 'सिद्ध' होकर मरने से मनुष्य को फिर जन्म नहीं लेना पड़ता, परन्तु यदि वह 'असिद्ध' अवस्था में मरे तो उसे बार-बार जन्म लेना पड़ता है।

□□□

अध्याय २

माया

ब्रह्मशक्ति माया

४८. माया और ब्रह्म मानो चलता हुआ साँप और स्थिर पड़ा हुआ साँप हैं। अर्थात् शक्ति क्रियाशील अवस्था में माया है और निष्क्रिय अवस्था में ब्रह्म।

४९. जैसे समुद्र का जल कभी स्थिर होता है तो कभी तरंगपूर्ण, वैसे ही ब्रह्म और माया हैं। शान्त समुद्र मानो ब्रह्म है, और तरंगायित अवस्था में माया।

५०. ब्रह्म और उसकी शक्ति मानो अग्नि और उसकी दाहक शक्ति के समान हैं।

५१. सृष्टि के लिए शिव तथा शक्ति दोनों की आवश्यकता है। कुम्हार सूखी मिट्टी से घड़ा नहीं बना सकता, पानी भी चाहिए। इसी प्रकार शक्ति की सहायता के बिना केवल शिव के द्वारा सृष्टि नहीं हो सकती।

५२. माया को देखने की इच्छा से प्रार्थना करते हुए एक दिन मुझे इस प्रकार का दर्शन हुआ :– एक छोटासा बिन्दु धीरे-धीरे बढ़ते हुए एक बालिका के रूप में परिणत हुआ; बालिका क्रमश: बड़ी हुई और उसके गर्भ हुआ; फिर उसने एक बच्चे को जन्म दिया और साथ ही साथ उसे निगल गई। इस प्रकार उसके गर्भ से अनेक बच्चे जन्मते गए और वह उन सब को निगलती गई। तब मेरी समझ में आया कि यही माया है।

५३. साँप के दाँतो में विष है, लेकिन उस पर विष का असर नहीं

होता; किन्तु जब वह दूसरे को काट खाता है तो उस व्यक्ति पर विष चढ़ जाता है। इसी प्रकार, भगवान् में माया है तो अवश्य, पर वह उन्हें मुग्ध नहीं कर सकती, किन्तु सारे संसार को मुग्ध कर लेती है।

अविद्या-माया

५४. एक बार दक्षिणेश्वर मन्दिर के नौबतखाने में एक साधु आकर कुछ दिन रहे थे। वे किसी से बातचीत न कर सदा ध्यानधारणा में ही डूबे रहते। एक दिन अचानक बादल उठे और चारों ओर अँधेरा छा गया; फिर थोड़ी ही देर में जोरदार आँधी-सी चली और बादलों को उड़ा ले गई। यह देख वे साधु कमरे से बाहर निकलकर बरामदे में खूब हँसने और नाचने लगे। उनकी यह अवस्था देख श्रीरामकृष्णदेव ने उनसे पूछा, ''तुम तो हमेशा कमरे के अन्दर चुपचाप बैठे रहते हो, आज इतना नाच-नाचकर आनन्द कैसे मना रहे हो?'' साधु ने कहा, ''संसार की माया ऐसी ही है – पहले तो उसका कोई नामों-निशान तक नहीं था, पर एकाएक ब्रह्मरूपी शान्त आकाश में प्रकट हो उसने इस जगत्-प्रपंच का सर्जन कर डाला; फिर ब्रह्म के निःश्वास मात्र से वह जाने कहाँ ओझल भी हो गई।''

५५. राम, सीता और लक्ष्मण वनवास के लिए निकले। आगे-आगे राम चले, बीच में सीता और पीछे-पीछे लक्ष्मण। राम का सदा पूर्ण दर्शन पाने के लिए लक्ष्मण व्याकुल थे पर बीच में सीता के होने के कारण यह सम्भव न था। तब लक्ष्मण ने सीता से प्रार्थना की कि वे तनिक बाजू हट जाएँ; सीता के थोड़ा बाजू हटते ही लक्ष्मण की इच्छा पूरी हुई – उन्हें राम के दर्शन हुए। यही हाल ब्रह्म, माया और जीव का भी है। जब तक माया हट न जाए तब तक जीव ब्रह्म के दर्शन नहीं पा सकता।

५६. एक साधु हाथ में काँच की नली का एक टुकड़ा लिए दिन-रात उसकी ओर ताकते और हँसते जाते थे। जिस प्रकार उस काँच के भीतर से लाल, नीले, पीले आदि कई रंग दिखाई देते हैं पर वे सभी मिथ्या हैं, उसी प्रकार यह संसार सत्य प्रतीत होता है पर है मिथ्या ही – यही सोचकर

वे हँसा करते थे।

५७. हरि जब सिंह का मुखौटा लगा लेता है तो सचमुच बड़ा डरावना दिखने लगता है। वह अपनी खेलती हुई छोटी बहन के पास जाकर सिंह की-सी आवाज करते हुए उसे डराने लगता है तो वह बच्ची चौंककर मारे डर के चीखती हुई भागने लगती है। लेकिन जब हरि वह मुखौटा हटा लेता है तो तुरन्त वह घबड़ाई हुई बच्ची अपने प्यारे भाई को पहचानकर उसकी ओर चिल्लाती हुई दौड़ पड़ती है – "अरे, ये तो भैय्या है!" मनुष्यों का भी यही हाल है। माया के आवरण में ब्रह्म ही छिपा हुआ है, फिर भी माया की शक्ति से लोग मुग्ध और भयभीत होकर कितनी ही चीजें करने को विवश हो जाते हैं। लेकिन जब ब्रह्म के स्वरूप पर से यह माया का परदा हट जाता है तब वह भयंकर, कठोर शासक के रूप में प्रतीत नहीं होता – तब तो अपनी ही प्रियतम अन्तरात्मा के रूप में उसका अनुभव होता है।

५८. ईश्वर यदि सर्वत्र विराजमान हैं तो हम उन्हें देख क्यों नहीं पाते? काई से ढके तालाब के किनारे खड़े होकर देखने पर तुम्हें उसमें पानी नहीं दिखाई देगा। अगर तुम पानी देखना चाहते हो तो तालाब पर से काई हटा दो। माया के परदे से ढकी हुई आँखों से देखकर तुम लोग कहते हो कि हमें ईश्वर क्यों नहीं दिखाई देते। अगर तुम ईश्वर को देखना ही चाहते हो तो आँखों पर से माया का परदा हटा डालो।

५९. जिस प्रकार बादल सूरज को ढक देता है, उसी प्रकार माया ने ईश्वर को ढक रखा है। बादल के हट जाते ही सूरज दीखने लगता है, वैसै ही माया के दूर होते ही ईश्वर प्रकट हो जाते हैं।

६०. किंवदन्ती है कि अगर दूध में पानी मिला हो तो हंस उसमें से दूध भर पीकर पानी को वैसा ही छोड़ देता है। पर दूसरे पक्षी ऐसा नहीं कर सकते। इसी प्रकार ईश्वर माया के साथ मिले हुए हैं। साधारण मनुष्य उन्हें माया से अलग कर देख नहीं पाते, केवल जो परमहंस होते हैं वे ही माया को त्यागकर ईश्वर को ग्रहण करते हैं।

६१. यदि तुम माया को पहचान लो तो वह स्वयं ही तुम्हें छोड़कर

भाग जाएगी। जैसे गृहस्थ यदि जान जाए कि घर में चोर आया है तो चोर अपने आप भाग जाता है।

विद्या-माया

६२. ईश्वर में विद्या-माया और अविद्या-माया दोनों हैं। विद्या-माया जीव को ईश्वर की ओर ले जाती है, और अविद्या-माया उसे ईश्वर से दूर। ज्ञान, भक्ति, दया, वैराग्य – यह विद्या-माया का ही खेल है। इन्हीं का आश्रय ले मनुष्य ईश्वर के समीप पहुँच सकता है।

६३. माया ही ब्रह्म का स्वरूप प्रकट कर देती है। माया की कृपा हुए बिना ब्रह्म को कौन जान सकता है! ईश्वर की शक्ति का ज्ञान हुए बिना ईश्वर का ज्ञान नहीं हो सकता।

६४. माया के ही कारण हमें परमज्ञान और परमानन्द की प्राप्ति हो सकती है। वरना इनकी तो सपने में भी आशा नहीं की जा सकती। माया से ही कार्य-कारणरूप द्वैतप्रपंच का उदय होता है, माया के परे जाने पर न भोक्ता रह जाता है, न भोग्य विषय।

६५. बिल्ली जब अपने बच्चे को दाँतों से पकड़ती है तो उसे कुछ नहीं होता, लेकिन जब वह चूहे को पकड़ती है तो चूहा मर जाता है। इसी तरह, माया भक्त को नष्ट नहीं करती, भले ही वह दूसरों का विनाश कर डालती है।

□□□

अध्याय ३

माया – 'कामिनी-कांचन'

विषयासक्ति का बन्धन

६६. माया क्या है? यह काम या भोगासक्ति ही है, जो आध्यात्मिक उन्नति में विघ्नस्वरूप है।

६७. कामिनी ही मानो माया है, जिसने सब को ग्रस्त कर लिया है!

६८. संसार-जाल में फँसे हुए जीव विषयासक्ति के कारण हजारों दु:ख-कष्ट भोगते हैं किन्तु फिर भी वे कामिनी-कांचन के मोह को छोड़कर भगवान् में मन नहीं लगाते।

६९. हे गृहस्थो, सावधान रहो! स्त्रियों पर बहुत ज्यादा भरोसा मत रखो; वे बड़ी चतुराई के साथ न जाने कब तुम्हारे ऊपर अपनी सत्ता चलाने लग़ जाएँगी।

७०. "कज्जल के घर में जित्ता सियान हो,
थोड़ा बूँद लागे पर लागे।
युवती के साथ में जित्ता सियान हो,
थोड़ा काम जागे पर जागे।।"

धुएँ से भरी काली कोठरी में तुम चाहे जितनी सावधानी क्यों न बरतो, तुम्हारे बदन में कुछ न कुछ दाग लग ही जाता है। वैसे ही, स्त्रियों के संग रहकर, मनुष्य कितनी भी सावधानी और संयम क्यों न बरते, उसमें थोड़ा न थोड़ा कामभाव अवश्य जागता है।

७१. अगर किसी व्यक्ति को कठिन ज्वर से सन्निपात हो गया हो

और उसके पास अचार की बरनी और ठण्डे पानी का घड़ा रख दिया गया हो, तो ऐसी हालत में जब वह प्यास से तड़प रहा है, उसके लिए अचार चखने और पानी पीने का लोभ सम्हालना क्या कभी सम्भव हो सकता है? इसी प्रकार, जिसे काम का तीव्र ज्वर चढ़ा हुआ है और विषयभोगों की प्रबल तृष्णा लगी हुई है, ऐसे संसारी जीव को अगर कामिनी और कांचन के आकर्षण के बीच रखा जाए तो वह अपनी वासना कैसे रोक सकेगा! वह भगवद्भक्ति के पथ से अवश्य ही दूर चला जाएगा।

७२. एक बार किसी धनवान् मारवाड़ी भक्त ने श्रीरामकृष्णदेव के पास आकर कहा, "महाराज, मैंने सब कुछ त्याग दिया है, फिर भी मुझे भगवान् के दर्शन क्यों नहीं होते?"

इस पर श्रीरामकृष्णदेव बोले, "तुम तेल के पीपे जानते हो न? सारा तेल निकालकर पीपा खाली कर डालने पर भी उसमें थोड़ासा तेल रह जाता है और उसमें तेल की गन्ध आती रहती है। वैसे ही तुम्हारे अन्दर अभी भी कुछ विषयासक्ति शेष रह गई है और उसकी गन्ध आ रही है।

७३. कामिनी-कांचन ही मनुष्य को संसार में डुबो रखते हैं, ईश्वर की ओर जाने नहीं देते। कितने अचरज की बात है कि सभी लोग अपनी पत्नी की तारीफ ही करते हैं, चाहे वह भली हो या बुरी।

७४. जिस प्रकार बन्दर शिकारी के पैरोंतले अपने प्राण न्यौछावर कर देता है, उसी प्रकार मनुष्य सुन्दर स्त्री के पैरोंतले अपनी जान कुरबान कर देता है।

विषयासक्ति तथा आध्यात्मिक उन्नति

७५. जो ईश्वरप्राप्ति के लिए साधन-भजन करना चाहते हैं, उन्हें कामिनी-कांचन की आसक्ति से बचने के लिए विशेष रूप से सावधान रहना चाहिए, अन्यथा उन्हें सिद्ध-अवस्था कभी नहीं मिल सकती।

७६. नित्यानन्दजी ने चैतन्य महाप्रभु से पूछा, "भाई, मैं जीवों को इतना प्रेम का उपदेश प्रदान करता हूँ, फिर भी उन पर इसका कोई असर

क्यों नहीं होता?'' चैतन्यदेव बोले, ''वे लोग स्त्री-संसर्ग करके सब खो डालते हैं, इसी कारण उच्च उपदेशों की धारणा नहीं कर पाते। सुनो नित्यानन्द भाई, संसारी जीवों की कभी सद्‌गति नहीं होती।''

७७. जब तराजू का एक पल्ला दूसरे पल्ले से भारी होकर झुक जाता है तो उसका निचला काँटा ऊपरवाले काँटे से अलग हट जाता है। इसी प्रकार जब मनुष्य का मन कामिनी-कांचन के भार से संसार की ओर झुक जाता है तो वह ईश्वर में एकाग्र नहीं हो पाता, वह उनसे दूर हट जाता है।

७८. अगर घड़े में कहीं एक छोटासा भी छेद रहे तो उसका सारा पानी धीरे-धीरे बह जाता है। उसी प्रकार साधक के भीतर यदि थोड़ी संसारासक्ति रह जाए तो उसकी सब साधना व्यर्थ हो जाती है।

७९. कामवासना को पूरी तरह से वशीभूत करने की कोशिश करो। ऐसा करने में यदि कोई सफल हो सके तो उसके भीतर मेधा नाड़ी नाम की एक नई सूक्ष्म नाड़ी उत्पन्न होती है (वह निम्नगामी शक्ति को ऊर्ध्वगामी बनाती है)। इस मेधा नाड़ी के खुलने के बाद ही सर्वोच्च परमात्मज्ञान प्राप्त होता है।

८०. कामिनी-कांचन की वासना में मग्न हुआ मन मानो कच्ची सुपारी की तरह है! सुपारी जब तक हरी रहती है तब तक उसका गूदा खोपड़े के साथ चिपका हुआ रहता है पर जब वह सूख जाती है तो खोपड़ी से अलग हो जाती है और खोपड़ी को हिलाने से अन्दर ही अन्दर हिलती है। इसी प्रकार, जब कामिनी-कांचन की वासना सूख जाती है तब आत्मा देह से बिलकुल अलग ही अनुभूत होने लगती है।

८१. मन जब भोग्य वस्तुओं की आसक्ति से मुक्त हो जाता है तब वह ईश्वराभिमुख होते हुए ईश्वर में ही लीन हो जाता है। इस तरह बद्ध जीव भी मुक्त हो जाता है। जो ईश्वर से विमुख होकर दूर जाता है वही बद्धजीव है।

८२. यदि जीव के मन में से काम-कांचन की आसक्ति मिट गई, तो फिर उसके लिए शेष ही क्या रह गया? – केवल ब्रह्मानंद!

विषयासक्ति पर विजय पाने का उपाय

८३. विषैले साँपों से भरे घर में रहनेवाला व्यक्ति जैसे सदा सावधान रहता है, वैसे ही संसार में मनुष्यों को काम-कांचन के मोहक आकर्षण से सदैव सावधान रहना चाहिए।

८४. जैसे साँप को देखने से लोग कहते हैं, 'माँ मनसा, तुम अपना मुँह न दिखाओ, पूँछ भर दिखाती हुई चली जाओ', वैसे ही जिनसे कामवासना उत्तेजित होने की सम्भावना हो ऐसे प्रलोभनों से पहले ही दूर हो जाना उचित है, ताकि उनके सम्पर्क में आकर पतन न हो पाए।

८५. एक बार एक साधक ने श्रीरामकृष्णदेव से पूछा, "मैं इतनी धर्मचर्चा करता हूँ, चिंतन-मनन करता हूँ, फिर भी समय-समय पर मन में कुभाव क्यों उठते हैं?" श्रीरामकृष्णदेव बोले, "किसी आदमी ने एक कुत्ता पाला था। वह रात-दिन उसी को लेकर मग्न रहता, कभी उसे गोद में लेता तो कभी उसके मुँह में मुँह लगाए बैठा रहता।

"उसके इस मूर्खतापूर्ण आचरण को देख एक दिन एक जानकार व्यक्ति ने उसे यह समझाकर सावधान कर दिया कि 'कुत्ते का इतना लाड़-दुलार नहीं करना चाहिए, आखिर जानवर की ही जात ठहरी, न जाने किस दिन लाड़ करते समय काट खाए।' इस बात ने उस आदमी के मन में घर कर लिया। उसने उसी समय कुत्ते को गोद में से फेंक दिया और मन में प्रतिज्ञा कर ली कि उसे अब कभी गोद में न लूँगा। पर भला कुत्ता यह कैसे समझे! वह तो मालिक को देखते ही दौड़कर उसकी गोद पर चढ़ने लगता। आखिर कुछ दिनों तक उसे पीटकर भगाते भगाते तब कहीं उसकी वह आदत टूटी। तुम लोगों की भी वास्तव में यही दशा है। जिस कुत्ते को तुम इतने दीर्घ काल तक छाती से लगाते आए हो उससे अब अगर तुम छुटकारा पाना भी चाहो तो वह भला इतनी आसानी से क्यों छोड़ने चला! तब भी कोई हर्ज नहीं। अब से तुम उसका लाड़ करना छोड़ दो और अगर वह तुम्हारी गोद में चढ़ने आए तो उसकी अच्छी तरह से मरम्मत करो। ऐसा करने पर कुछ ही दिनों के अन्दर तुम उससे पूरी तरह छुटकारा पा जाओगे।"

८६. कामिनी और कांचन ने सारे संसार को पापपंक में डुबो रखा है। स्त्रियों की ओर यदि तुम भगवती जगदम्बा की दृष्टि से देखो तो तुम उनके हाथ से बच सकते हो। जब तक कामिनी-कांचन की तृष्णा नहीं बुझ जाती तब तक भगवान् के दर्शन नहीं हो सकते।

८७. यदि एक बार कोई तीव्र वैराग्य के द्वारा भगवान् की प्राप्ति कर ले तो फिर उसमें स्त्रियों के प्रति आसक्ति नहीं रह जाती। यहाँ तक कि घर में रहकर अपनी स्त्री से भी उसे कोई भय नहीं रहता। अगर लोहे के एक ओर बड़ा और दूसरी ओर छोटा चुम्बक हो तो लोहे को कौन खींच सकेगा? नि:संदेह बडा चुम्बक ही। ईश्वर बड़ा चुम्बक है और कामिनी छोटा चुम्बक। ईश्वर के आकर्षण के सामने भला कामिनी क्या कर सकती है!

८८. अगर तुम साँप को पकड़ने जाओ तो वह तुम्हें अवश्य काट खाएगा; पर जो मन्त्र जानता है, उसके लिए यह अत्यन्त आसान बात है। वह यदि चाहे तो एक ही साथ सात साँपों को गले में लपेटकर खूब खेल दिखा सकता है। वैसे ही, विवेक-वैराग्यरूपी मन्त्र सीखकर यदि कोई संसार में रहे तो संसार की माया-ममता उसे बाँध नहीं सकती।

८९. एक दिन एक मारवाड़ी भक्त दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्णदेव के दर्शन करने आया और उसने उनकी सेवा के लिए दस हजार रुपए देने की इच्छा प्रकट की। परन्तु श्रीरामकृष्णदेव ने इस पर तीव्र विरोध करते हुए कहा, "मैं तुम्हारे रुपए नहीं लूँगा। क्योंकि यदि मैं वे रुपए लूँ तो मेरा मन हमेशा उन्हीं की फिक्र में लगा रहेगा।" तब उस भक्त ने वह रुपया श्रीरामकृष्णदेव की सेवा के लिए उनके भानजे हृदय के नाम रखना चाहा। किन्तु श्रीरामकृष्णदेव बोले, "नहीं, यह भी नहीं होगा। यह तो कपटाचार हुआ। और फिर मेरे मन मैं तो सदा यही भाव बना रहेगा कि यह मेरा ही रुपया है – अमुक के पास रखा गया है।"

उक्त भक्त फिर भी आग्रह करने लगा। उसने श्रीरामकृष्णदेव के ही वचन उद्धृत करते हुए कहा, "आप ही तो कहा करते हैं कि मन यदि तेल की तरह हो जाए तो फिर वह कामिनी-कांचनरूपी समुद्र में न डूबकर ऊपर

ही तैरता रहेगा।''

इस पर श्रीरामकृष्णदेव बोले, ''सो तो ठीक है, पर तेल अगर बहुत ज्यादा देर तक पानी में तैरता रहे तो अन्त में वह भी सड़ने लगता है। इसी तरह, मन यदि कामिनी-कांचनरूपी समुद्र में तैरता भी रहे तो भी बहुत दीर्घ समय तक लगातार उसके सम्पर्क में रहने से अन्त में वह अवश्य ही अशुद्ध हो जाएगा और उसमें से दुर्गन्ध आने लगेगी।''

साधक और कांचनरूपी विघ्न

९०. धन कमाने की लालसा मनुष्य को ईश्वर के मार्ग से दूर ले जाती है। इस प्रसंग में श्रीरामकृष्णदेव ने एक बार अपने एक युवक-शिष्य से कहा, ''संसारी मनुष्य की तरह तू भी नौकरी कर रहा है, पर कुछ फर्क है। तूने अपनी माँ के लिए नौकरी स्वीकार की है। नहीं तो मैं कहता, 'छी, छी, तुझे धिक्कार है, धिक्कार है!' '' अन्त में उन्होंने कहा, ''केवल ईश्वर की ही सेवा-चाकरी करनी चाहिए।''

९१. धन के लिए नौकरी करने से मनुष्य का कितना अध:पतन हो जाता है इस सन्दर्भ में श्रीरामकृष्णदेव ने अपने एक युवक-शिष्य का उल्लेख करते हुए कहा था, ''उसके चेहरे पर कैसी स्याही-सी छा गई है, मानो चेहरे पर एक काला परदा-सा पड़ गया है। वह आफिस में काम करने लगा है न, इसीलिए ऐसा हुआ है। आफिस में हिसाब-किताब करना पड़ता है, और भी सैकड़ों किस्म के काम हैं – हमेशा उन्हीं की फिक्र लगी रहती है।''

९२. रुपया भी एक बड़ी भारी उपाधि है। रुपया आते ही मनुष्य दूसरी तरह का बन जाता है – पहले जैसा नहीं रह जाता। पहले यहाँ (दक्षिणेश्वर में) एक ब्राह्मण बीच-बीच में आया- जाया करता था। वह वैसे तो बड़ा विनयी और नम्र मालूम होता। बाद में उसका आना-जाना बन्द हो गया, और न उसकी कोई खबर ही मिली। फिर एक दिन हम लोग कोन्नगर गए, हृदय साथ था। नाव से उतरते ही हमने देखा कि वह ब्राह्मण गंगा किनारे बड़े मजे में बैठा हुआ हवा खा रहा है। हमें देखकर वह बड़े गर्व भरे स्वर

से बोला, "क्यों महाराज, कहो कैसे हो?" उसके पूछने का ढंग, उसकी आवाज सुनकर मैंने हृदय से कहा, "अरे हृदय, इस आदमी के धन हो गया है। देख, आवाज भी कैसे बदल गई है।" हृदय खूब हँसने लगा।

९३. रुपए से दाल-रोटी भर का प्रबन्ध हो सकता है। उसे अपने जीवन का चरम उद्देश्य मत समझ बैठो।

९४. कई लोग अपने धन-सामर्थ्य, नाम-यश या सामाजिक उच्चपद का गर्व करते हैं; किन्तु ये सभी दो दिनों के लिए हैं, मरते समय इनमें से कोई भी साथ नहीं आएगा।

९५. ईश्वर दो बार हँसते हैं। एक बार उस समय, जब किसी को कठिन बीमारी हो गई हो और वह मरने ही वाला हो, और ऐसे समय वैद्य आकर रोगी की माता से कहे, "घबड़ाओ मत माँजी, चिन्ता की कोई बात नहीं है; तुम्हारे बेटे को बचाने की जिम्मेदारी मेरे ऊपर है।" और दूसरी बार तब, जब भाई-भाई रस्सी पकड़कर जमीन का बँटवारा करते हुए कहते हैं, "इधर का हिस्सा मेरा और उधरवाला तेरा।"

९६. धन का गर्व नहीं करना चाहिए। अगर कहो कि 'मैं धनी हूँ' तो तुमसे भी बढ़कर धनी हैं, ऐसे-ऐसे धनी हैं जिनकी तुलना में तुम भिखारी जैसे लगोगे। साँझ होने के बाद जब जुगनू उड़ने लगते हैं तो सोचते हैं कि 'हमीं लोग इस दुनिया को उजेला दे रहे हैं।' पर ज्योंही तारे चमकने लगते हैं त्योंही उनका सारा घमण्ड चूर हो जाता है। तब तारे सोचने लगते हैं कि 'हमीं लोग जगत् को प्रकाशित कर रहे हैं।' परन्तु जब गगन में चन्द्रमा का उदय होता है तो उसकी शुभ्र चाँदनी के सामने तारे मानो लज्जा से मलिन हो जाते हैं। फिर चाँद मन ही मन सोचता है कि 'मेरे ही प्रकाश से उद्भासित होकर जग मानो मुसकरा रहा है।' परन्तु देखते ही देखते पूर्व गगन को रंजित कर अरुणोदय हो जाता है और चन्द्रमा मलिन होकर थोड़े ही समय में कहाँ अदृश्य हो जाता है।

अपने को धनवान् समझनेवाले लोग यदि प्रकृति के इन सत्यों पर विचार करें तो फिर उन्हें धन का घमण्ड नहीं रह जाएगा।

९७. पुल के नीचे पानी आसानी से आता और बह जाता है, जमता नहीं; इसी प्रकार मुक्त पुरुष के हाथ में पैसा जैसे ही आता है, खर्च हो जाता है, जम नहीं पाता।

९८. धन जिसके लिए दास की तरह है वही ठीक-ठीक मनुष्य है। जो धन का योग्य रीति से उपयोग करना नहीं जानता वह 'मनुष्य' कहलाने लायक नहीं है।

□□□

अध्याय ४

माया-अहंकार

अहंकार के दोष

९९. सूर्य वैसे तो सारे संसार को प्रकाश और ताप देता है पर यदि वह मेघ से आच्छन्न हो जाए तो ऐसा नहीं कर पाता। इसी भाँति जब तक हृदय अहंकार के आवरण से आच्छादित रहता है तब तक उसमें भगवान् प्रकाशित नहीं हो पाते।

१००. यह 'अहं' मेघ की तरह है। इसी के कारण हम ईश्वर को नहीं देख पाते। यदि श्रीगुरु की कृपा से अहं-बुद्धि दूर हो जाए तो फिर ईश्वर के पूर्ण दर्शन हो जाते हैं। जैसे, सिर्फ ढाई हाथ की दूरी पर ही साक्षात् पूर्ण ब्रह्म श्रीरामचन्द्रजी हैं, किन्तु बीच में सीता-रूपिणी माया का आवरण होने के कारण लक्ष्मण-रूपी जीव को ईश्वर राम के दर्शन नहीं होते।

१०१. प्रश्न – महाराज, हमलोग इस तरह बद्ध क्यों हुए हैं? हम ईश्वर को क्यों नहीं देख पाते?

श्रीरामकृष्ण – जीव का अहंकार ही माया है। यही अहंकार सब आवरण का मूल है। 'मैं' के मरने पर ही सारा जंजाल दूर होगा। अगर किसी को ईश्वर की कृपा से 'मैं कर्ता नहीं हूँ' यह ज्ञान हो जाए, तब तो वह जीवन्मुक्त ही हो गया। फिर उसे किसी बात का भय नहीं।

१०२. अगर मैं अपने को इस अँगौछे की ओट कर लूँ तो तुम मुझे नहीं देख सकते। पर मैं तुम्हारे बिलकुल नजदीक ही हूँ। इसी भाँति, और सभी चीजों की अपेक्षा ईश्वर ही तुम्हारे सब से ज्यादा निकट हैं, किन्तु इस

अहंरूपी आवरण के कारण तुम उनके दर्शन नहीं पाते।

१०३. जब तक अहंकार रहता है तब तक न ज्ञान होता है, न मुक्ति मिलती है; इस संसार में बार-बार आना-जाना पड़ता है।

१०४. हण्डी में रखे पानी और चावल, दाल, आलू आदि को तब तक छुआ जा सकता है जब तक हण्डी आग पर नहीं रखी जाती। जीव की देह मानो हण्डी है और धन-मान, विद्या-बुद्धि, जाति-कुल आदि मानो चावल, दाल, आलुओं की तरह हैं। अहंकार ही आग है। अहंकाररूपी अग्नि के ही कारण जीव गरम (गर्वीला) होता है।

१०५. बरसात का पानी ऊँची जमीन पर नहीं ठहर पाता, बहकर नीची जगह में ही जमता है। वैसे ही ईश्वर की कृपा भी नम्र व्यक्तियों के ही हृदय में ठहरती है, अहंकार-अभिमानपूर्ण हृदय में नहीं।

१०६. जब तक अहंकार पूरी तरह नष्ट नहीं हो जाता तब तक मनुष्य की मुक्ति नहीं। अहं के कारण बछड़े की कैसी दुर्गति होती है, देख। बछड़ा जन्मते ही 'हम्बा' ('हम' 'हम') करने लगता है इसीलिए तो उसे इतने क्लेश भुगतने पड़ते हैं। बड़ा होते ही वह हल में जोता जाता है और उसे सुबह-शाम भारी हल चलाते रहना पड़ता है। इतना ही नहीं, कभी कभी वह कसाई के हाथों काटा जाता है। उसका मांस खा लिया जाता है और चमड़े से जूते बनते हैं, ढोल बनता है। लेकिन इतना होते हुए भी उसका अहंकार नहीं जाता। ढोल को इतना पीटा जाता है पर वह 'हम' 'हम' के ही बोल निकालता है। इतने पर ही छुटकारा नहीं मिल जाता। अन्त में उसकी अँतड़ियों से ताँत बनती है और धुनिया उसे अपने धनुहे में लगाकर रुई धुनकता है, तब जाकर वह 'तुहूँ' 'तुहूँ' ('तुम' 'तुम') कहने लगती है।

यह 'मैं' निकल जाकर उसकी जगह 'तुम' आ जाना चाहिए, परन्तु आध्यात्मिक जागरण हुए बिना यह सम्भव नहीं।

१०७. मुक्ति तभी मिलेगी जब तुम्हारा 'मैं'-पन चला जाकर तुम भगवान् में ही डूब जाओगे।

१०८. मुक्ति कब होगी? जब 'मैं' चला जाएगा तब।

१०९. प्रश्न – मैं मुक्त कब होऊँगा?

उत्तर – जब तुममें यह 'मैं' नहीं रहेगा। 'मैं' और 'मेरा' – यह अज्ञान है; 'तुम' और 'तुम्हारा' – यह ज्ञान है। जो ठीक-ठीक भक्त होता है, वह सदा कहता है, "हे प्रभो! तुम्हीं कर्ता हो, तुम्ही सब कुछ कर रहे हो। मैं तो केवल तुम्हारे हाथों का यन्त्र मात्र हूँ; तुम मुझसे जैसा करवाते हो वैसा ही मैं करता हूँ। यह धन, ऐश्वर्य, यह जग तुम्हारी ही महिमा है। यह घर, यह परिवार सब कुछ तुम्हारा है, मेरा कुछ भी नहीं। मैं तुम्हारा दास हूँ। जैसा तुम्हारा हुक्म होगा, वैसी ही सेवा करने भर का मुझे अधिकार है।

अहंकार पर विजय पाना आसान नहीं है

११०. और सब अभिमान धीरे-धीरे चला जाता है, परन्तु साधुत्व का अभिमान जाते नहीं जाता।

१११. जिस कटोरे में लहसुन पीसकर रखा जाता है उसकी गन्ध सौ बार माँजने पर भी नहीं जाती। 'मैं'-पन भी ऐसा ही पाजी है, चाहे कितनी ही कोशिश करो, वह जाते नहीं जाता।

११२. अजीर्ण का रोगी अच्छी तरह जानता है कि अचार या चटनी उसके लिए हानिकारक है, किन्तु फिर भी संग का गुण ही ऐसा है कि उन चीजों को देखने से ही मुँह में पानी आ जाता है। 'मैं' और 'मेरा' को दूर करने के लिए कितना भी प्रयत्न करो पर प्रत्यक्ष व्यवहार के समय यह 'कच्चा मैं' न जाने कहाँ से आ ही जाता है।

११३. यह सच है कि एक-दो जनों को समाधि प्राप्त होकर उनका 'अहं' चला जाता है; परन्तु साधारणतया 'अहं' नहीं जाता। लाख विचार करो, पर 'अहं' घूम-फिरकर फिर से हाजिर हो जाता है। पीपल का पेड़ आज काट डालो, कल सुबह ही देखोगे कि फिर अंकुर निकल आया है।

११४. जो अपना नाम-यश चाहते हैं वे भ्रम में हैं। वे यह भूल जाते हैं कि एकमात्र ईश्वर की ही इच्छा से सब कुछ हो रहा है, वही सब का नियामक है। ज्ञानवान् व्यक्ति कहता है, 'प्रभो, तुम, तुम'; मूढ़ अज्ञानी ही

'मैं, मैं' करता है।

'पक्का मैं' और 'कच्चा मैं'

११५. 'मैं' दो तरह का होता है, एक है 'पक्का मैं' और दूसरा 'कच्चा मैं'। "जो कुछ मैं देखता, सुनता या महसूस करता हूँ उसमें कुछ भी मेरा नहीं है, यहाँ तक कि यह शरीर भी मेरा नहीं हैं।" "मैं नित्य मुक्त हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ।" – यह 'पक्का मैं' है। "यह मेरा मकान है", "यह मेरा लड़का है", "यह मेरी पत्नी है", "यह मेरा शरीर है" – यह सब 'कच्चा मै' है।

११६. "मैं प्रभु का दास हूँ" यही सही "भक्त का मैं है – 'विद्या का मैं' है; इसे 'पक्का मैं' कहा जाता है।

११७. 'दुष्ट मैं' क्या है? 'दुष्ट मैं' वह है जो कहता है, "क्या! वे मुझे नहीं जानते? मेरे इतने रुपए हैं! मेरे इतना बड़ा आदमी कौन है? मेरी बराबरी करे इतनी हिम्मत किसमें है?"

११८. जो 'मैं' मनुष्य को संसारी बनाता है, कामिनी-कांचन में आबद्ध करता है, वह 'दुष्ट मैं' है। जीव और ब्रह्म में भेद बस इसलिए है कि उनके बीच यह 'मैं' खड़ा हुआ है। पानी पर यदि एक लाठी डाल दी जाए तो पानी दो भागों में बँटा हुआ सा दीख पड़ता है। 'अहं' या 'मैं' ही यह लाठी है; इसे उठा लो तो जल एक ही रह जाएगा।

अहंकार पर विजय पाने का उपाय

११९. 'मैं' पर विचार करते करते दिखाई देता है कि 'मैं' केवल एक शब्द भर है। किन्तु फिर भी इसे दूर करना अत्यन्त कठिन है। इस कारण यही कहना चाहिए कि "अरे दुष्ट 'मैं'! तू जब किसी हालत में जाएगा ही नहीं तो फिर ईश्वर का दास बनकर रह!" "मैं ईश्वर का दास हूँ" यह 'पक्का मैं' है।

१२०. शंकराचार्य का एक शिष्य था। वह कई दिनों से उनकी सेवा कर रहा था पर आचार्य ने उसे अब तक एक भी उपदेश नहीं दिया था।

एक दिन शंकराचार्य अपने आसन पर बैठे हुए थे, ऐसे समय किसी के आने की आहट हुई। आचार्य ने पूछा, "कौन है?" शिष्य बोला, "मैं"। तब आचार्य बोले," 'मैं' यदि तुझे इतना ही प्रिय है तो उसे और बढ़ा ले (अर्थात् 'सारा जगत् मैं ही हूँ' यह धारणा कर ले), नहीं तो फिर उसे पूरी तरह त्याग दे।"

१२१. यदि देखो कि 'मैं' नहीं दूर होता तो रहने दो उसे 'दास मैं' बना हुआ। "हे ईश्वर! तुम प्रभु हो, मैं दास हूँ" इसी भाव में रहो। "मैं ईश्वर का दास हूँ, भक्त हूँ" ऐसे 'मैं' में दोष नहीं। मिठाई खाने से अम्लरोग होता है, पर मिश्री इसका अपवाद है। 'दास मैं', 'भक्त का मैं' या 'बालक का मैं' ये सब मानो जलराशि पर खींची गई रेखा के समान हैं। यह 'मैं' अधिक देर नहीं ठहरता।

१२२. मिठाइयों से रोग होता है, पर मिश्री में दोष नहीं। उसी प्रकार, 'कच्चा मैं' हानिकारक है, परन्तु "मैं ईश्वर का दास या भक्त हूँ" इस तरह के 'पक्के मैं' में दोष नहीं है, बल्कि यह साधक के भक्तिपथ पर आगे बढ़ने का ही सूचक है। इसके द्वारा ईश्वरलाभ होता है।

१२३. 'दास मैं'वाले व्यक्ति की काम-क्रोधादि प्रवृत्तियाँ किस प्रकार की होती हैं?

अगर उसका भाव ठीक-ठीक हो तो उसकी पूर्व प्रवृत्तियों का केवल आकार मात्र रह जाता है। ईश्वरप्राप्ति के पश्चात् यदि किसी का 'दास मैं' या 'भक्त मैं' बना रहा तो भी वह व्यक्ति किसी का अनिष्ट नहीं कर सकता। पारस पत्थर को छूने पर तलवार सोना बन जाती है, तलवार का आकार तो रहता है, पर वह किसी की हिंसा नहीं कर सकती।

१२४. अगर तुम्हें अहंकार ही करना है तो 'मैं ईश्वर का दास हूँ, मैं ईश्वर की सन्तान हूँ' इस तरह का अहंकार करो। महापुरुषों का स्वभाव बालकों जैसा होता है। ईश्वर के समीप वे सदा ही बालक हैं, इसलिए उनमें अहंकार नहीं रहता। उनकी सारी शक्ति ईश्वर की शक्ति है, पिता की शक्ति है, स्वयं की कुछ भी नहीं।

१२५. ईश्वर ही सब कुछ कर रहे हैं, वे यन्त्री हैं, मैं यन्त्र हूँ – यह विश्वास यदि किसी में आ जाए तब तो वह जीवन्मुक्त ही हो गया। "हे प्रभो, तुम्हारा कर्म तुम्हीं करते हो, पर लोग कहते हैं 'मैं करता हूँ'।"

१२६. जब तक 'मैं जानता हूँ' या 'मैं नहीं जानता' ये भाव हैं, तब तक व्यक्तित्व का बोध भी है। मेरी ब्रह्ममयी माँ ने कहा है, "जब मैं तुम्हारे 'अहं' को पूरी तरह मिटा देती हूँ तभी तुम्हें समाधि में मेरी अरूप सत्ता की – निरुपाधिक स्वरूप की – उपलब्धि हो सकती है।" तब तक तो यह 'मैं' रहता ही है।

१२७. अपनी निम्न-प्रकृति के साथ बहुत संग्राम करने के पश्चात्, आत्मज्ञान के लिए तीव्र साधना करने के बाद ही समाधि-अवस्था प्राप्त होती है। समाधि होने पर 'मैं' 'मेरा' कुछ नहीं रह जाता। किन्तु ऐसी समाधि बहुत मुश्किल है। 'मैं' बड़ा बलवान् होता है – किसी तरह जाना नहीं चाहता। तभी तो हमें फिर-फिरकर संसार में जन्म लेना पड़ता है।

१२८. जब तक ईश्वर के दर्शन न हो, जब तक उस पारसमणि के स्पर्श से लोहा सोना न बन जाए, तब तक 'मैं कर्ता हूँ' यह भ्रम रहेगा ही; 'मैंने सत्कर्म किया', 'मैंने असत्कर्म किया' यह भेद-बोध रहेगा ही। यह भेद-बोध उन्हीं की माया है, और इसी के कारण यह संसार चल रहा है। विद्यामाया का आश्रय लेने पर सन्मार्ग पकड़कर चलने से उन्हें प्राप्त किया जा सकता है। जो ईश्वर को प्राप्त कर लेता है, उनके प्रत्यक्ष दर्शन कर लेता है, वही माया को पार कर सकता है। 'ईश्वर ही एकमात्र कर्ता हैं, मैं अकर्ता हूँ' यह विश्वास जिसे है वही जीवन्मुक्त है।

सिद्ध पुरुष का अहंकार

१२९. क्या 'अहं' कभी पूरी तरह से नहीं जाएगा? कमल की पँखुड़ियाँ समय पर झड़ जाती हैं लेकिन उनका निशान रह जाता है। इसी प्रकार जब मनुष्य ईश्वर का साक्षात्कार कर लेता है, तो उसका अहंकार पूरी तरह नष्ट हो जाता है, पर उसका थोड़ा दाग रह जाता है; किन्तु उस अहंकार से कोई

अनिष्ट नहीं होता।

१३०. जिसने ईश्वर के दर्शन किए हैं वही ठीक-ठीक ज्ञानी है। उसका स्वभाव बालक जैसा हो जाता है। बालक के भी अलग व्यक्तित्व होता है, अस्मिता होती है, परन्तु वस्तुत: वह केवल आकारमात्र है। बालकों का 'अहं' बड़ों के 'अहं' की तरह हानिकारक नहीं होता।

१३१. कुछ महापुरुष सप्तम भूमि या समाधि की सर्वोच्च अवस्था में पहुँचकर भगवद्-बोध में विलीन हो जाने के बाद भी लोककल्याण के लिए उस भूमि से उत्तर आते हैं। समाधि के बाद भी वे इच्छापूर्वक 'विद्या का अहं' रख देते हैं। यह अहं का आभास मात्र है, यह पानी पर खींची गई रेखा के समान होता है।

१३२. रस्सी जल जाने पर भी उसका आकार बना रहता है, पर उसके द्वारा किसी को बाँधा नहीं जा सकता। इसी प्रकार ज्ञानाग्नि में दग्ध होकर अहं का भी केवल आकार भर रह जाता है।

१३३. मनुष्य सपने में यह देखकर कि कोई उसे काटने आ रहा है, मारे डर के हड़बड़ाकर उठ बैठता है। यद्यपि वह उठकर देखता है कि कमरा बन्द है और अन्दर कोई नहीं है फिर भी कुछ समय तक उसकी छाती धड़कती रहती है। इसी भाँति यह 'मैं'पन या अभिमान चला जाने पर भी उसका कुछ जोर रह ही जाता है।

१३४. समाधि के बाद भी कोई-कोई 'मैं' को रख छोड़ते हैं – 'दास मैं' या 'भक्त का मैं'। शंकराचार्य ने लोकशिक्षा के लिए 'विद्या का मैं' रख छोड़ा था।

१३५. हनुमान को ईश्वर के साकार और निराकार दोनों स्वरूप के दर्शन हुए थे किन्तु इन दर्शनों के बाद उन्होंने 'दास मैं' रख छोड़ा था। नारद, सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार आदि ने भी इसी तरह ब्रह्मदर्शन के बाद भी 'दास मैं', 'भक्त मैं' रख छोड़ा था।

एक भक्त – क्या नारदादि केवल भक्त थे या ज्ञानी भी थे?

श्रीरामकृष्ण – नारदादि को ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ था, किन्तु फिर भी

वे कलनादिनी निर्झरिणी की तरह भगवन्महिमा का गुणगान करते हुए विचरण करते रहते थे। लोकशिक्षा और धर्मरक्षा के लिए उन्होंने 'विद्या का मैं' रख छोड़ा था, ब्रह्म में पूर्ण विलीन न होकर अपने अलग अस्तित्व का मानो थोड़ा चिह्न रख छोड़ा था।

१३६. एक बार श्रीरामकृष्णदेव ने अपने एक शिष्य से विनोद में पूछा, "क्यों, क्या तुम्हें मुझमें कोई अभिमान नजर आता है? क्या मुझमें अभिमान है?"

शिष्य ने कहा, "जी महाराज, थोड़ासा है, पर आपमें उतना अभिमान इन कारणों से रखा गया है – पहला, देहधारण के लिए; दूसरा, भगवद्-भक्ति के उपभोग के लिए; तीसरा, भक्तों के साथ सत्संग करने के लिए; और चौथा, लोगों को उपदेश देने के लिए। फिर यह भी तो है कि इस 'अहं' को रखने के लिए आपने काफी प्रार्थना की है। वैसे देखा जाए तो आपके मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति समाधि की ओर है। इसी से मैं कह रहा हूँ कि आपमें जो 'अहं' या अभिमान बचा है वह आपकी प्रार्थना का ही फल है।"

तब श्रीरामकृष्णदेव बोले, "ठीक है, लेकिन इस 'मैं' को बनाए रखनेवाला मैं नहीं, जगदम्बा है। प्रार्थना को स्वीकार करना जगदम्बा के ही हाथ में है।"

□□□

अध्यात्म ५

विद्याध्ययन का बन्धन

किताबी ज्ञान का खोखलापन

१३७. एक दिन केशवचन्द्र सेन दक्षिणेश्वर आए और उन्होंने श्रीरामकृष्णदेव से पूछा, "बहुतसे पण्डित शास्त्रों का समूचा पुस्तकालय ही पढ़ डालते हैं, परन्तु फिर भी उनमें आध्यात्मिक जीवनसम्बन्धी इतना घना अज्ञान कैसे बना रहता है?" इस पर श्रीरामकृष्णदेव ने उत्तर दिया, "चील-गिद्ध बहुत ऊँचा उड़ते हैं, पर उनकी नजर मरे जानवरों की सड़ीलाश पर गड़ी रहती है। इसी प्रकार, अनेक शास्त्रों का पाठ करने के बावजूद इन तथाकथित पण्डितों का मन सदा सांसारिक विषयों में, कामिनी-कांचन में आसक्त रहता है; इसीलिए उन्हें ज्ञानलाभ नहीं होता।"

१३८. जिस ज्ञान से चित्तशुद्धि होती है वही यथार्थ ज्ञान है, बाकी सब अज्ञान है।

१३९. कोरे पाण्डित्य से क्या लाभ? पण्डित को बहुत सारे शास्त्र, अनेकों श्लोक मुखाग्र हो सकते हैं, पर वह सब केवल रटने और दुहराने से क्या लाभ? अपने जीवन में शास्त्रों में निहित सत्यों की प्रत्यक्ष उपलब्धि होनी चाहिए। जब तक संसार के प्रति आसक्ति है, कामिनी-कांचन पर प्रीति है, तब तक चाहे जितने शास्त्र पढ़ो, ज्ञानलाभ नहीं होगा, मुक्ति नहीं मिलेगी।

१४०. तथाकथित पण्डित लोग बड़ी-बड़ी बातें करते हैं। वे ब्रह्म, ईश्वर, निर्विशेष सत्ता, ज्ञानयोग, दर्शन और तत्त्वज्ञान आदि कितने ही गूढ़ विषयों की चर्चा करते हैं। किन्तु उनमें ऐसों की संख्या बहुत कम है, जिन्होंने

इन विषयों की उपलब्धि की है। उन लोगों में अधिकांश ही शुष्क और नीरस होते हैं, वे किसी काम के नहीं।

१४१. मृदंग या तबले के बोल मुँह से निकालना आसान है, किन्तु प्रत्यक्ष बजाना कठिन। इसी तरह धर्म की बातें कहना तो सरल है, किन्तु आचरण में लाना कठिन।

१४२. वैसे तो तोता दिनभर 'राधाकृष्ण' रटता है, परन्तु जब बिल्ली धर दबाती है तो वह 'राधाकृष्ण' भूलकर 'टें टें' करने लगता है। वैषयिक सुख-समृद्धि की आशा से संसारी लोग भी बीच-बीच में हरिनाम लेते हैं और दान-धर्म आदि पुण्यकर्म क्रिया करते हैं; परन्तु दुःख-दैन्य-विपत्ति या मृत्यु का समय आते ही वे यह सब भूल जाते हैं।

१४३. क्या धार्मिक ग्रन्थ पढ़कर भगवद्-भक्ति प्राप्त की जा सकती है? पंचांग में लिखा होता है कि अमुक दिन इतना पानी बरसेगा; परन्तु समूचे पंचांग को निचोड़ने पर तुम्हें एक बूँद भी पानी नहीं मिलता! इसी प्रकार, पोथियों में धर्मसम्बन्धी अनेक बातें लिखी होती हैं, पर उन्हें केवल पढ़ने से धर्मलाभ नहीं होता, उसके लिए तो इन तत्त्वों को लेकर साधना करनी होती है।

१४४. ईश्वर के राज्य में विद्या, बुद्धि, युक्ति आदि का विशेष मूल्य नहीं। वहाँ तो गूँगा बोलता है, अन्धा देखता है और बहरा सुनता है।

१४५. केवल शास्त्र पढ़कर ईश्वर के बारे में समझाना मानो नक्शे में काशी देखकर किसी के आगे काशी का वर्णन करना है।

१४६. 'भाँग भाँग' कहकर कितना भी चिल्लाओ, उससे नशा नहीं चढ़नेवाला। भाँग ले आओ, उसे घोंटो, पियो, तभी उसका नशा चढ़ेगा। सिर्फ 'भगवान भगवान्' कहकर चिल्लाने से क्या लाभ? नियमित रूप से साधना करो, तभी तुम्हें सिद्धि मिलेगी।

१४७. जिसे विद्या या धन का गर्व हो उसे ईश्वरलाभ नहीं हो सकता। ऐसे व्यक्ति से यदि तुम पूछो, "अमुक स्थान पर एक अच्छे साधु हैं, उनके दर्शन के लिए चलोगे?" तो अवश्य ही वह बहाने बनाते हुए कहेगा, "मैं

नहीं जा सकता।'' वह सोचता है – 'मैं इतना बड़ा आदमी! मैं उसके पास जाऊँगा!' अज्ञान के कारण ही यह अहंकार होता है।

१४८. जो लोग थोड़ी पुस्तकें वगैरह पढ़ लेते हैं, वे एकदम घमण्ड से फूलकर कुप्पा हो जाते हैं। एक जन के साथ मेरी ईश्वरसम्बन्धी बातचीत हुई थी। वह कहने लगा, ''यह सब मैं जानता हूँ'' मैं बोला, ''जो दिल्ली हो आया है, क्या वह गर्व करते हुए 'मैं दिल्ली हो आया' 'मै दिल्ली हो आया' ऐसा कहता फिरता है? जो बाबू है, क्या वह सब से कहता फिरता है कि 'मैं बाबू हूँ'?''

१४९. ग्रन्थ सब समय ग्रन्थ का काम न कर ग्रन्थि (गाँठ) का काम करते हैं। यदि उन्हें सत्यप्राप्ति की स्पृहा लेकर, विवेक-वैराग्ययुक्त अन्तःकरण से न पढ़ा जाए तो उनके पठन से पाण्डित्याभिमान, दाम्भिकता और अहंकार की गाँठ ही पक्की होती जाती है।

१५०. गरम राख की ढेरी पर पानी डालते ही सब का सब पानी उड़ जाता है। अभिमान-दाम्भिकता भी राख की ढेरी के समान है। दाम्भिक अन्तःकरण लेकर ध्यान-भजन, प्रार्थना आदि करने से कोई फल नहीं मिलता।

तर्क-युक्ति की निःसारता

१५१. खाली गडुए में पानी भरते समय 'भक्' 'भक' आवाज होती है, पर गडुआ भर जाने पर कोई आवाज नहीं होती। इसी प्रकार, जिन्हें भगवान् की प्राप्ति नहीं हुई है वे ही भगवान् के स्वरूप के सम्बन्ध में नाना प्रकार के निरर्थक तर्क-वितर्क किया करते हैं, किन्तु जिसने भगवान् का दर्शनलाभ कर लिया है, वह शान्त और स्थिर होकर दिव्य ईश्वरीय आनन्द का उपभोग करता है।

१५२. साधारण लोग 'थैलाभर' धर्म की बातें करते हैं पर उसका 'रत्तीभर' भी जीवन में नहीं उतारते। ज्ञानी व्यक्ति बोलते बहुत कम हैं किन्तु उनका सम्पूर्ण जीवन व्यवहार में उतरे धर्म की ही अभिव्यक्ति होता है।

१५३. बड़े भोज के समय शुरू में बहुत ही शोर-गुल सुनाई देता

है, पर जब सब पत्तल पर बैठ जाते हैं तो हो-हल्ला बहुत कुछ घट जाता है। फिर जब पूड़ी-सब्जी परोस दी जाती है और लोग खाने लग जाते हैं तब शोर बारह आना कम हो जाता है। जब मिठाइयाँ परोसी जाने लगती हैं तो आवाज और भी कम हो जाती है; और अन्त में जब दही की बारी आती है तब केवल 'सप् सप्' की आवाज सुनाई देने लगती है। फिर भोजन के बाद निद्रा! तब तो सब कुछ बिलकुल शान्त हो जाता है।

मनुष्य ईश्वर के जितने निकट आता है, तर्क विचार और प्रश्न करने की प्रवृत्ति उतनी ही घट जाती है। जब ईश्वर की प्राप्ति हो जाती है, उनके प्रत्यक्ष दर्शन हो जाते हैं तब तर्क-विचारादि का शोरगुल पूरी तरह शान्त हो जाता है। यह मानो निद्रा की स्थिति है, निद्रा अर्थात् समाधि – ईश्वर के साथ युक्त होने की दिव्य आनन्दमय अवस्था।

१५४. मधुमक्खी जब तक 'गुन गुन' करती हुई फूल के चारों ओर मँडराती रहती है, तब तक यह समझना चाहिए कि उसे फूल का मधु नहीं मिला है। अगर एक बार उसे मधु मिल जाए तो फिर उसका गुनगुनाना रुक जाता है और वह शान्त होकर फूल पर बैठ मधुपान करने लगती है। इसी तरह, मनुष्य जब तक धर्म के सिद्धान्तों को लेकर तर्क-वितर्क करता रहता है तब तक यही समझना चाहिए कि उसे धर्मामृत का स्वाद नहीं मिला है। एक बार यदि वह उस अमृत का स्वाद चख ले तो फिर वह शान्त हो जाता है।

१५५. जो थोड़ी अँगरेजी सीखने लगता है वह अपना ज्ञान दिखाने के लिए अपनी भाषा में बोलते समय भी बात-बात पर अँगरेजी शब्दों का प्रयोग करता है। परन्तु जो अच्छी तरह अँगरेजी जानता है वह अपनी भाषा में बातचीत करते समय अँगरेजी शब्द कभी नहीं लाता। यही बात धर्मजगत् में भी लागू होती है।

१५६. बाजार में पहुँचने के पहले दूर से सिर्फ 'हो हो' की आवाज सुनाई देती है; स्पष्ट रूप से कुछ भी समझ में नहीं आता। परन्तु बाजार के भीतर प्रवेश करने के बाद पहले जैसा शोर नहीं सुनाई पड़ता, तब तो

स्पष्ट दिखाई और सुनाई पड़ता है कि लोग सौदा कर रहे हैं और कह रहे हैं – 'सामान लो' 'पैसे दो' आदि। इसी भाँति जब तक मनुष्य ईश्वर से दूर होता है, तब तक वह व्यर्थ की चर्चा और निरर्थक तर्क-वितर्क के कोलाहल में उलझा रहता है। परन्तु एक बार जब वह धर्मजगत् में प्रविष्ट हो ईश्वर तक पहुँच जाता है, तब उसकी सारी तर्क-युक्ति और चर्चाएँ बन्द हो जाती हैं, और उसे ईश्वर के स्वरूप का स्पष्ट रूप से ज्ञान हो जाता है।

१५७. गरम घी में कच्ची पूड़ी छोड़ने पर 'कल् कल्' की आवाज होती है। पर पूड़ी जैसे-जैसे पकती जाती है वैसे-वैसे आवाज कम होती जाती है, और जब वह पूरी तरह पक जाती है तब तो आवाज बिलकुल ही बन्द हो जाती है। इसी तरह, थोड़ासा ज्ञान मिलने पर मनुष्य खूब व्याख्यान देने और प्रचार करने लगता है, किन्तु पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाने पर सारा बाह्य आडम्बर समाप्त हो जाता है।

१५८. वृथा तर्क मत करो। तर्क करके तुम किसी को उसकी भूल नहीं समझा सकते। जब सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की कृपा होती है तभी मनुष्य अपनी गलतियों को समझ पाता है।

विद्या का यथार्थ उद्देश्य

१५९. शास्त्र-ग्रन्थ ईश्वर के निकट पहुँचने का मार्ग भर बताता हैं। एक बार मार्ग– उपाय – जान लेने पर फिर शास्त्र-ग्रन्थों की क्या जरूरत? तब तो ईश्वरलाभ के लिए स्वयं साधना करनी चाहिए।

किसी आदमी को गाँव से चिट्ठी मिली। उसमें रिश्तेदारों के यहाँ कुछ चीजें सौगात भेजने की बात लिखी थी। चीजें मँगवाते समय उसने फिर एक बार उस चिट्ठी को देखना चाहा ताकि उसमें लिखा सभी सामान ठीक-ठीक मँगाया जा सके, परन्तु वह चिट्ठी नहीं दिखाई दी। तब उसने बहुत ही व्यग्र होकर चिट्ठी को खोजना शुरू किया। बहुतसे लोगों के मिलकर काफी देर तक ढूँढ़ने के बाद अन्त में वह चिट्ठी मिल गई। तब उस व्यक्ति को बड़ा आनन्द हुआ और उसने बड़ी उत्सुकता के साथ हाथ में चिट्ठी लेकर पढ़ना

शुरू किया। उसमें लिखा था – पाँच सेर मिठाई, सौ सन्तरे, आठ धोतियाँ और अमुक-अमुक सामान भेजना है। यह जान लेने के बाद फिर चिट्ठी की जरूरत नहीं रही। चिट्ठी छोड़कर वह उन चीजों का प्रबन्ध करने चल दिया।

चिट्ठी की जरूरत कब तक है? – जब तक उसमें लिखी वस्तुओं के विषय में न जान लिया जाए। एक बार वह जान लेने के पश्चात् अगला काम है वह सब प्राप्त करने की चेष्टा करना।

इसी तरह, शास्त्रों में केवल ईश्वर के पास पहुँचने का मार्ग भर निर्दिष्ट रहता है, उनकी प्राप्ति के उपाय भर पाए जाते हैं। वह सब जान लेने के बाद, लक्ष्यप्राप्ति के लिए तदनुसार काम शुरू कर देना चाहिए। तभी वस्तुलाभ होगा।

१६०. जिसके द्वारा ईश्वरप्राप्ति हो वही परा विद्या है। दर्शन, न्याय, व्याकरण आदि सारे शास्त्र केवल भारस्वरूप हैं, वे चित्त में भ्रम ही पैदा करते हैं। ग्रन्थ मानो ग्रन्थि (गाँठ) ही है। यदि वे ईश्वर का ज्ञान करा दें तभी उनसे लाभ है।

१६१. कई लोग सोचते हैं कि पुस्तक नहीं पढ़ने से ईश्वरविषयक ज्ञान नहीं होता, विद्या नहीं मिलती। परन्तु पढ़ने से सुनना अच्छा है, और सुनने से भी अच्छा है देखना। स्वयं पढ़ने के बजाय आचार्य के मुख से सत्य का श्रवण करने पर धारणा अधिक गहरी होती है; परन्तु प्रत्यक्ष दर्शन का प्रभाव सब से अधिक होता है। काशी के बारे में पढ़ने के बजाय जो काशी जाकर आया है उसके मुख से सुनना ज्यादा अच्छा है; किन्तु सब से अच्छा तो यही है कि स्वयं अपनी आँखों काशी के दर्शन कर लिये जाएँ।

१६२. दो प्रकार के लोग आत्मज्ञान प्राप्त कर सकते हैं – एक तो वे जो विद्या के बोझ से नहीं लदे हैं, जिनका मन दूसरों से उधार लिये हुए विचारों से नहीं भरा है; और दूसरे वे जिन्होंने सारा शास्त्र, विज्ञान आदि पढ़ने के बाद यही जाना है कि 'हम कुछ भी नहीं जानते।'

१६३. लोग अपनी विद्या का घमण्ड करते और भ्रम, अन्धविश्वास

आदि की निन्दा करते हैं, परन्तु जो सच्चा भक्त होता है उसकी सहायता करने के लिए प्रेममय प्रभु सदैव तत्पर रहते हैं। अगर कुछ समय के लिए वह गलत राह पर भी चलता रहे तो भी उससे कुछ बिगड़ता नहीं। उसके हृदय की स्पृहा को प्रभु जानते हैं और अन्त में पूर्ण कर देते हैं।

१६४. दो मित्र किसी अमराई में घूमने गए। उनमें से एक, जिसकी सांसारिक बुद्धि प्रबल थी, अमराई में पहुँचते ही वहाँ कितने आम के पेड़ हैं, किस पेड़ पर कितने आम लगे हैं, समूची अमराई की कीमत कितनी होनी चाहिए आदि नाना बातों का हिसाब करने लगा। दूसरे ने जाकर अमराई के मालिक के साथ मित्रता कर ली और एक पेड़ के नीचे बैठकर बड़े मजे से आम तोड़-तोड़कर खाने लगा। अब बताओ, इन दोनों में कौन बुद्धिमान है? आम खाओ! उससे पेट भरेगा। पेड़-पत्तों को गिनने और हिसाब-किताब करने से क्या लाभ? जो ज्ञानाभिमानी होते हैं वे निरर्थक तर्क-युक्ति द्वारा सृष्टि की कारणमीमांसा आदि में ही व्यस्त रहते हैं, परन्तु यथार्थ बुद्धिमान् भक्तजन सृष्टिकर्ता परमेश्वर की कृपा प्राप्त कर संसार में परमानन्द का उपभोग करते हैं।

१६५. यदि किसी में ज्ञानस्वरूपिणी वाग्देवी के ज्ञान की एक किरण भी आ जाए तो उसके सामने बड़े से बड़ा पण्डित भी जमीन पर रेंगनेवाले केंचुए जैसा हो जाता है।

१६६. 'गीता' शब्द का लगातार उच्चारण करने से 'गी ... तागी तागी तागी...' अर्थात् 'त्यागी, त्यागी' निकलने लगता है। अर्थात् गीता यही कहती है कि 'हे जीव, सर्वस्व का त्याग कर ईश्वर के पादपद्मों में चित्त लगा।'

१६७. दक्षिण भारत में तीर्थयात्रा करते समय एक स्थान पर चैतन्यदेव ने देखा कि एक पण्डित गीतापाठ कर रहा है और पास ही एक भक्त उसे सुनते हुए आँसुओं की धार बहा रहा है। वास्तव में वह भक्त बिलकुल निरक्षर था। वह गीता का कुछ भी नहीं समझ पा रहा था। बाद में चैतन्यदेव ने उससे रोने का कारण पूछा। उसने उत्तर दिया, "महाराज, यह सच है कि मैं गीता का एक अक्षर भी नहीं समझता, पर जब गीता का पाठ चल रहा

था तो उस समय मुझे केवल यही दिखाई दे रहा था कि कुरुक्षेत्र के मैदान में रथ पर अर्जुन के सामने भगवान् श्रीकृष्ण की मनोहर मूर्ति विराजमान है और वे गीता का उपदेश दे रहे हैं। यह दृश्य देख मेरी आँखों से प्रेम और आनन्द के आँसू रोके नहीं रुकते थे।''

इस निरक्षर व्यक्ति को सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त हुआ था, ईश्वर का दर्शनलाभ हुआ था क्योंकि उसके हृदय में ईश्वर के प्रति प्रेम था।

□□□

अध्याय ६

धर्मप्रचारक – असली और नकली

प्रचारक के दोष

१६८. हे प्रचारक, क्या तुम्हें बिल्ला (प्रचार करने का अधिकार) मिला है? राजा का बिल्ला जिसे मिलता है – भले ही वह एक सामान्य प्यादा हो – उसका कहना लोग भय और श्रद्धा के साथ सुनते हैं। वह व्यक्ति अपना बिल्ला दिखाकर बड़ा दंगा तक रोक सकता है। हे प्रचारक, तुम पहले भगवान् का साक्षात्कार कर उनकी प्रेरणा और आदेश प्राप्त कर लो, बिल्ला पा लो। बिना बिल्ला मिले यदि तुम सारा जीवन भी प्रचार करते रहो तो उससे कुछ न होगा, तुम्हारा सारा श्रम व्यर्थ होगा।

१६९. कोई भी व्यक्ति भगवत्प्रेम की गहराई में डूबना नहीं चाहता – कोई इतना धीरज नहीं रखता। विवेक-वैराग्य की साधना की किसी को परवाह तक नहीं है। दो-चार किताबें पढ़ते ही सभी भाषण देने और प्रचार करने में भिड़ जाते हैं। कितना आश्चर्य है! लोकशिक्षा देना कितना कठिन काम है! जिसने ईश्वर का साक्षात्कार कर उनसे आदेश पाया है वही लोकशिक्षा दे सकता है।

१७०. प्रश्न – जो व्यक्ति भाषण देने और प्रचार करने में तो कुशल हो परन्तु जिसका जीवन उन्नत न हो, उसके विषय में आपका क्या मत है?

उत्तर – ऐसा मनुष्य तो दूसरों की धरोहर रखी हुई सम्पत्ति को उड़ानेवाले की तरह होता है। वह लोगों को बड़ी आसानी से उपदेश देता है, पर सच पूछो तो उसमें उसके स्वयं के भाव या विचार नहीं होते – सभी दूसरों से

उधार लिये हुए होते हैं।

१७१. एक बार हरिसभा में एक प्रसिद्ध पण्डित प्रवचन दे रहा था। प्रवचन में उसने कहा, "ईश्वर नीरस हैं, उनमें कोई रस नहीं है; तुम लोग अपने प्रेम-भक्ति के द्वारा उन्हें सरस कर लो।" जब मैंने यह सुना तो मुझे स्मरण हो आया – एक लड़के ने कहा था, 'मेरे मामा के यहाँ गोशालाभर घोड़े है!' गोशाला में घोड़ा! इसी से समझ में आ जाता है कि घोड़ा-वोड़ा कुछ नहीं है, लड़का झूठ बोलता है।

ईश्वर, जो रसस्वरूप, आनन्दस्वरूप हैं, उन्हीं को नीरस कहना! इसी से पता चल जाता है कि उस व्यक्ति ने ईश्वर क्या है यह नहीं जाना है।

१७२. प्रश्न – आजकल जिस तरह का धर्मप्रचार हो रहा है उसके बारे में आपकी क्या राय है?

उत्तर – यह तो एक जन के लायक भोजन तैयार कर सौ जनों को न्यौता देने की तरह है। थोड़ीसी साधना करते ही गुरुगिरी करने लग जाते हैं!

१७३. पहले हृदयमन्दिर में भगवान् को प्रतिष्ठित कर लो, उनके दर्शन कर लो; बाद में इच्छा हो तो लेक्चर देना। संसार में आसक्ति के रहते और विवेक-वैराग्य के न रहते सिर्फ 'ब्रह्म ब्रह्म' कहने से क्या होनेवाला? मन्दिर में देवता तो हैं नहीं, व्यर्थ शंख फूँकने से क्या होगा?

१७४. मैं एक दिन पंचवटी की ओर से जा रहा था। जाते हुए मैंने एक मेढक की आवाज सुनी। सुनकर मैंने अन्दाज किया कि जरूर उसे साँप ने पकड़ा है। काफी देर के बाद वहाँ से लौटते समय मुझे फिर वही आवाज सुनाई देने लगी। झाड़ियों की ओर झाँककर देखा तो एक डोड़हा साँप एक मेढ़क को मुँह में पकड़े हुए था। वह न उसे निगल सकता था, न छोड़ ही सकता था, बेचारे मेंढ़क की दुर्दशा का अन्त नहीं हो रहा था। तव मैंने सोचा कि अगर इसे कोई असल नाग साँप पकड़ता तो तीन ही पुकार में यह ठण्डा हो जाता। इसे डोड़हा ने पकड़ा है, इसी कारण साँप भी बेहाल हो रहा है और मेंढक भी!

यदि अज्ञानी जीव गुरु बनकर दूसरे को भवबन्धन से मुक्त करने जाए

तो ऐसे कच्चे गुरु से गुरु की भी दुर्दशा होती है और शिष्य की भी। न तो शिष्य का अहंकार दूर होता है और न उसके भवबन्धन ही कटते हैं। कच्चे गुरु के पल्ले पड़ने से शिष्य कभी मुक्त नहीं होता। किन्तु यदि सद्‌गुरु हो तो जीव का अहंकार तीन ही पुकार में दूर हो जाता है।

१७५. एक धर्मप्रचारक धार्मिक प्रवचन देते हुए श्रोताओं के हृदय में प्रबल भक्तिभाव का स्रोत बहा देता था परन्तु उसका व्यक्तिगत जीवन उतना अच्छा नहीं था। उसके जीवन की ओर देख दु:खित होकर मैंने उससे एक दिन पूछा, "क्यों भाई, तुम लोगों के हृदय में तो खूब भक्तिभाव जगाते हो, पर स्वयं इस तरह का हीन जीवन कैसे बिताते हो?" उस व्यक्ति ने हाथ जोड़कर नम्रता के साथ उत्तर दिया – "महाराज, यह सही है कि झाड़ू स्वयं अपवित्र होती है, पर वह जिस जगह को झाड़ती है उसे साफ ही करती है।"* यद्यपि मैं उसे कुछ उत्तर नहीं दे सका।

यथार्थ धर्मोपदेष्टा कौन है?

१७६. वही ठीक-ठीक आचार्य है जिसे सम्यक् ज्ञान का आलोक मिला है।

१७७. दुनिया में ऐसे बहुतसे लोग हैं जिन्होंने बर्फ के बारे में सिर्फ सुना है, बर्फ को आँखों से देखा नहीं है; इसी प्रकार ऐसे अनेक धर्मप्रचारक हैं जिन्होंने ईश्वरीय तत्त्व के बारे में शास्त्र में पढ़ा भर है, अपने जीवन में उसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया। फिर ऐसे भी कई लोग हैं जिन्होंने बर्फ देखी तो है पर चखी नहीं; इसी प्रकार ऐसे अनेक प्रचारक हैं जिन्हें ईश्वर की महिमा का दूर से थोड़ासा आभास तो मिला है परन्तु उनके यथार्थ स्वरूप का बोध नहीं हुआ है। जिसने बर्फ खायी हो वही बर्फ के गुणधर्म ठीक-

---

* कोई यह उपदेश पढ़कर ऐसा न समझें कि यह इस अध्याय के अन्तर्गत विषयवस्तु के विरुद्ध है; क्योंकि इस तरह के प्रचार का जो प्रभाव पड़ता है यह अस्थायी होता है, यथार्थ आध्यात्मिक अनुभवसंपन्न महापुरुषों के उपदेश से शिष्यों के जीवन में जिस प्रकार स्थायी परिवर्तन हो जाता है, वैसा इससे नहीं होता।

ठीक बता सकता है; इसी तरह जिसने शान्त, दास्य, सख्य, मधुर आदि विभिन्न सम्बन्धों के द्वारा ईश्वर को विभिन्न भावों में प्राप्त किया है, जो उनमें विलीन होकर एक हो गया है, वही उनके गुणों का यथार्थ रूप से वर्णन कर सकता है।

१७८. अगर कोई ऐसा समझे कि 'मैं सम्प्रदाय का नेता हूँ, मैंने यह सम्प्रदाय बनाया है' तो वह 'कच्चा मैं' है। परन्तु यदि कोई ईश्वर का साक्षात्कार कर उन्हीं के आदेश से लोककल्याण के लिए प्रचार करता हो तो उसमें कोई हानि नहीं। परीक्षित् को भागवत सुनाने के लिए शुकदेव को ऐसा आदेश हुआ था।

१७९. घड़ा अगर पानी से भरा हो तो आवाज नहीं करता। ब्रह्मज्ञान हो जाने पर मनुष्य चुप हो जाता है, ज्यादा नहीं बोलता। यदि कहो कि नारदादि का तो ऐसा नहीं था, तो कहा जा सकता है कि हाँ, नारद, शुकदेव आदि ने समाधि के पश्चात् जीव के प्रति प्रेम और करुणा से प्रेरित हो उस भूमि से कुछ सीढ़ियाँ नीचे उतर आकर लोकशिक्षा दी थी।

१८०. सिद्ध पुरुष दो श्रेणियों के होते हैं। एक प्रकार के सिद्ध ज्ञानलाभ करने के बाद चुप हो जाते हैं और दूसरों की चिन्ता न कर स्वयं ही आनन्द का उपभोग करते हैं, और दूसरे ऐसे होते हैं जिन्हें ज्ञानप्राप्ति का आनन्द अकेले ही लूटने में मजा नहीं आता, वे सब को जोर से पुकारते हुए कहते हैं, "आओ, आओ, मेरे साथ तुम भी यह आनन्द लूटो!"

१८१. फूल के पूरी तरह खिल जाने पर उसकी सुगन्ध से मधुमक्खियाँ अपने आप खिंची चली आती हैं। कहीं मिठाई रखी हो तो वहाँ चींटियाँ आप ही चली आती हैं। इसके लिए उन्हें आमन्त्रण नहीं देना पड़ता। इसी प्रकार जब साधक पूर्ण, सिद्ध हो जाता है तो उसके पावन चरित्र की मधुर सुगन्ध चारों ओर फैल जाती है और सत्यप्राप्ति की स्पृहा रखनेवाले व्यक्ति अपने आप उसकी ओर आकर्षित होते हैं। उसे उपदेश सुनाने के लिए श्रोता की तलाश नहीं करनी पड़ती।

१८२. कहीं मिठाई के कण पड़े हों तो चीटियाँ वहाँ अपने आप

आ जुटती हैं। तुम स्वयं मिश्री बनने का प्रयत्न करो, अर्थात् भगवद्-बोध का माधुर्य प्राप्त करने की चेष्टा करो, फिर तुम्हारे निकट भक्तगण चींटियों की तरह आप ही चले आएँगे।

अगर तुम ईश्वरीय आदेश बिना पाए प्रचार करने लगो तो तुम्हारे प्रचार में प्रेरणाशक्ति नहीं होगी, उसे कोई नहीं सुनेगा। भक्ति, ज्ञान या अन्य क़िसी भी साधन के द्वारा पहले ईश्वरलाभ कर लेना चाहिए। फिर यदि ईश्वर का आदेश मिले तो चाहे जितना प्रचार किया जा सकता है। इससे ईश्वरीय शक्ति और सामर्थ्य प्राप्त होती है और तभी ठीक-ठीक प्रचारकार्य हो सकता है।

१८३. जब आग जलती है तो न जाने कहाँ से पतिगे आकर उसमें गिरते हुए अपने प्राणों का बलिदान देने लगते हैं; आग कभी पतिंगों को बुलाने नहीं जाती। सिद्ध पुरुषों का प्रचार भी इसी तरह का होता है। वे किसी को बुलाने नहीं जाते, फिर भी न जाने कहाँ से सैकड़ों, हजारों लोग उनके निकट उपदेश ग्रहण करने अपने आप आने लगते हैं।

१८४. प्रश्न – यथार्थ प्रचार कैसा होता है?

उत्तर – लोगों को भजन में लगाने की कोशिश न कर यदि कोई स्वयं ही ईश्वर को भजता रहे तो उसी से काफी प्रचार होता है। जो स्वयं इस जन्म-मरण के फेरे से मुक्त होने के लिए प्रयत्न करता है वही ठीक-ठीक प्रचारक है। जो स्वयं मुक्त होता है, उसके निकट शिक्षा ग्रहण करने के लिए उत्सुक होकर दूर-दूर से सैकड़ों लोग आने लगते हैं। गुलाब के खिलने पर भौंरे अपने आप आ जुटते हैं।

१८५. जब किसी बड़े व्यापारी की आढ़त में अनाज तौला जाता है, तो तौलनेवाला बिना रुके तौलता ही जाता है, और एक व्यक्ति उसके आगे अनाज की ढेरी सतत ढकेलता जाता है, ताकि कहीं कम न पड़े। परन्तु छोटी दुकान का अनाज देखते ही देखते खत्म हो जाता है। इसी प्रकार, अपने भक्तों को भगवान् स्वयं सतत स्फूर्ति देते रहते हैं, उनमें नये-नये भाव प्रेरित करते रहते हैं, इसलिए उनके भावों में कभी कमी नहीं पड़ती। किन्तु जो केवल किताबी ज्ञान के भरोसे रहते हैं, उनके भाव छोटी दुकान के रसद

के समान देखते ही देखते खत्म हो जाते हैं।

१८६. गैसबत्ती शहर के विभिन्न भागों में विभिन्न रूप से जलती है, परन्तु सभी स्थानों में गैस एक ही आधार से आती है। इसी प्रकार, विभिन्न देशों में, विभिन्न समय पर, जो विभिन्न जातियों के धर्मप्रचारक प्रकट होकर दीपक की भाँति ज्ञानालोक प्रकाशित करते हैं, वे सभी एक ही परमेश्वर से आते हैं।

१८७. जब वारिश का पानी छत से बहता हुआ शेर या अन्य किसी प्राणी के मुँह के आकारवाले परनाले से नीचे गिरता है, तब ऐसा दिखाई देता है कि मानो पानी उस शेर के मुँह से आ रहा हो, परन्तु वास्तव में पानी तो आसमान से आता है। इसी तरह, साधु-सन्तों के मुख से जो सत्य या ईश्वरीय तत्त्व प्रचारित होते हैं, वे वास्तव में उनके स्वयं के नहीं होते, वे ईश्वर के ही निकट से आते हैं।

□□□

अध्याय ७

संसारासक्त लोगों का जीवन

संसारी जीव के लक्षण

१८८. मनुष्य दो प्रकार के होते हैं – मानुष और 'मन-होश'। जो मनुष्य भगवान् के लिए व्याकुल होते हैं वे 'मन-होश' हैं; और जो 'कामिनी-कांचन' के पीछे पागल बने रहते हैं वे साधारण मानुष हैं।

१८९. जिस प्रकार एक ही किस्म का मुखौटा लगाकर कई तरह के लोग घूम सकते हैं, उसी प्रकार मनुष्य का चोला धारण कर घूमनेवाले तरह-तरह के प्राणी पाए जाते हैं। ऊपर से सभी मनुष्य जैसे दिखाई देते हैं, पर कोई खतरनाक चीता है, तो कोई भयंकर रीछ; कोई धूर्त लोमड़ी है, तो कोई जहरीला साँप।

१९०. जिस प्रकार चलनी सारयुक्त वस्तुओं को छानकर बाहर निकाल देती है और असार वस्तुओं को अपने में रख लेती है, उसी प्रकार दुर्जन व्यक्ति अच्छी बातों को तो छोड़ देते हैं पर बुरी बातें अपने में रख लेते हैं। सूप का स्वभाव इसके ठीक विपरीत होता है। सज्जनों का स्वभाव सूप ही की तरह सारग्राही होता है।

१९१. संसार में कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनके जीवन में किसी प्रकार का बन्धन नहीं होता, किन्तु ऐसा होते हुए भी वे स्वयं ही किसी न किसी वस्तु से नाता जोड़कर स्वयं को आसक्ति के बन्धन में बाँध लेते हैं। वे मुक्त होना नहीं चाहते। अगर किसी व्यक्ति के स्वयं का कोई परिवार नहीं है, और न उस पर सगे-सम्बन्धियों की देखरेख का भार ही है, तो वह कोई

कुत्ता, बिल्ली, बन्दर या तोता पाल लेता है और किसी तरह अपनी संसार-तृष्णा को तृप्त करना चाहता है। मनुष्य पर माया का ऐसा ही जबरदस्त प्रभाव है।

१९२. हाल ही में जन्मा हुआ बछड़ा बहुत फुर्तीला नजर आता है। वह अपनी माँ का दूध पीता और दिनभर मस्ती में उछलता-कूदता रहता है। परन्तु कुछ दिनों बाद, जैसे ही उसके गले में रस्सी बाँध दी जाती है, वह सूखने लग जाता है, उसकी सारी उमंग जाने कहाँ चली जाती है और वह दुखी, मनहूस चेहरा लिये दीन नजरों से ताकने लगता है। इसी प्रकार जब तक कोई युवक संसार की झंझटों से मुक्त रहता है तब तक वह आनन्द और उत्साह से पूर्ण रहता है। परन्तु जैसे ही वह विवाह-बन्धन में बँधकर संसार में फँस जाता है और उस पर अपने परिवार की जिम्मेंदारी का बोझ लाद दिया जाता है, उसका सारा आनन्द जाने कहाँ लापता हो जाता है। उसके चेहरे पर हताशा, उदासीनता और उद्विग्नता का भाव छा जाता है; उसके चेहरे की रौनक, गालों की लाली सब उड़ जाती है और चिन्ता के कारण ललाट पर बल पड़ जाते हैं। जो जीवन भर पवन की तरह मुक्त, खिले फूल जैसा ताजा और ओसकण जैसा पवित्र बालक बना रह सकता है, वही धन्य है।

१९३. जिस प्रकार छोटे बालक या बालिका को सम्भोग-सुख क्या है यह नहीं समझाया जा सकता, उसी प्रकार विषयासक्त संसारी जीव को ब्रह्मानन्द नहीं समझाया जा सकता।

१९४. संसारी जीव संसार में सदा असह्य दु:ख-क्लेश भोगता है किन्तु फिर भी वह कामिनी-कांचन का चस्का छोड़कर भगवान् में मन नहीं लगा पाता।

१९५. संसारी जीव को धर्मप्रसंग नहीं सुहाता। वह स्वयं तो कभी भजन-कीर्तन या हरिनाम सुनता ही नहीं, बल्कि दूसरों को भी सुनने नहीं देता। वह धार्मिक संस्थाओं और धर्मात्माओं की निन्दा करता है और कोई ईश्वर की उपासना करे तो उसकी हँसी उड़ाता है।

१९६. यहाँ भक्तों के साथ कभी-कभी विषयासक्त संसारी लोग भी आ जाते हैं। उन्हे धर्म-सम्बन्धी बातें बिलकुल नहीं सुहाती। अगर उनके साथी अधिक देर तक धर्मप्रसंग सुनते रहें तो वे बेचैनी से अधीर हो उठते हैं। जाने के लिए उतावले होकर वे अपने साथियों को बार-बार कोंचते रहते हैं, "चलो न, और कब तक बैठोगे!" यदि उनके साथी न उठें और कहें कि "थोड़ा रुक जाओ, अभी चलेंगे", तो थोड़ी देर में उकताकर वे कहते हैं, "अच्छा, तो तुम यहीं बैठो, हम तब तक नाव पर बैठकर तुम्हारी राह देखते हैं।"

१९७. कबूतर के गले को ऊपर से टटोलने पर जैसे गले में भरे हुए मटर के दाने साफ महसूस होते हैं, वैसे ही विषयासक्त संसारी लोगों से बातचीत करते ही उनमें भरी हुई तरह-तरह की विषयवासनाएँ स्पष्ट प्रतीत हो जाती हैं।

१९८. दुर्जन व्यक्ति का मन घुँघराले बाल की तरह होता है। जिस प्रकार कितनी भी कोशिश करो पर घुँघराले बाल को सीधा नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार दुर्जन व्यक्ति के मन को प्रयत्न करने पर भी सरल, शुद्ध नहीं किया जा सकता।

१९९. साधु का कमण्डलू चारों धाम घूम आता है पर उसका कड़ुआपन ज्यों का त्यों ही रह जाता है। विषयी जीव का मन भी ऐसा ही होता है।

२००. कच्ची मिट्टी से कुम्हार चाहे जैसी वस्तु गढ़ लेता है, परन्तु मिट्टी यदि एक बार जलकर पक्की हो जाए तो उसके द्वारा गढ़ना नहीं हो सकता। इसी तरह यदि हृदय विषयवासना की आग में एक बार जलकर पक जाए तो उस पर ईश्वरीय भावों का प्रभाव नहीं होता, उसे अभीप्सित आकार नहीं दिया जा सकता।

२०१. जिस प्रकार पत्थर पानी को नहीं सोखता, उसी प्रकार बद्ध जीव धर्मोपदेश को आत्मसात् नहीं करता है।

२०२. पत्थर पर कीला ठोंकने से वह अन्दर नहीं जाता, परन्तु जमीन में आसानी से चला जाता है; इसी प्रकार सत्पुरुषों का उपदेश बद्धजीवों

के हृदय में प्रवेश नहीं कर पाता, किन्तु विश्वासी व्यक्तियों के हृदय में सरलता के साथ गहराई तक चला जाता है।

२०३. नरम मिट्टी पर आसानी से किसी वस्तु की छाप पड़ जाती है, पर पत्थर पर यह सम्भव नहीं होता; उसी प्रकार, भक्त के हृदय में ही ईश्वरीय तत्त्वों की छाप पड़ती है, बद्धजीवों के हृदय में नहीं।

२०४. जिस प्रकार पुल के नीचे नाले का पानी एक ओर से आता और दूसरी ओर से बह निकलता है, उसी प्रकार धार्मिक बातें बद्धजीवों के एक कान से भीतर प्रवेश करती हैं और दूसरे कान से बाहर निकल जाती हैं, उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

२०५. संसारासक्त व्यक्ति किस प्रकार का होता है? वह मानो हण्डी में पाले हुए नेवले की तरह होता है। नेवला पालनेवाले नेवले के लिए दीवार पर एक हण्डी या गमला लटका देते हैं और नेवले के गले में एक रस्सी बाँधकर उसके दूसरे छोर में एक भारी इँट बाँध देते हैं। नेवला हण्डी में से निकलकर दीवार नीचे उतरकर इधर-उधर घूमता है पर जब आहट पाकर चौंक जाता है तो झट ऊपर चढ़कर हण्डी में छिप जाता है। परन्तु वह हण्डी में अधिक समय तक नहीं रह पाता। उसके गले की रस्सी के दूसरे छोर पर जो ईंट बँधी होती है, उसका भार उसे नीचे खींच लाता है। संसारी जीव का भी यही हाल है। संसार के दु:ख-कष्टों से पीड़ित हो बीच-बीच में वह मजबूर हो संसार के ऊर्ध्व उठकर भगवान् का आश्रय ग्रहण करता है, परन्तु वह उस अवस्था में अधिक समय के लिए नहीं रह पाता, संसाररूपी ईट के बोझ से वह फिर नीचे उतर आकर संसार में मग्न हो जाता है।

२०६. गाँवों में धान के खेतों के किनारे में गढ़े बनाकर उसमें बाँस के बने जाल लगा दिए जाते हैं। गढ़े के अन्दर चमकते हुए पानी की झलक को देख छोटी-छोटी मछलियाँ मारे आनन्द के उसमें घुस पड़ती हैं, पर एक बार घुसने पर फिर वे उसमें से बाहर नहीं निकल पातीं, उसी में फँस जाती हैं। इसी तरह संसार की बाहरी चमक-दमक से मोहित होकर लोग उसमें प्रवेश कर जाते हैं और उसकी उलझन में फँसकर मारे जाते हैं। संसार

के भँवर में प्रवेश करना आसान है किन्तु उसमें से बाहर निकल आना अत्यन्त कठिन।

२०७. बद्धजीवों – संसारी जीवों – को किसी तरह होश नहीं आता। वे इतना दुःख भोगते हैं, इतना धोखा खाते हैं, इतनी विपदाएँ झेलते हैं, फिर भी वे नहीं चेतते – उन्हें चैतन्य नहीं होता।

ऊँट कटीली घास खाना बहुत पसन्द करता है। किन्तु जितना खाता है उतना ही मुँह से खून गिरता है, फिर भी वह कटीली घास खाते ही रहता है, उसे नहीं छोड़ता। संसारी लोग भी इतना शोक-ताप पाते हैं, परन्तु कुछ ही दिनों के अन्दर सब कुछ भूलकर ज्यों के त्यों हो जाते हैं। बीबी गुजर गई या बदचलन निकली, फिर भी वह दूसरी शादी कर लेता है। बच्चा चल बसा, कितना शोक हुआ, पर कुछ ही दिनों में सब भूल बैठता है। बच्चे की वही माँ, जो शोक के मारे अधीर हो रही थी, कुछ दिनों बाद फिर केश सँवारती है, गहने पहनती है। ऐसा व्यक्ति बेटी के ब्याह में सारा धन खर्च कर तबाह हो जाता है, फिर भी उसके घर हर साल बच्चे पैदा होते ही जाते हैं। मुकदमेबाजी में सब कुछ गँवाकर कंगाल हो जाता है, तो भी मुकदमा लड़ने के लिए सदा तैयार ही रहता है। जितने लड़के-बच्चे हुए हैं, उन्हीं को ठीक से खिला-पिला नहीं सकता, पढ़ा नहीं सकता, अच्छी जगह में रख नहीं सकता, और ऊपर से हर साल बच्चा पैदा करता जाता है।

फिर कभी-कभी तो 'साँप-छछूँदर'वाली स्थिति हो जाती है – न निगल सकता है और न उगल ही सकता है। बद्धजीव अगर कभी समझ भी गया कि संसार में कुछ सार नहीं है, अमड़े के फल की तरह सिर्फ गुठली और छिलका ही है, तो भी वह उसे छोड़ नहीं सकता, मन को ईश्वर की ओर नहीं लगा सकता।

अगर उसे संसार से हटाकर किसी अच्छे वातावरण में रखा जाए तो वह क्लेश से तड़प-तड़पकर मर जाएगा। विष्ठा का कीट विष्ठा में ही आनन्द से रहता है, उसी में वह हृष्ट-पुष्ट होता है। अगर उसे चावल की हाँड़ी में रख दिया जाए तो वह मर जाएगा।

२०८. जिस हाँड़ी में एक बार दही जमाया गया हो उसमें कोई दूध नहीं रखता कि कहीं वह फट न जाए। उस हाँडी को रसोई बनाने के काम में भी नहीं लाया जा सकता, क्योंकि चूल्हे पर चढ़ाने से उसके तड़ककर फूट जाने का डर रहता है। इस प्रकार वह हाँड़ी करीब-करीब बेकार ही हो जाती है। जो यथार्थ अनुभवी गुरु होता है वह संसारी शिष्य को कभी ऊँचे और मूल्यवान् उपदेश प्रदान नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि ऐसा करने पर शिष्य निश्चित ही उन उपदेशों का अर्थ उलटा समझकर अपनी कार्यसिद्धि के लिए उनका मनमाना प्रयोग करेगा। वह गुरु ऐसे शिष्य को कोई ऐसा काम नहीं बताता जिसमें थोड़ी मेहनत लगे, जिससे कहीं शिष्य ऐसा न सोचने लगे कि गुरुजी अपने फायदे के लिए हमसे यह काम करवा ले रहे हैं।

२०९. इच्छा होते हुए भी मनुष्य संसार का त्याग नहीं कर सकता क्योंकि वह पूरी तरह प्रारब्ध कर्म और पूर्व संस्कारों के वशीभूत होता है। एक बार एक योगी ने किसी राजा से कहा, "तुम इस वन में मेरे पास बैठकर भगवान् का ध्यान-चिन्तन करो।" तब राजा बोला, "नहीं महाराज, अभी भी मेरे भोग बाकी हैं। मैं आपके निकट रह तो सकता हूँ, मगर विषयभोग की तृष्णा मेरे भीतर बनी ही रहेगी। अगर मैं इस वन में रहूँ तो हो सकता है कि यहीं पर एक राज्य बस जाए!"

संसारियों की भक्ति की अस्थिरता

२१०. विषयी लोग संसार में पार्थिव लाभ की आशा से अनेक दान-पुण्य आदि धार्मिक कार्य किया करते हैं, परन्तु दुःख, दैन्य, दुर्दशा के आते ही वे यह सब भूल जाते हैं। तोता वैसे तो दिनभर 'राधाकृष्ण राधाकृष्ण' रटता है, पर बिल्ली के धर दबाते ही 'राधाकृष्ण' को भूलकर 'टें टें' चिल्लाने लग जाता है।

इसीलिए तुमसे कहता हूँ कि ऐसे लोगों को धर्मोपदेश देना व्यर्थ है। तुम कितना भी उपदेश दो, ये तो ज्यों के त्यों विषयासक्त बने रहेंगे।

२११. स्प्रिंग लगी हुई गद्दी किसी के बैठते ही दब जाती है और उसके उठते ही पहले जैसी हो जाती है। संसारी लोग भी इसी तरह के होते हैं। जब तक वे धर्मप्रसंग सुनते हैं तब तक उनमें धर्मभाव बना रहता है, पर ज्योंही वे अपने रोज के सांसारिक कामों में प्रवेश करते हैं त्योंही सब कुछ भूलकर पूर्ववत् विषयी बन जाते हैं।

२१२. लोहा जब तक भट्ठी में रहता है तब तक लाल दिखाई देता है, बाहर निकालते ही काला बन जाता है। इसी तरह, संसारी मनुष्य जब तक किसी मन्दिर या धार्मिक व्यक्तियों के सत्संग में रहते हैं तब तक वे धर्मभावपूर्ण रहते हैं, परन्तु जैसे ही वे वहाँ से बाहर आते हैं, उनका वह भक्तिभाव का उच्छ्वास जाने कहाँ चला जाता है।

२१३. जिस प्रकार मक्खी अभी भगवान् के भोग पर बैठती है तो दूसरे ही क्षण सड़े घाव पर, उसी प्रकार विषयासक्त संसारी लोगों का मन अभी धर्मप्रसंग में रत रहता है तो दूसरे ही क्षण कामिनी-कांचन के भोग-सुख में मग्न हो जाता है।

२१४. विषयी लोगों का मन गोबर के कीड़े की तरह होता है। गोबर का कीड़ा सदा गोबर में रहता है और गोबर में ही रहना पसन्द करता है। यदि कोई उसे गोबर से उठाकर कमल के फूल पर बैठा दे तो वह छटपटाकर मर जाता है। इसी तरह विषयी पुरुष संसार की विषय-वासनाओं से भरे दूषित वातावरण को छोड़ एकक्षण के लिए भी बाहर नहीं जाना चाहता।

२१५. विषयी लोगों का 'भगवान्' किस प्रकार का होता है जानते हो? जैसे घर में चाची और ताई को लड़ते हुए कसम खाते देख बच्चे भी खेलते समय आपस में कहते हैं, 'भगवान् कसम!' या, जैसे कोई शौकीन बाबू सज-धजकर पान चबाते चबाते, हाथ में छड़ी घुमाते हुए बगीचे में शान से टहलते टहलते एक फूल तोड़कर मित्र से कहता है, "वाह! भगवान् ने कैसा ब्यूटिफुल (सुन्दर) फूल बनाया है!" विषयी लोगों का यह भाव क्षणिक होता है, जैसे तप्त लोहे पर पानी के छींटे!

इसीलिए कहता हूँ, भगवान् के लिए व्याकुल होओ। डुबकी लगाओ।

भक्तिसमुद्र में गहरी डुबकी लगाओ।

संसारी जीव और साधना

२१६. एक किसान ने सारा दिन गन्ने के खेत में पानी सींचने के बाद जाकर देखा कि खेत में बूँद भर भी पानी नहीं पहुँचा है; खेत में कुछ बड़े-वड़े बिल थे और सारा पानी उन बिलों में से होकर दूसरी ही ओर बह गया था। इसी प्रकार, जो व्यक्ति मन में विषय-वासना, मान-यश, सुख-सुविधा की आकांक्षा रखते हुए ईश्वर की उपासना करता हैं, वह यदि जीवन भर भी नियमित रूप से साधना करता रहे तो भी अन्त में यही देखता है कि उसकी सारी साधना उन वासनारूपी बिलों में से बाहर निकल गई है और वह जैसा का तैसा ही रह गया है, तनिक भी प्रगति नहीं कर पाया है।

२१७. ईश्वर का ध्यान करते समय मन स्थिर क्यों नहीं होता? मक्खी कभी हलवाई की दुकान में रखी मिठाई पर बैठती है सही, पर इतने में अगर कोई मेहतर मैले की टोकरी लेकर सड़क पर से गुजरे तो वह तुरन्त मिठाई को छोड़ मैले पर जा बैठती है। परन्तु मधुमक्खी सदा फूलों पर ही बैठती है, गन्दी चीजों पर कभी नहीं बैठती। संसारी जीव भी, मक्खी की ही तरह, बीच-बीच में क्षणभर भगवद्भक्ति का स्वाद चखता है, पर दूसरे ही क्षण उसकी स्वाभाविक विषयतृष्णा उसे संसार के विषयभोगों में खींच लाती है। किन्तु जो परमहंस होते हैं वे सदा भगवान् में तल्लीन रहते हुए भक्तिरस का पान करते हैं।

२१८. अगर किसी पर भूत का आवेश हो जाए तो सरसों के दानों पर मन्त्र पढ़कर उनसे भूत उतारा जाता है, परन्तु जिन सरसों के दानों के द्वारा भूत उतारना है, उन्हीं के भीतर यदि भूत घुस जाए तो उनके द्वारा भूत भला कैसे उतरे! जिस मन के द्वारा ध्यान-भजन, भगवच्चिन्तन करना हैवही यदि विषय-चिन्ता में लिप्त हो, तो उसके द्वारा भला साधन-भजन कैसे सम्भव होगा?

२१९. गीली दियासलाई को तुम कितना भी घिसो, वह नहीं जलती,

पर सूखी दियासलाई एक बार घिसते ही तुरन्त जल जाती है। सच्चे भक्त का मन सूखी दियासलाई के समान होता है, थोड़ा ईश्वर का नाम सुनते ही उसमें प्रेम-भक्ति की ज्योति जल उठती है; परन्तु संसारी व्यक्ति का मन गीली दियासलाई की भाँति काम-कांचन की आसक्ति में भीगा होता है, उसे ईश्वर की महिमा कितनी भी सुनाई जाए, उसमें भगवद्‌भक्ति की वह्नि नहीं सुलगाई जा सकती।

२२०. संसारी व्यक्ति में ज्ञानी पुरुषों के समान ज्ञान और बुद्धि हो सकती है, वह योगियों की तरह कष्ट-क्लेश सह सकता है, और तपस्वियों की भाँति त्याग कर सकता है; परन्तु उसके ये सारे श्रम व्यर्थ ही होते हैं, क्योंकि उसकी शक्तियाँ गलत दिशा में प्रवाहित होती हैं, वह अपनी सारी शक्ति नाम-यश और धन कमाने में ही लगाता है – भगवान् के लिए नहीं।

२२१. मैले दर्पण में सूर्य का प्रकाश प्रतिबिम्बित नहीं होता, स्वच्छ दर्पण में ही वह प्रतिबिम्बित होता है। मायामुग्ध, अशुद्ध और अपवित्र हृदयवाले व्यक्ति ईश्वरीय महिमा का प्रकाश नहीं देख पातें, विशुद्धहृदय व्यक्ति ही उसे देख पाते हैं। इसलिए विशुद्ध बनने का प्रयत्न करो।

२२२. दूध में अगर उसका दुगुना पानी मिला हुआ हो तो उसकी खीर बनाने में बहुत समय और अत्यधिक श्रम लगता है। विषयी लोगों के मन में मलिन विषय-वासना और कुविचारों की अत्यधिक मिलावट होने के कारण उसे शुद्ध और पवित्र बनाने के लिए दीर्घ समय तक कठिन परिश्रम करना पड़ता है।

२२३. प्रश्न – संसारी जीव सब कुछ त्यागकर भगवान् को क्यों नहीं भज सकता है?

उत्तर – क्या कोई नट रंगमंच पर उतरते ही अपना मुखौटा हटा देता है? संसारियों को पहले नाटक में अपना काम पूरा कर लेने दो, उसके बाद ठीक समय पर वे अपना बनावटी साज उतारेंगे।

२२४. जो घोर विषयासक्त जीव होता है, वह विष्ठा के कीट की तरह होता है। यह कीट सदा विष्ठा ही में रहता है, वहीं मरता है, विष्ठा

के अलावा वह और कुछ भी नहीं जानता। जिसकी विषयासक्ति इतनी तीव्र नहीं, वह जीव मानो मक्खी की तरह होता है। मक्खी कभी विष्ठा पर तो कभी मिठाई पर बैठती है। मुक्त जीव मधुमक्खी की तरह होता है। मधुमक्खी सदा मधु का ही स्वाद लेती है, अन्य वस्तु का नहीं।

२२५. बद्ध जीव मगर की तरह होते हैं। मगर की देह पर शस्त्र द्वारा वार करने पर शस्त्र छिटककर गिर पड़ता है, मगर को कुछ नहीं होता; सिर्फ पेट पर वार करने पर ही वह मरता है। इसी तरह, बद्ध जीव को कितना भी धर्मोपदेश दो, कितनी भी ज्ञान-वैराग्य की बातें सुनाओ, उसके हृदय पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता। इसके लिए तो उसकी आसक्ति के विषयों पर ही प्रहार करना पड़ेगा।

२२६. संसारी लोगों से अगर कहो कि सब कुछ त्यागकर भगवान् के चरणकमलों में मग्न होओ, तो वे कभी नहीं सुनेंगे। इसलिए गौर-निताई* दो भाइयों ने मिलकर सलाह करके विषयी लोगों को आकर्षित करने का उपाय ढूँढ़ निकाला। वे कहने लगे – "तुम्हें मागुर मछली का रसा मिलेगा, नवयुवती की गोद मिलेगी, तुम 'हरि हरि' बोलो।" पहली दो वस्तुओं के लोभ से अनेक लोग उनके साथ हरिनाम लेने में शामिल होने लगे। फिर धीरे-धीरे जब उन्हें हरिनाम-रस का थोड़ा स्वाद मिलने लगा तब निताई-गौर के कहने का अर्थ उनकी समझ में आ गया। मागुर मछली का रसा और कुछ नहीं – हरिप्रेम में विभोर होने पर नेत्रों से जो आँसुओं की धार बहने लगती है, वही मागुर मछली का रसा है। और नवयुवती के माने हैं पृथ्वी; नवयुवती की गोद मिलना यानी हरिप्रेम में ओतप्रोत होकर धरती पर लोटना।

□□□

* प्रेमावतार गौरांग या श्रीचैतन्यदेव तथा उनके सहचर नित्यानन्द।

खण्ड २

जीव का क्रमविकास

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।।

– जो पापकर्मों से विरत नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हुई हैं, जो समाहित-चित्त नहीं है, जिसका मन अशान्त है, वह पुरुष इस आत्मा को प्रज्ञा के द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता।

(कठ. १।२।२४)

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं
शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि।।

– हे सोम्य, उपनिषत्प्रसिद्ध महान् अस्त्ररूप धनुष लेकर उस पर उपासना द्वारा पैनाया हुआ तीक्ष्ण बाण चढ़ा; तथा ब्रह्मभावमग्न चित्त से उसे खींचते हुए उस अक्षर-रूप लक्ष्य का वेधन कर।

(मुण्डक २।२।३)

यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षम्
ओतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या
वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः।।

– जिसमे द्युलोक, पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा सभी प्राणों के सहित मन ओतप्रोत है उस एकमात्र आत्मा ही को जानो, अन्य सभी बातों को छोड़ दो; यही अमृत का – अमरत्व-प्राप्ति का – सेतु है।

(मुण्डक २।२।५)

अध्याय ८

विभिन्न साधक तथा उनके आदर्श

भिन्न-भिन्न प्रकार के साधक

२२७. पतंगें लाखों में एक-दो ही कटती हैं। इसी तरह सैकड़ों साधक साधना करते हैं, पर उनमें एक या दो ही भवबन्धन से मुक्त हो पाते हैं।

२२८. 'होमा' नामक चिड़िया बहुत ऊँचे आसमान में रहती है, धरती पर कभी नहीं उतरती। वह आसमान में ही अण्डा देती है। अण्डा नीचे गिरते हुए शून्य में ही फूट जाता है। और उसमें से बच्चा निकलकर नीचे गिरने लगता है। पर वह समझ लेता है कि वह नीचे गिर रहा है और झट ऊपर की ओर अपनी माँ के पास उड़ने लगता है। शुकदेव, नारद, ईसा, शंकराचार्य जैसे महापुरुष होमा पक्षी की तरह होते हैं। बाल अवस्था ही में ये संसार के सभी बन्धनों से मुक्त हो सर्वोच्च ईश्वरीय ज्ञान के दिव्य ज्योतिर्मय राज्य में जा पहुँचते हैं।

२२९. योगी दो प्रकार के होते हैं – गुप्त योगी और व्यक्त योगी। जो गुप्त योगी होते हैं, वे गुप्त रूप से साधन-भजन किया करते हैं, लोगों को बिलकुल पता नहीं चलने देते। और जो व्यक्त योगी होते हैं, वे योगदण्ड आदि बाह्य चिह्न धारण करते हुए लोगों के साथ आध्यात्मिक विषयों की चर्चा किया करते हैं।

२३०. पौधों में साधारणत: पहले फूल आते हैं, बाद में फल, परन्तु लौकी, कुम्हड़े आदि की बेल में पहले फल और उसके बाद फूल होते हैं। इसी तरह साधारण साधकों को तो साधना करने के बाद ईश्वर लाभ होता

है किन्तु जो नित्यसिद्ध होते हैं उन्हें पहले ही ईश्वर का लाभ हो जाता है, साधना पीछे से होती है।

२३१. लावे भूनते समय जो एक-दो लावे चटखकर तसले के बाहर जा गिरते हैं वे ही सब से सुन्दर होते हैं, उनमें कोई दाग नहीं होता। और बाकी जो लावे तसले में रहते हैं, उन पर कहीं न कहीं दाग लग ही जाता है। साधना करते हुए जो साधक संसार का सम्पूर्ण रूप से त्याग कर बाहर चले जाते हैं वे ही पूर्ण बेदाग सिद्ध बन पाते हैं; जो संसार में रहकर सिद्ध बनते हैं उनमें कुछ न कुछ दाग रह ही जाता है।

२३२. सूरज उगने के पहले दही को मथने पर जितना अच्छा मक्खन निकलता है, दिन चढ़ने पर वैसा नहीं निकलता। अपने अन्तरंग युवकभक्तों को सम्बोधित कर श्रीरामकृष्णदेव कहा करते, "तुम लोग सूर्योदय के पहले निकाले गए मक्खन की तरह हो; और गृहस्थ भक्त दिन चढ़ जाने पर निकाले गए मक्खन की तरह हैं।"

२३३. जैसे कच्चे बाँस को आसानी से झुकाया जा सकता है पर पक्का बाँस जबरदस्ती झुकाए जाने पर टूट जाता है, वैसे ही युवकों का मन सरलता से ईश्वर की ओर ले जाया जा सकता है, परन्तु बड़े-बूढ़ों के मन को उस ओर झुकाने की कोशिश करने पर वे भाग खड़े होते हैं।

२३४. तोते के गले में कण्ठी निकल आने पर उसे नहीं पढ़ाया जा सकता, जब तक वह बच्चा रहता है तभी तक आसानी से पढ़ना सीखता है। इसी तरह मनुष्य के बूढ़ा हो जाने पर उसका मन सहज में ईश्वर में स्थिर नहीं होता, बचपन में मन थोड़े ही प्रयत्न से आसानी से स्थिर हो सकता है।

२३५. पका हुआ साबूत आम भगवान् के भोग में और अन्य सभी कामों मे आ सकता है; पर वह अगर कौए के द्वारा ठुनका हुआ हो तो किसी काम में नहीं आता। ऐसा दागी-फल न तो देवता के भोग में चढ़ता है, न ब्राह्मण को दान दिया जा सकता है और न स्वयं के खाने के काम में लाया जा सकता है। इसीलिए पवित्रहृदय बालकों और युवकों को धर्ममार्ग पर ले जाने का प्रयत्न करना चाहिए, उन्हें भगवान् की सेवा में लगाना चाहिए,

क्योंकि उनके मन में विषयवासना की कालिमा नहीं लगी होती। अगर मन में एक बार विषयबुद्धि प्रवेश कर जाए या विषयभोगरूपी विकट राक्षस की विकराल छाया पड़ जाए, तो फिर उसे परमार्थपथ पर ले जाना अत्यन्त दूभर हो जाता है।

२३६. बालक का मन सोलहों आना अपने वश में रहता है। (उम्र बढ़ने पर धीरे-धीरे मन कई भागों में विभक्त हो जाता है।) विवाह होते ही उसका आठ आना हिस्सा पत्नी के वश में चला जाता है, फिर सन्तान होने पर चार आना उनमें बँट जाता है। बचा हुआ चार आना मन माँ-बाप, मान-सम्मान, वेश-भूषा, ठाटबाट आदि में लगा रहता है, भगवान् में लगाने के लिए कुछ बचता ही नहीं। इसीलिए छोटी अवस्था में ही मन को भगवान् की ओर लगाया जाए तो सहज में भगवान् की प्राप्ति हो सकती है, परन्तु उम्र बढ़ जाने के बाद यह अत्यन्त कठिन हो जाता है।

२३७. यदि तुम पूछो कि संसाराश्रम के ज्ञानी और संन्यासाश्रम के ज्ञानी में कोई अन्तर है या नहीं, तो मैं यही कहूँगा कि दोनों एक ही हैं – दोनों में एक ही ज्ञान विद्यमान है। केवल इतनी बात है कि संसार में रहनेवाले ज्ञानी के लिए थोड़ा भय रहता है। कामिनी और कांचन के भीतर रहने से कुछ न कुछ पतन का भय रहता ही है। तुम कितने भी बुद्धिमान् होओ, कितने भी सावधान रहो, पर काजल की कोठरी में रहने से तुम्हारे शरीर पर थोड़ासा काला दाग लग ही जाएगा।

२३८. श्रीरामकृष्णदेव ने किसी से कहा था – "तुम पहले संसार कर चुकने के बाद ईश्वरप्राप्ति के लिए आए हो। अगर पहले ईश्वरलाभ कर फिर संसार में प्रवेश करते तो तुम कितना सुख, कितनी शान्ति पाते!"

२३९. प्रश्न – सात्त्विक, राजसिक और तामसिक पूजा-उपासना में क्या अन्तर है?

उत्तर – जो तनिक भी दिखावा या आडम्बर न करते हुए हृदय की गहराई से आन्तरिक भक्तिपूर्वक भगवान् की उपासना करता है, वह सात्त्विक उपासक है। जो पूजा-अनुष्ठान के उपलक्ष में घर की सजावट, नृत्य-गीत,

धूमधाम, उत्तम भोज आदि आडम्बरों की ओर अधिक ध्यान देता है, वह राजसिक उपासक है। जो देवता के सामने सैकड़ो बकरों की बलि चढ़ाता है, मांस-मदिरा आदि का भोग लगाता है और पूजा के नाम पर नाचने-गाने में ही मग्न रहता है, वह तामसिक उपासक है।

यथार्थ साधक के लक्षण

२४०. चकमक पत्थर अगर सैकड़ों साल पानी में पड़ा रहे फिर भी उसके भीतर की अग्नि नष्ट नहीं होती। पानी से बाहर निकालकर उस पर लोहे से चोट मारते ही उसमें से चिनगारियाँ निकलने लगती हैं। यथार्थ विश्वासी भक्त भी इसी तरह का होता है। हजारों अपवित्र विषयी लोगों से घिरा रहने पर भी उसके विश्वास या भक्ति की तनिक भी हानि नहीं होती। भगवान् का नाम, भगवत्प्रसंग सुनते ही वह प्रेम में मत्त हो उठता है।

२४१. जिस प्रकार कसौटी पर घिसते ही सोना और पीतल का भेद खुल जाता है, उसी प्रकार दु:ख-क्लेश और विपदाओं में पड़ने पर सच्चे साधु और पाखण्डी का भेद खुल जाता है।

२४२. रेल का इंजन स्वयं आगे बढ़ते हुए अपने साथ आसानी से कितने ही माल से भरे डब्बों को खींच ले जाता है। इसी तरह, ईश्वर के विश्वासी भक्त, सिर पर संसार के दु:ख-कष्टों का बोझ होते हुए भी ईश्वर पर दृढ़ विश्वास और भक्ति रखकर भवसागर से आसानी से पार हो जाते हैं। इतना ही नहीं, वे अपने साथ और भी अनेकों को ईश्वर की ओर ले जाते हैं।

२४३. विषयसुखों के प्रति आकर्षण कब नष्ट होता है? जब मनुष्य समस्त सुखों के समष्टिस्वरूप, अखण्ड सच्चिदानन्द को प्राप्त कर लेता है, तब। जो उस आनन्दस्वरूप का उपभोग करते हैं, उन्हें संसार के तुच्छ विषयसुखों के प्रति आकर्षण नहीं होता।

२४४. जिसने एक बार असल मिश्री का स्वाद चखा है, उसे क्या सस्ते गुड़ का स्वाद भाएगा? जो एक बार ऊँची अटारी में सो चुका है,

क्या उसे फिर गन्दी झोपड़ी में सोना अच्छा लगेगा? इसी तरह, जिसने एक बार ब्रह्मानन्द का स्वाद चखा है, वह क्या कभी तुच्छ विषयानन्द में रममाण हो सकेगा?

२४५. जो राजा की प्रेयसी होती है वह क्या किसी भिखमंगे से प्रेमयाचना करेगी? जिसने भगवान् की कृपादृष्टि पाई है वह क्या कभी संसार के विषयों पर आसक्त होगा?

२४६. सूप का स्वभाव है थोथे और असार को फेंककर सारवान् वस्तु को रख लेना। सत्पुरुषों का स्वभाव भी ऐसा ही होता है।

२४७. अगर शक्कर और बालू मिली हुई हो तो चींटी उसमें से बालू को छोड़ शक्कर को ही ग्रहण करती है। इसी तरह परमहंस और सत्पुरुषगण अच्छे और बुरे के मिश्रण में से अच्छे को ही ग्रहण करते हैं।

२४८. प्रवाह का जल वेग से बहता हुआ किसी-किसी स्थान पर थोड़ी देर भँवर में घूमने लगता है, परन्तु फिर शीघ्र ही वह सीधी गति में वेग के साथ बह निकलता है। पवित्रहृदय, धार्मिक व्यक्तियों का मन भी कभी-कभी दु:ख, निराशा, अविश्वास आदि के भँवर में पड़ जाता है, पर वह अधिक देर तक उसमें अटका नहीं रहता, शीघ्र ही उससे छूटकर आगे निकल जाता है।

२४९. साधक की शक्ति किसमें है? साधक ईश्वर की सन्तान होता है और बालकों की तरह रुदन ही उसका बल होता है।

२५०. दाद को जितना खुजाओ उतनी ही और खुजाने की इच्छा होती है और उतना ही ज्यादा आराम मिलता है। इसी तरह, भक्त भी भगवान् का गुणगान करते नहीं अघाते।

२५१. एक बार भगवान् का नाम सुनते ही जिसके शरीर में रोमांच उत्पन्न होता है और आँखों से प्रेमाश्रु की धार बहने लग जाती है, उसका यह निश्चित ही आखरी जन्म है।

२५२. यदि साधक को कोई दुष्ट स्त्री अपने मोहजाल में फँसा ले तो क्या होगा? जिस प्रकार पके आम को जोर से दबाने पर गुठली और

गूदा फट से निकलकर दूर छिटक जाता है, हाथ में केवल छिलका ही रह जाता है, उसी प्रकार, ऐसी स्त्री के हाथ पड़ते ही साधक का मन झट ईश्वर में चला जाता है, देह भर पड़ी रह जाती है।

२५३. जो सब की दृष्टि से दूर एकान्त में भी 'भगवान् देख रहे हैं' इस भय से कोई अधर्म-आचरण नहीं करता, वही यथार्थ धार्मिक है। निर्जन वन में सुन्दर नवयुवती को अकेली देखकर भी जो धर्म के भय से भीत होकर उस पर कुदृष्टि नहीं डालता, वही यथार्थ धार्मिक है। जो वीरान में, किसी उजड़े घर में मुहरों से भरी थैली देखकर भी उसे उठाने के मोह को रोक सकता है, वही ठीक-ठीक धार्मिक है। जो केवल दिखावे भर के लिए या 'लोग क्या कहेंगे' इस भय से सिर्फ लोगों के सामने धर्म का अनुष्ठान करता है, उसे ठीक-ठीक धार्मिक नहीं कहा जा सकता। निर्जन, नीरव में अनुष्ठित होनेवाला धर्म ही यथार्थ धर्म है, भीड़-भाड़ और कोलाहल में अनुष्ठित होनेवाला धर्म धर्म नहीं।

भगवद्भक्तों का आपसी नाता

२५४. भगवद्भक्तों की अपनी एक अलग ही जाति होती है, जो सामाजिक नियमों से परे होती है।

२५५. स्त्रियों की अपने पति के साथ एकान्त में जो कुछ बातचीत होती है वह वे किसी के सामने कहते लजाती हैं। उन बातों को वे न तो किसी को बताती हैं, और न बताना ही चाहती हैं; वे बातें यदि किसी तरह किसी के सामने प्रकट हो जाएँ तो स्त्रियाँ नाराज हो जाती हैं। परन्तु वे अपनी सहेलियों को स्वयं ही वे सब बातें बताया करती हैं, इतना ही नहीं, वे उन्हें बतलाने के लिए उत्सुक रहती हैं और बतलाकर आनन्दित होती हैं। इसी प्रकार, भगवद्भक्त भी, भावावस्था में भगवान् के साथ उसका जो वार्तालाप होता है और उससे उसे हृदय में जिस प्रकार का आनन्द अनुभव होता है, उस सबके विषय में हर किसी को बताना नहीं चाहता, क्योंकि उससे उसे सुख नहीं मिलता; किन्तु यथार्थ भक्त को वह दिल खोलकर सब

कुछ बताता है; बतलाने के लिए उत्सुक रहता है और बतलाकर आनन्दित होता है।

२५६. गौओं के झुण्ड में अगर कोई दूसरा जानवर घुस पड़े तो गौएँ उसे सींग मारकर भगा देती हैं, पर अगर कोई गाय आ जाए तो सब मिलकर उसका शरीर चाटने लग जाती हैं। इसी भाँति, जब एक भक्त की दूसरे भक्त से भेंट होती है तो दोनों को ही आनन्द होता है और वे एक दूसरे का संग छोड़ना नहीं चाहते; परन्तु कोई विजातीय भाव का मनुष्य आ जुटने पर भक्त उसके साथ मिलना नहीं चाहता।

२५७. क्या कारण है कि भक्त अकेला रहना पसन्द नहीं करता? गँजेड़ी को अकेले गाँजा पीने में आनन्द नहीं मिलता। गँजेड़ी की ही तरह भक्त को भी अकेले ही भगवान् का नामगुणगान करने में मजा नहीं आता।

संसार में रहनेवाले साधक का आदर्श

२५८. तान्त्रिक शवसाधना में साधक को शव की छाती पर बैठकर साधना करनी होती है। उक्त शवसाधना करते समय साधक को पास ही में चना-चबैना और मदिरा लेकर बैठना पड़ता है। साधना के समय बीच में यदि शव जागकर मुँह फाड़े तो उस समय उसके मुँह में कुछ चना और मदिरा देना पड़ता है। ऐसा करने से वह फिर स्थिर हो जाता है, अन्यथा वह साधक को डराकर साधना में विघ्न उत्पन्न करता है। इसी तरह तुम्हें संसार में रहकर साधना करनी हो तो पहले संसार की जरूरी माँगों की पूर्ति का प्रबन्ध कर लो, अन्यथा संसाररूपी शव तुम्हारी साधना में विघ्न डालेगा।

२५९. संसार में धन की जरूरत है तो सही, परन्तु उसके लिए ज्यादा सोचना नहीं। यदृच्छालाभसन्तुष्ट रहना – अपने आप जो मिल जाए उसी में सन्तोष करना – सब से अच्छा भाव है। संचय के लिए ज्यादा सोच मत करो। जिन्होंने अपना मन-प्राण प्रभु को सौंप दिया है, जो उनके भक्त हैं, शरणागत हैं, वे लोग यह सब इतना नहीं सोचा करते। उनके पास जैसी आय, वैसा ही व्यय। रुपया एक ओर से आता है, दूसरी ओर से खर्च

हो जाता है।

२६०. एक गृहस्थ भक्त – महाराज, क्या मुझे ज्यादा पैसा पाने के लिए कोशिश करनी चाहिए?

श्रीरामकृष्ण – हाँ, यदि तुम विवेक-विचार के साथ संसारधर्म का पालन करो तो ऐसे संसार के लिए आवश्यक धन कमा सकते हो, पर ख्याल रहे कि तुम्हारी कमाई ईमानदारी की हो, क्योंकि तुम्हारा उद्देश्य धन कमाना नहीं है, ईश्वर की सेवा करना ही तुम्हारा उद्देश्य है; ईश्वर की सेवा के लिए धन कमाने में कोई दोष नहीं।

भक्त – महाराज, संसार के प्रति कर्तव्य कब तक रहता है?

श्रीरामकृष्ण – जब तक संसार में सब की गुजर-बसर का प्रबन्ध न हो जाए। अगर तुम्हारे बच्चे अपने पैरों पर खड़े हो जाएँ तो फिर उनके प्रति तुम्हारा कर्तव्य नहीं रह जाता।

२६१. श्रीरामकृष्ण (गृहस्थ भक्तों के प्रति) – "तुम्हें रुपए की ओर इस दृष्टि से देखना चाहिए कि उससे दाल-रोटी मिलती है, पहनने के लिए कपड़ा और रहने के लिए मकान मिलता है, ठाकुरजी की पूजा और साधु-भक्तों की सेवा होती है। परन्तु धनसंचय करना व्यर्थ है। मधुमक्खियाँ कितनी मेहनत से छत्ता तैयार करती हैं, पर कोई दूसरा ही आदमी आकर उसे तोड़ ले जाता है। स्त्री का पूरी तरह त्याग तुम लोगों के लिए नहीं है। परन्तु लड़के-बच्चे हो जाने पर पति-पत्नी को भाई-बहन की तरह रहना चाहिए।

२६२. प्रश्न – हमें तो हमेशा दाल-रोटी की फिक्र करनी पड़ती है, हम साधना कैसे करें?

उत्तर – तुम जिसके लिए श्रम करोगे, जिसका काम करोगे, वही तुम्हें भोजन देगा। जिसने तुम्हें संसार में भेजा है उसने पहले से ही तुम्हारी खुराक का प्रबन्ध कर रखा है।

२६३. घर, संसार, लड़के-बच्चे, परिवार सब दो दिन के लिए है। ताड़ का पेड़ ही सत्य है, फल अनित्य हैं – लगते और झड़ जाते हैं।

२६४. कामिनी-कांचन का पूर्ण त्याग संन्यासी के लिए है। संन्यासी

को स्त्रियों का चित्र तक नहीं देखना चाहिए। अचार या इमली की याद आते ही मुँह में पानी आ जाता है, देखने या छूने की तो बात ही क्या! पर तुम जैसे गृहस्थों के लिए इतना कठिन नियम नहीं है, यह केवल संन्यासियों के लिए है। तुम ईश्वर की ओर मन रखकर, अनासक्त भाव से स्त्री के साथ रह सकते हो। पर मन को ईश्वर में लगाने और अनासक्त बनाने के लिए बीच-बीच में निर्जनवास करना चाहिए। ऐसे निर्जन स्थान में जाकर तीन दिन, या सम्भव न हो तो एक ही दिन अकेले रहते हुए व्याकुल होकर ईश्वर को पुकारना चाहिए।

एक या दो सन्तान हो जाने के बाद पति-पत्नी को भाई-बहन की तरह रहते हुए सतत भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिए कि 'हे प्रभो, हमें शक्ति दो ताकि हम संयम और पवित्रतापूर्ण जीवन बिता सकें।'

२६५. संसार में रहो पर संसारी मत बनो। जैसी कि कहावत है, 'साँप के मुँह में मेंढक को नचाओ, पर साँप उसे निगल न पाए।'

२६६. नाव पानी में रहे तो हर्ज नहीं, पर नाव के अन्दर पानी न रहे, वरना नाव डूब जाएगी। साधक संसार में रहे तो कोई हर्ज नहीं, परन्तु साधक के भीतर संसार न रहे।

२६७. तुम संसार में रहकर गृहस्थी चला रहे हो इसमें हानि नहीं; परन्तु तुम्हें अपना मन ईश्वर की ओर रखना चाहिए। एक हाथ से कर्म करो, और दूसरे हाथ से ईश्वर के चरणों को पकड़े रहो। जब संसार के कर्मों का अन्त हो जाएगा तब दोनों हाथो से ईश्वर के चरणों को पकड़ना।

२६८. निर्लिप्त होकर संसार में रहना कैसा है, जानते हो? जैसे कमल की पँखुड़ियाँ या कीचड़ में रहनेवाली 'पाँकाल' मछली। जल में रहते हुए भी कमल की पँखुड़ियों में जल नहीं लगता, कीचड़ में रहते हुए भी 'पाँकाल' मछली के अंग में कीचड़ नहीं लगता।

२६९. तुम संसार में रहो भी तो इसमें कोई विशेष हानि नहीं। मन को सदा ईश्वर में लगाए रखकर निर्लिप्त हो संसार के कर्मों को किए जाओ। जैसे, अगर किसी की पीठ में घाव हो जाए तो वह लोगों से बातचीत या

दूसरे व्यवहार आदि तो करता है, पर उसका मन सब समय उस घाव के दर्द की ओर ही पड़ा रहता है।

२७०. यदि किसी में विवेक, वैराग्य और ईश्वर के प्रति तीव्र अनुराग रहे तो संसार में रहते हुए भी उसे कोई हानि नहीं होती।

२७१. जब भगवान् ने तुम्हें संसार में ही रखा है तो तुम क्या करोगे? उनकी शरण लो, उन्हें सब कुछ सौंप दो, उनके चरणों में आत्मसमर्पण करो, ऐसा करने से फिर कोई कष्ट नहीं रह जाएगा। तब तुम देखोगे कि सब कुछ उन्हीं की इच्छा से हो रहा है।

२७२. गृहस्थाश्रम में रहकर भी ईश्वर के दर्शन हो सकते हैं। जैसे राजर्षि जनक को हुए थे। परन्तु कहने मात्र से कोई जनक राजा नहीं बन जाता। जनक राजा ने पहले निर्जन में जाकर कितने वर्षों तक उग्र तपस्या की थी। गृहस्थों को बीच-बीच में, कम से कम तीन ही दिन के लिए, निर्जन में जाकर ईश्वरदर्शन के लिए प्रार्थना करनी चाहिए – इससे अत्यन्त लाभ होता है।

२७३. एक बार कुछ ब्राह्मसमाजवालों ने मुझसे कहा था, 'हम राजर्षि जनक का आदर्श मानते हैं। हमलोग उन्हीं की तरह निर्लिप्त रहकर संसार करेंगे।' मैंने उनसे कहा– जनक राजा का उदाहरण देना आसान है पर स्वयं जनक राजा के समान बनना इतनी सरल बात नहीं। संसार में रहकर निर्लिप्त रहना बड़ा कठिन है। जनक राजा ने पहले कितनी कठोर तपस्या की थी! तुम्हें इतनी कठोर तपस्या करने की जरूरत नहीं। परन्तु साधना करनी ही होगी, निर्जनवास करना ही होगा। निर्जन में ज्ञान-भक्ति प्राप्त करके फिर संसार में प्रवेश कर सकते हो। दही एकान्त में ही अच्छा जमता है, हिलाने-डुलाने से नहीं जमता।

जनक निर्लिप्त थे, इसलिए उनका एक नाम 'विदेह' था – विदेह यानी देहबोधरहित। वे संसार में रहते हुए भी जीवन्मुक्त थे। परन्तु देहबोध का नष्ट होना अत्यन्त कठिन है। इसके लिए बहुत साधना चाहिए।

जनक राजा बड़े वीर थे। वे एक ही साथ दो तलवारें चलाते थे –

एक ज्ञान की, दूसरी कर्म की।

२७४. संसारी लोग हमेशा जनक राजा का उदाहरण देते हुए कहते हैं, 'जनक राजा ने संसार में रहकर ज्ञान प्राप्त किया था!' परन्तु समूची मानवजाति के इतिहास में जनक राजा जैसा दूसरा एक भी उदाहरण नहीं मिलता। जनक राजा की बात अपवादात्मक है। साधारण नियम तो यही है कि कामिनी-कांचन का त्याग किए बिना ज्ञानलाभ नहीं होता। स्वयं को जनक राजा मत समझ बैठो। कितनी शताब्दियाँ बीत गईं पर जगत् में दूसरा जनक राजा नहीं हुआ।

२७५. तुम यदि संसार में निर्लिप्त भाव से रहना चाहो तो पहले तुम्हें निर्जन में रहकर साधना करनी चाहिए। निर्जन में जाना जरूरी है – एक साल के लिए, छह महीने के लिए, एक महीने के लिए या कम से कम बारह ही दिनों के लिए सही। एकान्त में रहते हुए ईश्वर का आन्तरिकता के साथ ध्यान-चिन्तन करना चाहिए, ज्ञान-भक्ति के लिए प्रार्थना करनी चाहिए। मन ही मन विचार करना चाहिए – 'इस संसार में मेरा कोई नहीं है। जिन्हें मैं अपना समझता हूँ वे दो दिन के लिए हैं – सब चले जानेवाले हैं। भगवान् ही मेरे आत्मीयजन हैं। वे मेरे सर्वस्व हैं। हाय, उन्हें मैं कैसे पाऊँ? यही सब चिन्तन करते रहना चाहिए।

२७६. जो लोग किसी को पूजा-उपासना करते देख उसकी खिल्ली उड़ाते हैं, धर्म की या धार्मिक व्यक्तियों की निन्दा करते हैं, साधना की अवस्था में ऐसे लोगों से दूर रहना चाहिए।

२७७. यदि तुम हाथ में तेल लगाकर कच्चे कटहल को काटो तो तुम्हारे हाथ में उसका दूध नहीं चिपकेगा। इसी तरह यदि ब्रह्मज्ञान लाभ कर लेने के बाद संसार में रहो तो तुम्हें कामिनी-कांचन की बाधा नहीं होगी।

२७८. जहाज में कम्पास का काँटा सदा उत्तर की ओर रहता है, इसीलिए जहाज की दिशा में भूल नहीं होती। इसी प्रकार, यदि मनुष्य का मन भी सदा ईश्वर की ओर रहे तो उसे संसारसागर में दिशा चूकने का भय नहीं रहता।

२७९. जैसे लुकी-लुकौअल के खेल में अगर कोई ढाई को छू ले तो उसे चोर नहीं बनना पड़ता, वैसे ही मनुष्य यदि एक बार भगवान् के चरणकमलों को छू ले तो वह संसारबन्धन में आबद्ध नहीं होता। जैसे ढाई को छू लेने पर खेल में पकड़े जाने या दाँव देने का डर नहीं रह जाता वैसे ही भगवान् के चरणों को छू लेने पर, उनका आश्रय लेने पर, संसाररूपी क्रीडांगण में बद्ध होने का भय नहीं रह जाता।

२८०. मगर को जल की ऊपरी सतह पर तैरना बहुत अच्छा लगता है, पर उसके ऊपर आते ही लोग उसे मारने की देखते हैं। बेचारा क्या करे, प्राणों के डर से मजबूर होकर उसे पानी के नीचे ही रहना पड़ता है, ऊपर नहीं आते बनता। परन्तु फिर भी बीच-बीच में मौका मिलते ही वह एक बार सूँ सूँ करता हुआ जल के ऊपर तैर लेता है। हे संसारी जीव, मैं जानता हूँ कि तुम्हें भी सच्चिदानन्द-सागर में तैरने की इच्छा होती है, पर स्त्री-पुत्र-परिवार के बोझ के कारण तुम्हें संसार में डूबे रहना पड़ता है। परन्तु फिर भी बीच-बीच में मौका पाते ही भगवान् का स्मरण करो, व्याकुल होकर उनसे प्रार्थना करो, उन्हें अपना दु:ख-कष्ट जताओ। योग्य समय पर अवश्य ही वे तुम्हें मुक्त करेंगे, आनन्दसागर में तैरने की शक्ति देंगे।

२८१. यदि तुम्हें कभी परिस्थितिवश किसी प्रलोभन से भरे स्थान में जाना पड़े तो तुम अपने साथ आनन्दमयी जननी को भी लेते जाओ। ऐसा करने से, तुम्हारे मन के भीतर अनेक कुविचार, या बुरे काम करने की इच्छा उठने पर भी तुम बच जाओगे। जननी के निकट रहने पर तुम लाज के मारे बुरे काम नहीं कर पाओगे।

२८२. संसार और ईश्वर दोनों बातें एक साथ होना कैसे सम्भव है? – चिउड़ा कूटनेवाली स्त्री एक हाथ से ढेंकी की ओखली के भीतर चिउड़ा चलाती रहती है, दुसरे हाथ से बच्चे को गोद में लेकर दूध पिलाती है, साथ ही ग्राहकों के साथ लेनदेन का हिसाब करती जाती है। इस तरह वह एक ही साथ अनेकों काम करती रहती है, पर असल में उसका मन सदा ढेंकी के मूसल की ओर रहता है कि कहीं वह हाथ पर न आ गिरे। इसी

प्रकार तुम संसार में रहते हुए सब काम करो, किन्तु सतत ध्यान रखो कि कहीं ईश्वर के पथ से दूर न चले जाओ।

२८३. जिस प्रकार बालक एक हाथ से खम्भा पकड़कर जोरों से गोल-गोल घूमता है – उसे गिर पड़ने का डर नहीं होता – उसी प्रकार ईश्वर को पक्का पकड़कर संसार के सभी काम करो, इससे तुम विपत्ति से मुक्त रहोगे।

२८४. उत्तर हिन्दुस्थान की ग्रामीण स्त्रियाँ सिर पर एक साथ चार-पाँच घड़े लेकर आपस में सुख-दुख की बातें करती हुई रास्ते से चली जाती हैं – घड़े से एक बूँद भी पानी नहीं गिरता। धर्मपथ के पथिक को भी ऐसा ही होना चाहिए। सभी अवस्थाओं में उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि मन ईश्वर के पथ से दूर न हट जाए।

२८५. बदचलन औरत संसार में रहती हुई गृहस्थी के कामकाज में मग्न रहती है, पर उसका मन सदा अपने यार की ओर ही पड़ा रहता है। हे संसारी जीव, तुम भी संसार में अपने कर्तव्यों को करते रहो, पर मन सदा ईश्वर में लगाए रखो।

२८६. जिस प्रकार धनिकों के घर की दासी मालिक के बच्चों को अपने ही बच्चों की तरह प्रेम से पालती-पोसती है, पर मन ही मन निश्चित जानती है कि इन पर मेरा कोई अधिकार नहीं, उसी प्रकार, तुम भी अपने बच्चों का प्रेम से पालन-पोषण करो, परन्तु मन ही मन यह जान रखो कि उन पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं, भगवान् ही उनके यथार्थ पिता हैं।

२८७. 'बाऊल' सम्प्रदाय के फकीर जैसे एक हाथ से इकतारा और दूसरे हाथ से डफली बजाते हैं और साथ ही मुँह से भजन भी गाते जाते हैं, वैसे ही, हे संसारी जीव, तुम भी हाथों से संसार के कामकाज करते रहो, परन्तु मुँह से ईश्वर का नाम जपना न भूलो।

२८८. बड़े घर की नौकरानी मालिक के घर को ही 'हमारा घर' कहती है परन्तु उसे हमेशा ख्याल रहता है कि वह उसका अपना घर नहीं, उसका अपना घर तो दूर बर्दवान या नदिया जिले के किसी देहात में है। उसका

मन सदा अपने गाँववाले घर पर ही पड़ा रहता है। वह मालिक के बच्चे को अपने बच्चे की तरह सम्हालती है और कहती है, 'मेरा हरि बड़ा नटखट बन गया है', या 'मेरे हरि को मीठा अच्छा नहीं लगता', पर वह मन ही मन सदा जानती है कि हरि मेरा कोई नहीं है, वह मालिक का लड़का है। यहाँ जो लोग आते हैं उनसे मैं कहता हूँ कि संसार में दासी की तरह निर्लिप्त रहो। तुम संसार में रहो, पर संसार तुममें न रहे। तुम्हारा मन ईश्वर में लगा रहे। तुम्हारा अपना घर ईश्वर के यहाँ है। मैं उनसे यह भी कहता हूँ कि उनकी भक्ति के लिए व्याकुल होकर उनके चरणों में प्रार्थना करो।

२८९. मन में सदा यह भाव रखना कि घर-द्वार, परिवार इनमें से कुछ भी तुम्हारा नहीं है, सब भगवान् के हैं; तुम भगवान् के दास हो, उन्हीं की आज्ञा का पालन करने संसार में आए हो। यह भाव दृढ हो जाने पर वास्तव में किसी भी वस्तु के प्रति ममत्व-बुद्धि नहीं रह जाती।

२९०. संसार में रहकर सब कर्तव्यों को करते हुए जो मन को ईश्वर में स्थिर रखकर साधना कर सकता है, वह यथार्थ में वीर साधक है। शक्तिवान् पुरुष ही सिर पर दो मन भारी बोझ लादकर चलते हुए गर्दन मोड़कर राह से गुजरती हुई बारात की ओर देख सकता है।

२९१. जो संसार में रहते हुए साधना करते हैं वे किले की ओट से युद्ध करनेवाले सैनिकों की तरह होते हैं, और जो भगवान् के लिए संसार को त्यागकर चले जाते हैं वे खुले मैदान में लड़नेवाले सैनिकों की तरह होते हैं। किले के भीतर रहकर लड़ना खुले मैदान में लड़ने से काफी सरल और सुरक्षित है।

२९२. शत्रु का मुकाबला करने की तैयारी के लिए पहले सैनिक लोग बैरक में ही युद्ध करना सीखते हैं। बैरक में युद्धक्षेत्र की तरह कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता। इसी प्रकार, तुम लोग भी संन्यासी जीवन को अपनाने के पहले गृहस्थी की सुख-सुविधाओं के भीतर रहकर साधना करते हुए उस जीवन की कठिनाइयों को सहने के लिए तैयार हो लो।

२९३. वह मनुष्य धन्य है जिसका मस्तिष्क और हृदय दोनों ही समान

रूप से विकसित हुए हैं। सभी परिस्थितियों में वह सरलता के साथ उत्तीर्ण हो जाता है। भगवान् के प्रति उसमें सरल विश्वास और दृढ़ श्रद्धा-भक्ति होती है, साथ ही उसके आचार-व्यवहार में भी कहीं कोई कमी नहीं होती। सांसारिक व्यवहार के समय वह पूरा-पूरा व्यवसायी होता है, विद्वान् पण्डितों की सभा में वह सर्वश्रेष्ठ विद्वान् सिद्ध होता है, वाद-विवाद में अकाट्य युक्तियों द्वारा वह अपनी तीक्ष्ण बुद्धि का परिचय देता है। माता-पिता के सम्मुख वह विनयी, आज्ञाकारी होता है, आत्मीय-स्वजन और मित्रों को वह अतिशय प्रिय प्रतीत होता है, पड़ोसियों के प्रति वह दया और सहानुभूति रखता और सदा उनकी मदद के लिए तैयार रहता है, पत्नी के सामने वह मानो साक्षात् मदनदेवता होता है। इस तरह का मनुष्य वास्तव में सर्वगुणसम्पन्न होता है।

संन्यासी का आदर्श

२९४. मनुष्य का पहला जन्म पिता से होता है, उपनयन के समय उसका दूसरा जन्म होता है और संन्यास के समय फिर तीसरी बार जन्म होता है।

२९५. संसार में रहने से मन का बहुतसा भाग फालतू खर्च हो जाता है; इससे मन को जो क्षति पहुँचती है उसकी पूर्ति संन्यास ग्रहण करने पर ही हो सकती है।

२९६. संन्यास-ग्रहण का योग्य अधिकारी कौन है? जो संसार को पूर्णरूपेण त्याग देता है, 'कल क्या खाऊँगा, क्या पहनूँगा' इसकी बिलकुल फिक्र नहीं करता, वही ठीक-ठीक संन्यासी बनने लायक है। जो ताड़ के पेड़ पर से निर्भय होकर नीचे कूद सकता है वही संन्यास ग्रहण करने का योग्य अधिकारी है।

२९७. योगी और संन्यासी सर्प के समान होते हैं। सर्प अपने लिए कभी बिल नहीं बनाता, वह सदा चूहे के बिल में रहता है। एक बिल नष्ट हो जाए तो दूसरे में चला जाता है। योगी-संन्यासी लोग भी, इसी तरह, अपने लिए घर नहीं बनाते। वे दूसरों के यहाँ रहते हैं – आज यहाँ तो

कल वहाँ, इस तरह दिन बिताते हैं।

२९८. साधु लोग 'दिशा-जंगल' और 'अन्न-पानी' की सुविधा देखे बिना कहीं डेरा नहीं डालते। 'दिशा-जंगल' माने शौचादि के लिए सुविधाजनक निर्जन स्थान और 'अन्न-पानी' माने भिक्षा। भिक्षान्न के द्वारा ही तो साधुओं का शरीर-धारण होता है, इसलिए जहाँ पास ही में आसानी से भिक्षा मिल सकती है ऐसी ही जगह साधु लोग 'आसन' लगाते हैं, यानी डेरा डालते हैं। कभी चलते चलते थक जाने पर किसी जगह भिक्षा की सुविधा न होने पर भी वे कष्ट सहते हुए दो-एक दिन के लिए डेरा डाल भी लेते हैं, परन्तु जहाँ जल का अभाव हो तथा 'दिशा-जंगल' की कठिनाई हो अर्थात् शौचादि के लिए एकान्त स्थान न हो, वहाँ वे कभी नहीं ठहरते। जो अच्छे साधु होते हैं वे शौचादि क्रियाएँ वहाँ नहीं करते जहाँ सब लोग करते हैं और जहाँ लोगों को दीख पड़ता है। वे तो दूर निर्जन में गुप्त रूप से वह सब निपटा आते हैं।

२९९. सफेद स्वच्छ कपड़ेपर अगर थोड़ासा भी काला लग जाए तो वह बहुत भद्दा दिखाई देता है। साधुओं का छोटासा दोष भी बड़ा भारी मालूम होता है।

३००. संन्यासी यदि स्वयं निर्लिप्त हो, जितेन्द्रिय हो, तो भी लोगों के सामने आदर्श रखने के लिए उसे कामिनी-कांचन का सर्वतोभावेन त्याग करना चाहिए। संन्यासी का सोलहों आना त्याग देखकर ही लोगों को साहस होगा, तभी वे कामिनी-कांचन को त्यागने का प्रयत्न करेंगे। भला, त्याग की शिक्षा अगर संन्यासी न दे तो दे कौन?

३०१. सच्चे संन्यासी या त्यागी का लक्षण क्या है, जानते हो? उसे कामिनी-कांचन के किसी भी प्रकार के संस्पर्श में नहीं रहना चाहिए। यहाँ तक कि स्वप्न में भी यदि उसका कामिनी से सहवास हो धर्मपात हो जाए, अथवा कांचन के प्रति आसक्ति हो जाए, तो इतने दिनों का साधन-भजन सब नष्ट हो जाता है।

३०२. जब तुमने साधु-संन्यासी का वेश धारण किया है तब तुम्हें

साधु-संन्यासियों जैसा ही आचरण करना चाहिए। जैसे नाटक में जो राजा बनता है वह हमेशा राजा ही बनता है, जो मन्त्री बनता है वह हमेशा मन्त्री ही बनता है। एक बार एक बहुरूपिया साधु सजकर जमींदार के यहाँ आया था। जमींदार ने उसे रुपया देना चाहा पर उसने छुआ तक नहीं। थोड़ी देर बाद वह नहा-धोकर, वेश बदलकर फिर आया और बोला, "जो दे रहे थे वह अब दो।" जिस समय वह साधु बना हुआ था उस समय वह रुपए को छू भी नहीं सका था, पर अब चवन्नी भी मिल जाए तो खुश होगा।

३०३. एक आदमी अपने बीमार बच्चे को गोद में ले एक साधु के पास दवा लेने गया। साधु ने उससे कहा, "कल आना।" दूसरे दिन जब वह आदमी फिर गया तब उस साधु ने कहा, "बच्चे को गुड़ बिलकुल मत खाने देना, इसी से वह अच्छा हो जाएगा।" तब वह आदमी बोला, "महाराज, यह बात आप कल ही बता देते।" साधु बोला, "हाँ बता तो सकता था, पर कल मेरे सामने ही गुड़ रखा हुआ था; यह बात अगर मैं कल बताता तो तुम्हारा बच्चा सोचता कि यह साधु खुद तो गुड़ खाता है, और दूसरे को मना करता है।"

३०४. जो व्यक्ति माता, पिता या पत्नी से झगड़ा हो जाने के कारण वैरागी बन जाता है उसे 'खीझा हुआ वैरागी' कहते हैं। उसका वैराग्य दो दिन के लिए होता है, किसी बड़ी जगह अच्छी नौकरी मिल गई कि वह वैरागी जीवन छोड़ नौकरी करने लग जाता है।

३०५. भक्त – सच्चे साधु की क्या पहचान है?

श्रीरामकृष्ण – जिसका मन, प्राण, अन्तरात्मा पूरी तरह ईश्वर में ही समर्पित हो, वही सच्चा साधु है। सच्चा साधु कामिनी-कांचन का सम्पूर्ण त्याग कर देता है। वह स्त्रियों की ओर ऐहिक दृष्टि से नहीं देखता। वह सदा स्त्रियों से दूर रहता है, और यदि उसके पास कोई स्त्री आए तो वह उसे माता के समान देखता है। वह सदा ईश्वर-चिन्तन में मग्न रहता है और सर्वभूतों में ईश्वर विराजमान हैं यह जानकर सब की सेवा करता है। ये सच्चे साधु के कुछ साधारण लक्षण हैं।

३०६. जो साधु दवाई देता हो, झाड़-फूँक करता हो, पैसे लेता हो और भभूत रमाकर या माला-तिलक आदि बाह्य चिह्नों का आडम्बर रचकर मानो 'साईनबोर्ड' लगाकर लोगों के सामने अपनी साधुगिरी का प्रदर्शन करता हो, उस पर कभी विश्वास मत करना।

३०७. संन्यासी का स्वभाव ही है क्षमाशीलता।

□□□

अध्याय ९

साधक जीवन के लिए कुछ सहायक बातें

जातिप्रथा तथा बाह्याचार

३०८. आन्तर तत्त्व और बाह्य रूप, भीतरी भाव और बाहरी प्रतीक – दोनों का सम्मान किया करो।

३०९. धान के भीतर जो चावल होता है उसी से अंकुर पैदा होता है, बाहरी भूसी से नहीं; परन्तु फिर भी सिर्फ चावल बोने से अंकुर नहीं निकलता, फसल के लिए धान ही बोना पड़ता है, फसल आ जाने के बाद भले ही धान में से भूसी हटाकर सिर्फ चावल का ही उपयोग किया जाता है। इसी प्रकार धर्म के विकसित होने और बने रहने के लिए आचार-विचार, विधि-नियम आदि आवश्यक हैं। ये मानो कवचस्वरूप हैं, इस कवच के भीतर सत्य का बीज निहित होता है। जब तक मनुष्य को इनके अन्तर्निहित सत्यवस्तु की प्राप्ति न हो जाए तब तक उसे इन बाह्य आचार-नियमों का पालन करते रहना चाहिए।

३१०. सीपी के अन्दर बहुमूल्य मोती होता है, सीपी का कोई मूल्य नहीं होता; परन्तु मोती के पूरी तरह तैयार होने तक सीपी बहुत ही आवश्यक है। मोती मिल जाने के बाद सीपी का महत्त्व नहीं रहता। जिसे सर्वोच्च सत्य, परमेश्वर की प्राप्ति हो गई है, उसके लिए बाह्य आचार-नियमों की आवश्यकता नहीं रह जाती।

३११. विधि-नियमों का पालन करना चाहिए। परन्तु जब साधक उन्नत अवस्था प्राप्त कर लेता है तब फिर उसके लिए इन बातों को पालने की आवश्यकता नहीं होती। तब तो मन तन्मय होते हुए ईश्वर में विलीन हो

जाता है।

३१२. घाव सूख जाने पर उसके ऊपर की पपड़ी अपने आप झड़ जाती है, पर घाव सूखने के पहले ही अगर उसे खींचकर निकाला जाए तो खून आ जाता है। इसी प्रकार, ज्ञान-चैतन्य हो जाने से जात-पाँत नहीं रह जाती, परन्तु अज्ञान अवस्था में जबरदस्ती जातिभेद आदि हटाने जाओ तो उसका परिणाम बुरा होता है।

३१३. जो फल अपने आप पककर गिर पड़ता है वह बहुत मीठा लगता है, परन्तु कच्चे फल को तोड़कर पकाने से वह खाने में अच्छा नहीं लगता, और जल्दी सूखने लगता है। इसी तरह पूर्ण ज्ञान-चैतन्य प्राप्त हो जाने से मनुष्य के भीतर से जातिभेद अपने आप चला जाता है, परन्तु अज्ञानियों के लिए जातिभेद की बड़ी आवश्यकता है। अज्ञान अवस्था में रहकर यदि कोई जात-पाँत का भेद हटाकर, यथेच्छाचार करते हुए सिद्ध का भाव दिखाने लगे तो उसे जबरदस्ती पकाए हुए फल की तरह जानो।

३१४. क्या ज्ञानलाभ के पश्चात् यज्ञोपवीत रखना ठीक है? आत्मज्ञान लाभ कर लेने पर कोई बन्धन नहीं रह जाता, सभी बन्धन अपने आप गिर पड़ते हैं। उस अवस्था में ब्राह्मण-शूद्र, उच्च-नीच का बोध नहीं रहता, तब यज्ञोपवीत अपने आप ही गिर पड़ता है। पर जब तक यह भेदज्ञान रहता है तब तक जबरदस्ती उसे निकाल फेंकना उचित नहीं।

३१५. जब आँधी चलती है तब कौनसा बड़ है और कौनसा पीपल यह पहचान में नहीं आता। इसी तरह जब ज्ञान-चैतन्य की आँधी आ जाती है तब जातिभेद नहीं रह जाता।

३१६. जो सच्चा भक्त है, जो आकण्ठ भगवत्प्रेम का प्याला पीकर नशे में मतवाला बन गया है, वह सब समय सामाजिक बन्धनों का पालन नहीं कर सकता।

३१७. कृष्णकिशोर ने मुझसे पूछा था, "तुमने जनेऊ क्यों फेंका?" जब मेरी यह अवस्था हुई तब मुझमें 'आश्विन की आँधी'* उठ आयी और

* ई.स. १८६४ में आश्विन महीने में बंगाल में बड़ा तूफान आया था।

सब कुछ कहाँ से कहाँ उड़ाकर ले गई। पहले का कोई चिह्न शेष नहीं रह गया। होश-हवास ही नहीं रहा। बदन पर कपड़ा ही नहीं रहता था तो जनेऊ भला कैसे रहे! इसीलिए मैंने उससे कहा, "एक बार तुम्हें भी वैसा भगवत्-उन्माद हो जाए, तो तुम समझ पाओगे।"

३१८. जो भगवान् का 'नाम' लेता है वह पवित्र हो जाता है। आरियादह के भक्त कृष्णकिशोर का कैसा विश्वास था! एक बार वह वृन्दावनयात्रा को गया था। वहाँ एक दिन चलते चलते उसे प्यास लगी। उसने किसी कुएँ के पास एक आदमी को खड़ा देख उससे पानी माँगा। वह आदमी बोला, "महाराज, मैं नीची जाति का हूँ, आप ब्राह्मण हैं, मैं आपको कैसे पानी पिलाऊँ?" कृष्णकिशोर बोला, "तू 'शिव शिव' कह। 'शिव शिव' कहने से ही तू शुद्ध हो जाएगा।" तब उस आदमी ने 'शिव शिव' कहते हुए पानी खींचा और वैसा आचार-निष्ठावान् ब्राह्मण, उसने वही पानी पिया! कैसा ज्वलन्त विश्वास था!

३१९. शराबी जैसे नशे की धुन में पहनने की धोती को कभी सिर पर बाँधता है तो कभी बगल में दबाकर घूमता है, सिद्ध-महापुरुषों की भी बाह्य अवस्था प्राय: उसी प्रकार की होती है।

३२०. आजकल के लोग सभी चीजों का सार भाग माँगते है। वे धर्म का भी सार तत्त्व ही चाहते हैं, उसका अनावश्यक भाग (विधि-नियम, आचार-अनुष्ठान आदि) नहीं चाहते।

३२१. मछली खानेवाले मछली का सिर और दुम नहीं चाहते, वे बीच का मांसल भाग ही पसन्द करते हैं। हमारे शास्त्रग्रन्थों में जो अति विस्तृत विधि-नियमादि हैं उन्हें काट-छाँटकर आधुनिक युगोपयोगी बनाना होगा।

मूर्ति पूजा

३२२. मकान बाँधते समय चारों ओर मचान बनाना अनिवार्य होता है, परन्तु मकान का काम पुरा होते ही मचान की कोई जरूरत नहीं रह जाती। इसी तरह साधक के लिए प्रथम अवस्था में मूर्ति पूजा की आवश्यकता

होती है, बाद में नहीं रह जाती।

३२३. पहले बड़े अक्षर साफ साफ लिखने का अभ्यास हो जाए तो फिर छोटीसी घसीटी लिखावट आसानी से लिखी जा सकती है। इसी प्रकार पहले मन को साकार में स्थिर कर लेने के बाद सरलता से निराकार की धारणा हो सकती है।

३२४. लक्ष्य वेधना सीखना हो तो पहले बड़ी वस्तुओं पर निशाना लगाना सीखा जाता है, इसके बाद में छोटी वस्तुओं पर भी आसानी से निशाना लगाया जा सकता है। इसी प्रकार, पहले यदि साकार मूर्तियों पर मन स्थिर किया जाए तो फिर बाद में निराकार पर भी मन सरलता से स्थिर किया जा सकता है।

३२५. जिस प्रकार मिट्टी का शरीफा या हाथी देखने पर सचमुच के शरीफा या हाथी की याद आती है, उसी प्रकार ईश्वर की प्रतिमा देखने पर ईश्वर का ही स्मरण होता है।

३२६. श्रीरामकृष्ण (एक भक्त से) – तुम मिट्टी की मूर्ति की पूजा की बात कह रहे थे। अगर मूर्ति मिट्टी की ही हो तो भी उस पूजा की आवश्यकता है। सब प्रकार की पूजाओं की व्यवस्था भगवान् ने ही की है। साधक के अधिकार के अनुसार भगवान् ने भिन्न-भिन्न अनुष्ठानों की व्यवस्था कर रखी है।

३२७. जिस लड़के को जो भोजन रुचता और पचता है, माँ उसके लिए वही भोजन पकाती है। यदि माँ के पाँच बच्चे हों और घर में एक बड़ी मछली आए तो माँ उसमें से एक के लिए पुलाव बनाएगी, एक के लिए रसेदार सब्जी बनाएगी, तो एक को सूखी सब्जी बना देगी। जिसकी पाचनशक्ति जैसी हो, उसको उसी के अनुसार भोजन मिलता है। (इसी प्रकार विभिन्न साधकों के लिए विभिन्न प्रतीकों तथा अनुष्ठानों की व्यवस्था है।)

३२८. शिष्य – अच्छा, मानो यह विश्वास हुआ कि ईश्वर साकार हैं। पर पूजी जानेवाली मिट्टी की मूर्ति तो वे हैं नहीं।

श्रीरामकृष्ण – मिट्टी की मूर्ति क्यों कहते हो? वह चिन्मयी प्रतिमा है!

३२९. श्रीरामकृष्ण ने एक बार केशवचन्द्र सेन से, जो कि उन दिनों मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी थे, कहा था "मूर्तियों को देखने पर तुम्हारे मन में भला मिट्टी, पत्थर या लकड़ी की बात क्यों उठती है? तुम इनमें सच्चिदानन्दमयी माँ का आविर्भाव क्यों नहीं अनुभव करते?"

३३०. यदि मूर्तियों के बारे में चिन्मय-बोध रखकर पूजा की जाए, तो उनकी पूजा करते हुए पूजक को ईश्वरदर्शन तक हो जाता है, परन्तु जो मिट्टी या पत्थर समझकर मूर्ति की पूजा करता है उसकी पूजा का कोई फल नहीं होता।

३३१. यदि मूर्तिपूजा में कोई भूल भी हो तो क्या भगवान् नहीं जानते कि पूजा उन्हीं की हो रही है? वे उस पूजा से अवश्य ही प्रसन्न होंगे। तुम उनकी भक्ति करो, उन पर प्रेम करो, बस।

३३२. जब किसी को ईश्वर के दर्शन होते हैं तो वह मूर्ति आदि सभी में चैतन्य का प्रकाश अनुभव करता है। उसकी दृष्टि में मूर्ति मिट्टी की नहीं रहती, वह तो चैतन्यमयी होती है।

तीर्थयात्रा का महत्त्व

३३३. गाय का दूध वास्तव में उसके समूचे शरीर में व्याप्त है, पर उसके कान या सींगों को दबाने से तुम्हें दूध नहीं मिलेगा, दूध के लिए तो थनों को ही निचोड़ना होगा। इसी भाँति, ईश्वर तो पूरे ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं पर तुम उन्हें हर जगह नहीं देख पाओगे। पावन तीर्थों और मन्दिरों में, जहाँ युग-युग के साधक-भक्तों के साधन-भजन, पूजा-उपासना आदि के फलस्वरूप भक्तिभाव घनीभूत रूप में ओत-प्रोत है, भगवान् का विशेष प्रकाश विद्यमान है।

३३४. यह निश्चित जानो कि जिस स्थान में अनेक युगों से अनेक लोग ईश्वरदर्शन के उद्देश्य से जप-तप, ध्यान-धारणा, प्रार्थना-उपासना आदि करते आए हैं, वहाँ भगवान् का विशेष प्रकाश है। उनकी भक्ति के कारण वहाँ ईश्वरीय भाव घनीभूत होकर विद्यमान है। इसीलिए ऐसे स्थान में मनुष्य

को सहज ही में ईश्वरीय भाव का उद्दीपन तथा ईश्वर के दर्शन होते हैं। स्मरणातीत काल से असंख्य साधु, भक्त तथा सिद्ध पुरुष इन तीर्थक्षेत्रों में ईश्वरदर्शन के लिए आते रहे हैं तथा अन्य सभी वासनाओं को छोड़ उन्होंने यहाँ प्राणों की व्याकुलता से ईश्वर को पुकारा है। इसी कारण, ईश्वर के सर्वत्र समान रूप से विराजमान होते हुए भी इन स्थानों में उनका विशेष प्रकाश होता है। जैसे, जमीन को खोदने पर सभी जगह पानी मिल सकता है, परन्तु जहाँ कुआँ, तालाब या झील हो वहाँ पानी के लिए जमीन खोदना नहीं पड़ता – जब चाहो तब तुरन्त पानी मिल सकता है।

३३५. जिस प्रकार भरपेट चारा खा चुकने के बाद गाय निश्चिन्त होकर एक जगह बैठकर खाया हुआ उगलकर अच्छी तरह चबाती हुई जुगाली करती रहती है, उसी प्रकार, देवस्थान, तीर्थक्षेत्र आदि का दर्शन कर आने के पश्चात् उन स्थानों में मन में जो पवित्र भगवद्भाव उदित हुए थे उनके विषय में एकान्त में बैठकर चिन्तन-मनन करना चाहिए, उन्हीं में डूब जाना चाहिए। दर्शन करके वापस आते ही मन से सब कुछ निकाल बाहर कर, मन को रूप-रसादि विषयों में नहीं लगाना चाहिए। ऐसा करने से उन भगवद्-भावों का मन पर स्थायी परिणाम नहीं हो पाता।

३३६. दुनिया में चारों कोने घूम आओ, कहीं कुछ नहीं मिलेगा। जो यहाँ (अपने हृदय में) है, वही वहाँ भी है।

३३७. जब श्रीरामकृष्णदेव इहलोक में विद्यमान थे, उस समय बीच-बीच में उनके कुछ शिष्य उनके निकट अपनी तीर्थभ्रमण की इच्छा प्रकट किया करते। इस पर श्रीरामकृष्ण कहा करते – "जिसके यहाँ (अपने हृदय में) है, उसके वहाँ (तीर्थस्थानों में) भी है, पर जिसके यहाँ नहीं है, उसके वहाँ भी नहीं है।" अथवा "जिसके अन्त:करण में भक्तिभाव है, तीर्थस्थानों में उसका वह भाव और भी अधिक वर्धित होता है। परन्तु जिसके हृदय में वह भाव ही नहीं है, उसका वहाँ जाकर भी भला विशेष क्या होनेवाला है? ... कई बार हमारे सुनने में आता है कि अमुक का बेटा काशी या अन्य किसी तीर्थक्षेत्र में चला गया है। पर कुछ ही दिनों में फिर सुनाई देता

है कि उसने वहाँ काफी दौड़धूप करके एक नौकरी जुटा ली है और घरवालों को चिट्ठी लिखी है, पैसा भी भेजा है। तीर्थक्षेत्र में वास करने जाकर कितने ही लोग वहाँ दुकान खोलकर व्यापार-धन्धा करने बैठ जाते हैं। ... मथुरानाथ के साथ पश्चिम के तीर्थों में जाकर मैंने देखा, वहाँ भी वही आम के पेड़, इमली के पेड़, वही बाँस की झाड़ियाँ – जैसे यहाँ, वैसे ही वहाँ भी। देखकर मैंने हृदय से कहा, 'अरे हृदू, फिर हम लोग यहाँ क्या देखने आए? वहाँ जो है, यहाँ भी वही है। सिर्फ मैदानों में पड़ी विष्ठा देखने पर मालूम होता है कि यहाँ के लोगों की पाचनशक्ति वहाँ के लोगों से अधिक है!' "

सत्संग के लाभ

३३८. दूध और पानी को एक ही जगह रखने पर दोनों मिल जाते हैं, दूध अलग नहीं रह जाता। इसी प्रकार, धर्मपिपासु नया साधक यदि संसार में सभी प्रकार के लोगों के साथ मिलता रहे तो वह अपना आदर्श तो खो ही बैठता है, साथ ही उसके भीतर से पहले का विश्वास, भक्ति, उत्साह सब न जाने कहाँ चला जाता है, उसे इसका पता तक नहीं चल पाता।

३३९. साधुसंग धर्मसाधना का एक प्रधान अंग है।

३४०. एक आदमी लकड़ी लाकर आग जलाता है तो दस आदमी उसकी गरमी का लाभ उठाते हैं। इसी प्रकार, कठोर साधना, उग्र तपस्या कर जब कोई भगवान् को प्राप्त कर लेता है तो उसके सम्पर्क में आकर, उसके उपदेशानुसार चलकर बहुतसे लोग ईश्वर की ओर अग्रसर होने लगते हैं।

३४१. जैसे वकील को देखने से मामले-मुकदमे ओर कचहरी की की ही बातें मन में आती हैं, वैसे ही साधु या भक्त को देखने से ईश्वर और धर्म-सम्बन्धी बातों का ही स्मरण होता है।

३४२. जीवन कैसे बिताना चाहिए? जैसे चूल्हे में अंगार को बीच-बीच में फूँककर उकसा देना पड़ता है ताकि वह बुझ न पाए, वैसे ही बीच-बीच में साधुसंग करते हुए मन को सचेत, सतेज बनाए रखना चाहिए।

३४३. जिस प्रकार लुहार बीच-बीच में धौंकनी चलाकर भट्ठी की

आग को बनाए रखता है, उसी प्रकार साधुसंग के द्वारा मन को सचेत बनाए रखना चाहिए।

३४४. साधुसंग मानो चावल का धोया हुआ जल है। किसी को अत्यधिक नशा चढ़ा हो तो उसे चावल का धोया हुआ पानी पिला देने से नशा उतर जाता है। इसी प्रकार साधुसंग संसार में कामना-वासनारूपी मद पीकर जो मत्त हुए हैं उनका नशा उतार देता है।

३४५. मुफस्सल में जाकर नायब रैयत पर कितनी जुल्म जबरदस्ती करता है, पर वही जब जमींदार के पास रहता है तब उसके सामने कितना भलामानुस बन जाता है, रैयत के साथ कितना अच्छा बर्ताव करता है, उसकी शिकायतों को गौर से सुनकर अच्छी तरह से जाँच-पड़ताल कर ठीक-ठीक फैसला देने की भरसक कोशिश करता है। जमींदार के डर से और उसकी संगति के गुण से अत्याचारी नायब भी कितना भला बन जाता है! इसी तरह साधुसंग क्रूर व्यक्तियों के मन में भी श्रद्धायुक्त भय जगाकर उन्हें सज्जन बना देता है।

३४६. अगर चूल्हे की आग पर गीली लकड़ी भी रख दी जाए तो आँच लगकर उसके भीतर का पानी सूख जाता है और लकड़ी जल उठती है। इसी तरह, साधुसंग के प्रभाव से संसारी जीवों के भीतर से कामिनी-काँचनरूपी जल सूखकर उनमें विवेक की अग्नि जल उठती है।

३४७. पुराण में है, जगज्जननी भगवती जब गिरिराज हिमालय की कन्या उमा के रूप में अवतीर्ण हुई थीं उस समय उन्होंने गिरिराज को अपने सर्वशक्तिमान् स्वरूप का विभिन्न रूपों में दर्शन कराया। पर जब सब रूपों के दर्शन कर, गिरिराज ने भगवती से कहा, "बेटी, वेदों में जिस ब्रह्म के बारे में कहा है, अब मुझे उस ब्रह्म के दर्शन कराओ", तब देवी ने कहा, "पिताजी, यदि तुम ब्रह्मदर्शन करना चाहते हो तो सर्वत्यागी साधुओं का संग करो।"

३४८. हाथी को यदि नहला-धुलाकर छोड़ दिया जाए तो वह देखते ही देखते अपने आपको धूल से सान लेता है, परन्तु यदि उसे नहलाने

के बाद पीलखाने में बाँध दिया जाए तो वह फिर गन्दा नहीं हो पाता। इसी प्रकार साधुसंग आदि के द्वारा पवित्रता प्राप्त करने के बाद यदि तुम फिर संसारी लोगों से घनिष्ठता बढ़ाओ और मन को सांसारिक विषयों में छोड़ दो, तो तुम्हारा वह पवित्र भाव शीघ्र ही चला जाएगा, परन्तु मन को पवित्र कर यदि ईश्वर के चरणों में निबद्ध रखा जाए तो वह पवित्र ही बना रहेगा।

भगवन्नाम का माहात्म्य

३४९. विषयासक्त जीवों के लिए 'नारदपांचरात्र' के अनुसार द्वैत भाव की भक्ति का अनुसरण करते हुए उच्च स्वर से नाम-संकीर्तन करना सब से सरल उपाय है।

३५०. श्रीरामकृष्ण (एक भक्त से) :– भक्ति के द्वारा इन्द्रियाँ अपने आप वश में आ जाती हैं, बड़ी सरलता से उनका संयम हो जाता है। ईश्वर के प्रति प्रेम जितना अधिक बढ़ेगा, शरीर-सुख भोगने की इच्छा उतनी ही घटती जाएगी। जिस दिन घर में सन्तान की मृत्यु हो जाती है उस दिन क्या पति-पत्नी का मन देह-सुख की ओर जा सकता है?

भक्त :– पर मैं भगवान् से प्रेम करना नहीं जानता।

श्रीरामकृष्ण :– सतत उनका नाम लेते रहो। इससे तुम्हारे भीतर के काम, क्रोध, देह-सुख भोगने की वासना आदि सब दूर हो जाएँगे।

भक्त :– पर मुझे भगवान् के नाम में रस नहीं मिलता।

श्रीरामकृष्ण :– तब उन्हीं से व्याकुल होकर प्रार्थना करो जिससे तुम्हें नाम में रुचि हो। वे तुम्हारी प्रार्थना अवश्य सुनेंगे। ... 'त्वन्नामें अरुचिः।' सन्निपात के रोगी की यदि भोजन के प्रति रुचि जाती रहे तो फिर उसके बचने की आशा नहीं रहती; पर यदि थोड़ी भी रुचि रहे तो बचने की बहुत आशा रहती है। इसीलिए नाम में रुचि पैदा करो। भगवान् का नाम लेते रहो। दुर्गानाम, कृष्णनाम, शिवनाम जो नाम तुम्हें अच्छा लगे वही लिया करो। यदि नाम लेते हुए दिनोंदिन नाम के प्रति अनुराग बढ़ता जाए, उसमें अधिकाधिक आनन्द मिले, तो फिर तुम्हें कोई भय नहीं। तुम्हारा सन्निपात

का विकार जरूर कट जाएगा, उनकी कृपा जरूर होगी।

३५१. नाम क्या कम है? नाम और नामी अभिन्न है! सत्यभामा ने तुला पर एक ओर श्रीकृष्ण को चढ़ाकर दूसरी ओर स्वर्ण, मणि-माणिक्य आदि रखते हुए उन्हें तौलना चाहा, पर उसका सारा प्रयत्न असफल हुआ। परन्तु जब रुक्मिणी ने दूसरे पल्ले में तुलसीपत्र और कृष्णनाम लिखकर धर दिया तब दोनों पल्लों का भार समान हो गया।

३५२. यदि तुम ईश्वर के दर्शन करना चाहो तो हरिनाम पर दृढ़ विश्वास रखो और सदसत्-विवेक करो।

३५३. श्रीचैतन्यदेव ने कहा है – "ईश्वर के नाम की बड़ी भारी महिमा है। तुरन्त फल न मिलने पर भी एक न एक दिन उसका फल अवश्य ही मिलेगा।" घर की कारनिस पर पड़ा हुआ बीज, कई साल बाद घर के ढह जाने पर जमीन में जा पहुँचता है और तब उसमें से पेड़ निकलकर उसमें फल लगते हैं।

३५४. जाने या अनजाने, भूल से या भ्रम से, किसी भी तरह क्यों न हो, भगवान् का नाम लेने से उसका फल अवश्य मिलेगा। कोई नदी पर जाकर स्नान करे तो उसका जैसा स्नान होता है, वैसी ही अगर किसी को पानी में ढकेल दिया जाए तो उसका भी स्नान हो जाता है, और कोई सोया हुआ हो और उस पर पानी डाल दिया जाए तो उसका भी स्नान हो ही जाता है।

३५५. जाने-अनजाने, किसी भी रीति से क्यों न हो, अगर कोई अमृतकुण्ड में एक बार गिर पड़े तो अमर हो जाता है। इसी प्रकार कोई जाने-अनजाने में या और किसी भी तरह भगवान् का नाम क्यो न ले, वह अन्त में अमरत्व प्राप्त करता है।

३५६. 'केवल नाम-ग्रहण से ही भगवद्-दर्शन हो सकता है' ऐसा कहनेवाले किसी धर्मप्रचारक से श्रीरामकृष्ण ने कहा था – "अवश्य ही भगवान् के नाम की बड़ी महिमा है, पर अनुराग के बिना क्या होगा? भगवान् के लिए प्राण व्याकुल होने चाहिए। अगर मैं मुँह से तो नाम लेता रहूँ पर मन

को कामिनी-कांचन में ही लिप्त रखूँ, तो उससे क्या लाभ होगा? अगर बिच्छू ने काटा हो तो सिर्फ मन्त्र पढ़ने से जहर नहीं उतरता, कण्डा जलाकर उसका धुआँ भी देना पड़ता है।

"नाम लेकर जीव शुद्ध अवश्य होता है, पर फिर दूसरे ही क्षण वह तरह-तरह के पापों में लिप्त हो जाता है। उसके मन में इतना बल नहीं कि 'फिर पाप नहीं करूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा करे। गंगास्नान से सब पाप कट जाते हैं सही, पर उससे क्या फायदा? ऐसा कहते हैं कि वे पाप तट के पेड़ों पर चढ़ जाते हैं; जब मनुष्य गंगा नहाकर लौटता है तो वे पुराने पाप पेड़ पर से कूदकर फिर उसके सिर पर सवार हो जाते हैं। वह दो चार कदम भी चल नहीं पाया होगा कि इसके पहले ही वे पुराने पाप उसे घेर लेते हैं!

"इसीलिए नाम भी लिया करो और साथ ही प्रार्थना भी करो कि ईश्वर पर अनुराग हो, और धन, मान, देह-सुख आदि अनित्य असार वस्तुओं के प्रति आसक्ति घट जाए।"

३५७. जैसे रुई के पहाड़ में एक छोटी सी चिनगारी पड़ जाने पर वह देखते ही देखते जलकर खाक हो जाता है, वैसे ही भक्ति के साथ भगवान् का नामगान करने पर पर्वतसमान पाप भी नष्ट हो जाता है।

३५८. विषयी लोगों की पूजा, जप, तप सब कुछ सामयिक होता है, टिकता नहीं। जो ईश्वर के सिवा और कुछ नहीं जानते वे साँस साँस में उनका नाम लेते रहते हैं। कोई मन ही मन सतत 'ॐ राम ॐ' जपता रहता है। ज्ञानमार्गी साधक 'सोऽहम्' 'सोऽहम्' जपता जाता है। किसी किसी की जीभ तो सदा हिलती ही रहती है।

३५९. जप करना यानी निर्जन में चुपचाप भगवान् का नाम लेना। एकाग्र होकर भक्तिपूर्वक उनका नाम जपते रहने से उनके रूप के दर्शन होते हैं – उनका साक्षात्कार होता है। जैसे, जंजीर से बँधी हुई बल्ली गंगा में डुबोई हुई हो और जंजीर का दूसरा छोर तीर पर बँधा हुआ हो, तो जंजीर की एक एक कड़ी पकड़कर आगे बढ़ते हुए, पानी में उतरकर उसी तरह चलते चलते बल्ली का स्पर्श किया जा सकता है; ठीक वैसे ही जप

करते करते मग्न हो जाने पर धीरे-धीरे भगवान् का साक्षात्कार होता है।

३६०. श्रीरामकृष्णदेव प्राय: कहा करते – "सुबह-शाम ताली बजाते हुए हरिनाम गाया करो, ऐसा करने से तुम्हारे सब पाप-ताप दूर हो जाएँगे। जैसे पेड़ के नीचे खड़े होकर ताली बजाने से पेड़ पर के सब पंछी उड़ जाते हैं, वैसे ही ताली बजाते हुए हरिनाम लेने से देहरूपी वृक्ष पर से सब अविद्यारूपी चिड़ियाँ उड़ जाती हैं।"

□□□

अध्याय १०

साधक का जीवनपथ

साधक जीवन के कुछ विघ्न

३६१. लज्जा, घृणा और भय – इन तीनों के रहते भगवान् का लाभ नहीं होता।

३६२. तराजू का जो पल्ला भारी होता है वह नीचे चला जाता है और जो हल्का होता है वह ऊपर उठ जाता है। इसी तरह, जिसके भीतर धन, मान-सम्मान आदि नाना सांसारिक चिन्ताओं का भार रहता है वह संसार में डूब जाता है, पर जिसके भीतर यह सब नहीं होता वह ऊपर उठकर ईश्वर के राज्य में पहुँच जाता है।

३६३. जो हमेशा दूसरों के गुण-दोषों की चर्चा करते रहता है, वह अपना समय फालतू बरबाद करता है, क्योंकि परचर्चा करने से न तो आत्मचर्चा हो पाती है और न परमात्मचर्चा ही।

३६४. मन की किस प्रकार की अवस्था में भगवान् के दर्शन होते हैं? जब मन पूर्ण रूप से शान्त हो जाता है, तब। मनरूपी समुद्र में जब तक वासनारूपी तरंगें उठतीं रहें तब तक ईश्वर का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता और ईश्वरदर्शन सम्भव नहीं हो पाता।

३६५. किसी का पेट अगर भरा भी हो और ऊपर से उसे अजीर्ण का रोग हो तो भी अचार या इमली देखते ही उसके मुँह में पानी भर आता है। इसी प्रकार, मनुष्य यदि स्वभाव से सज्जन हो और उसके मन में लोभ बिलकुल न रहे, तो भी धन-दौलत या प्रलोभन की वस्तुएँ देखते ही उसका

मन चंचल हो उठता है।

३६६. कूपमण्डूक की तरह न बनो। कुएँ में रहनेवाले मेढक को कुएँ से बड़ा या अच्छा कुछ भी दिखाई नहीं देता। इसी तरह जो कट्टर होते हैं उन्हें अपने मत से बढकर कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता।

३६७. शंकराचार्य के एक मूर्ख शिष्य था। वह हमेशा उनका अनुकरण किया करता। शंकराचार्य जो भी करने जाते, वह भी वही करता, शंकराचार्य कहते 'शिवोऽहम्' तो वह भी कहता 'शिवोऽहम्'। परन्तु उसके भीतर गुरु के प्रति श्रद्धा-भक्ति थी। उसके भ्रम को दूर करने के लिए शंकराचार्य एक दिन उसे लेकर एक लुहार की दुकान पर गए और वहाँ उन्होंने कुछ गरम पिघला हुआ लोहा पीकर शिष्य को भी वैसा करने कहा। भला शिष्य के लिए यह कैसे सम्भव था! वह भौचक्का हो गया और तब उसके दिमाग में यह बात आई कि 'शिवोऽहम्' बोलना आसान बात नहीं। उस दिन से उसने गुरु का अनुकरण करना छोड़ दिया।

महापुरुषों के केवल आदर्श उदाहरणों का अनुसरण करते हुए अपने दोष-त्रुटियों को सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए, परन्तु उनका केवल अनुकरण करना उचित नहीं।

पूर्व संस्कारों का प्रभाव

३६८. संस्कारों का प्रभाव कितना जबरदस्त होता है! एक जगह कुछ संन्यासी बैठकर ध्यान कर रहे थे, इतने में एक स्त्री वहाँ से गुजरी। सभी पूर्ववत् ईश्वरचिन्तन करते रहे परन्तु उनमें से एक ने झट एक बार तिरछी नजर से उसकी ओर देख ही लिया। यह व्यक्ति तीन बच्चों का बाप बनने के बाद साधु हुआ था।

३६९. एक जगह मैंने दो बधिया बैल देखे। इतने में वहाँ से एक गाय जाने लगी। उसे देखते ही एक बैल मस्ती में आ गया, पर दूसरा शान्त रहा। पहले बैल का वह विचित्र भाव देख मैंने उसके बारे में खोज की तो पता चला कि वह काफी उम्र होने के बाद बधिया हुआ था जबकि दूसरे

बैल को कम उम्र में ही बधिया किया गया था। वह बैल अपने पूर्व संस्कारों को अब भी भूल नहीं सका था।

पूर्व संस्कारों का प्रभाव ऐसा ही बलवान् होता है। जो कम उम्र में, विषयसुख भोगने के पहले ही, संसार को त्यागकर साधु बन जाते हैं, वे स्त्रियों को देखकर उत्तेजित नहीं होते, पर जो अधिक उम्र में घर-गृहस्थी का सुख भोग चुकने के बाद गेरुआ पहनकर साधु बनते हैं, उनमें कई वर्ष संयम पालने के बावजूद, भोग के पूर्व संस्कार जाग उठने की सम्भावना रहती है।

३७०. मनुष्य का मन जिस समय कुवासनाओं में डूबा रहता है, उस समय मनुष्य मानों चण्डालों की बस्ती में वास करता है।

३७१. किसी ने कहा, "मेरा लड़का हरीश बड़ा हो जाने पर उसका विवाह रचाकर गृहस्थी का भार उस पर सौंप, मैं योग साधना करूँगा।" इस पर श्रीरामकृष्ण बोले, " तुम्हारे द्वारा कभी साधना नहीं हो सकेगी। बाद में तुम कहोगे, 'हरीश और गिरीश मुझे बहुत ज्यादा चाहते हैं, वे मुझे छोड़ नहीं सकते। हरीश के बच्चा हो जाए तो उसे देखकर जाऊँगा।' फिर तुम्हारे मन में इच्छा उठेगी कि 'हरीश के बेटे का विवाह भी देख लूँ।' इस तरह तुम्हारी वासनाओं का कभी अन्त नहीं होगा।"

सिद्धियों से हानि

३७२. जादू-मन्त्र और सिद्धिशक्ति के चमत्कार दिखलानेवालों के निकट न जाया करो। ये लोग मन को सत्य के मार्ग से दूर बहका ले जाते हैं। सिद्धियाँ सच्चिदानन्द ब्रह्म की प्राप्ति के मार्ग में अन्तराय-स्वरूप होती हैं। ऐसे लोगों का मन सिद्धियों के जाल में अटक जाता है। इन शक्तियों की कामना मत रखो, इनसे सावधान रहो।

३७३. जो हीनबुद्धि होते हैं वे ही रोग अच्छा करना, मुकदमा जिता देना, पानी पर चलना आदि सिद्धियाँ प्राप्त करना चाहते हैं। जो शुद्ध भक्त होते हैं वे ईश्वर के पादपद्मों को छोड़ अन्य कुछ भी नहीं चाहते।

३७४. श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था, "हे अर्जुन, यदि तुममें अष्ट सिद्धियों में से एक भी सिद्धि रहे तो तुम मुझे नहीं पा सकोगे।" कारण, ये सिद्धियाँ मनुष्य के अहंकार को बढ़ाकर भगवान् को भुलवा देती हैं।

३७५. किसी व्यक्ति ने चौदह वर्ष तक निर्जन में कठिन साधना करने के पश्चात् जल पर चल सकने की सिद्धि प्राप्त की। सिद्धि प्राप्त कर वह अत्यन्त आह्लाद के साथ अपने गुरु के निकट पहुँचा और कहने लगा, "गुरुजी! गुरुजी! मुझे पानी पर से चलकर नदी पार करने की सिद्धि मिली है।" गुरु ने उसका तिरस्कार करते हुए कहा, "छी! छी! चौदह साल तपस्या कर आखिर तूने यही सीखा? यह तो धेले भर का काम है। चौदह साल की मेहनत के बाद तूने जो सीखा वह काम तो लोग केवट को आधा पैसा देकर कर लेते हैं।"

३७६. सिद्धियों को विष्ठातुल्य हेय जानकर उनकी ओर ध्यान नहीं देना चाहिए। साधना और संयम का अभ्यास करते हुए कभी-कभी वे अपने आप आ जाती हैं, परन्तु जो उनकी ओर ध्यान देता है वह उन्हीं में अटक जाता है, भगवान् की ओर अग्रसर नहीं हो पाता।

३७७. चन्द्र* नामक एक व्यक्ति को गुटिकासिद्धि प्राप्त हुई थी। एक गुटिका (ताबीज) धारण कर वह अदृश्य होकर यथेच्छ संचार कर सकता था, दुर्गम स्थानों में भी प्रवेश कर सकता था। पहले पहल वह भक्त था और निष्ठापूर्वक साधना भी करता था। पर बाद में जब उसे वह सिद्धि प्राप्त हो गई तो वह उसकी सहायता से अपनी हीन कामना-वासनाओं को तृप्त करने लगा। मैंने उसे ऐसा करने से मना भी किया, पर वह न माना। वह अदृश्य रूप से किसी धनी व्यक्ति के घर में आना-जाना करने लगा और वहाँ एक युवती पर आसक्त होकर फँस गया। इससे उसकी वह सिद्धि भी चली गई और उसका पतन हो गया।

३७८. कभी-कभी सिद्धियों का परिणाम बड़ा भयानक होता है।

---

* श्रीरामकृष्ण के गुरु भैरवी ब्राह्मणी के शिष्य थे।

तोतापुरी ने मुझे बताया था – एक बार एक सिद्ध समुद्र के किनारे बैठा हुआ था, इतने में भारी तूफान उठा। तूफान के कारण उसे तकलीफ होने लगी। तब उसने कहा, 'तूफान रुक जाए!' सिद्ध का वचन झूठा नहीं हो सकता, तूफान उसी क्षण रुक गया। उस समय समुद्र पर एक जहाज पाल ताने हुए चला जा रहा था; आँधी के अचानक रुक जाने से जहाज डूब गया, उसमें जितने लोग थे सब डूबकर मर गए। वह सिद्ध इतने लोगों की मृत्यु का कारण हुआ। इस पाप के कारण उसकी सिद्धि भी चली गई और उसे नरक भी भोगना पड़ा।

३७९. जब मैं पंचवटी में साधना किया करता था उस समय एक बार गिरिजा* नाम का एक व्यक्ति वहाँ आया था। उसे योगसिद्धि प्राप्त थी। एक दिन रात को मुझे अपने कमरे की ओर जाना था, राह में बहुत अँधेरा था। उसने अपना हाथ उठाया और उसकी बगल से तेज रोशनी निकलकर सारा मार्ग आलोकित हो गया। मेरे कहने से उसने बाद में उस सिद्धि का प्रयोग करना छोड़ भगवत्प्राप्ति की ओर मन लगाया। उसकी वह शक्ति धीरे-धीरे चली गई और उसका मन ईश्वर की ओर अग्रसर होने लगा।

३८०. राजप्रासाद में भीख माँगने जाकर जो लौकी, कुम्हड़े जैसी तुच्छ वस्तु की प्रार्थना करता है, वह कितना मूर्ख है! उसी प्रकार, राजाधिराज ईश्वर के दरबार में खड़ा होकर जो ज्ञान, भक्ति आदि रत्नों को न माँग अष्टसिद्धि जैसी तुच्छ वस्तु की याचना करता है, वह कितना अबोध है!

३८१. श्रीरामकृष्ण के एक युवक शिष्य को एक बार दूसरों के मन के विचार समझने की क्षमता प्राप्त हो गई। अत्यन्त आनन्दित होकर उसने श्रीरामकृष्ण के पास आकर यह बात बताई। श्रीरामकृष्ण ने उसकी भर्त्सना करते हुए कहा, "छी! छी! उसकी ओर ध्यान देकर वृथा शक्ति का क्षय मत कर।"

३८२. एक बार एक शिष्य ने श्रीरामकृष्ण से कहा, "ध्यान करते

* श्रीरामकृष्ण के गुरु भैरवी ब्राह्मणी के शिष्य थे।

हुए मुझे दूर घटती हुई घटनाएँ, वहाँ के लोगों के क्रियाकलाप आदि दिखाई पड़ते हैं। बाद में जाँच करने पर वे दर्शन सही निकलते हैं।'' श्रीरामकृष्ण यह सुनते ही बोले, ''अभी कुछ दिन ध्यान मत कर। ये सब बातें ईश्वरप्राप्ति के मार्ग में अन्तराय हैं।''

दान-धर्म

३८३. धार्मिक अनुष्ठानों में लोगों को भोजन क्यों कराया जाता है? लोगों को खिलाना क्या एक प्रकार से भगवान् की ही सेवा नहीं है? सब जीवों के भीतर वे अग्नि के रूप में विद्यमान हैं, अत: खिलाना यानी उन्हीं में आहुति चढ़ाना।

परन्तु जो दुर्जन हैं, जो भगवान् को नहीं मानते, जिन्होंने व्यभिचार आदि महापाप किये हैं, ऐसे लोगों को कभी नहीं खिलाना चाहिए। ऐसे पापी लोग जहाँ बैठकर भोजन करते हैं, उसके नीचे की सात हाथ तक की जमीन अपवित्र हो जाती है।

३४. एक कसाई एक गाय को दूर कसाईखाने की ओर ले जा रहा था। बीच रास्ते में एक जगह गाय ने आगे बढ़ने से इनकार कर दिया। कसाई उसे इतना पीटता, पर वह टस से मस न होती। बड़ी मुसीबत थी! आखिर कसाई भूख-प्यास और थकावट के मारे तंग आ गया। तब गाय को एक पेड़ से बाँध वह गाँव में एक अतिथिशाला में जा पहुँचा। वहाँ भरपेट भोजन करने के बाद उसमें ताकत आई और तब आसानी से उस गाय को कसाईखाने ले जाकर उसने उसकी हत्या की। गोहत्या के पाप का बहुतसा भाग उस अतिथिशाला के अन्नदान करनेवाले मालिक को लगा, क्योंकि उसकी सहायता के बिना कसाई गाय को ले जाने में समर्थ न होता। इसलिए भोजन या अन्य वस्तु का दान देते समय यह विचार करना चाहिए कि दान ग्रहण करनेवाला व्यक्ति कहीं दुर्जन या पापी तो नहीं है, कहीं वह उस दान का दुरुपयोग तो नहीं करेगा।

३८५. साधारणतया ऐसा नियम है कि पूर्व जन्म में जिन्होंने बहुत

दान-धर्म किया है वे इस जन्म में धनवान् पैदा होते हैं, परन्तु आखिर यह जगत् उनकी माया ही है, इस माया के राज्य में इतने विपर्यय-व्यतिक्रम होते रहते हैं कि यह सब कौन समझ सकता है!

अन्न-वस्त्र

३८६. गेरुआ वस्त्र पहनने की क्या जरूरत है? वेश में क्या है? गेरुआ वस्त्र पहनने से मन में पवित्र भाव उदित होता है। जैसे, फटी जूती, फटे कपड़े पहनने से मन में दैन्य-दारिद्र्य का भाव आ जाता है; कोट, पतलून और बूट पहनने से सहज ही मन में अहंकार-अभिमान उठता है, मलमल की काली किनारवाली धोती पहनने से फुर्ती आने लगती है और आप ही प्रेमगीत गाने की इच्छा होती है, वैसे ही संन्यासी का गेरुआ वस्त्र पहनने पर मन में सहज ही पवित्र भाव उठने लगते हैं। यद्यपि वेश में कोई विशेष महत्त्व नहीं है, फिर भी हर प्रकार के वेश का कुछ अपना प्रभाव होता है।

३८७. शुरू-शुरू में पौधे को चारों ओर से घेरा लगाकर गाय-बकरी आदि से बचाना पड़ता है। पर एक बार वह पौधा बढ़कर बड़ा वृक्ष बन जाए तो फिर कोई भय नहीं रह जाता। तब तो सैकड़ों गाय-बकरियाँ आकर उसके नीचे आसरा लेती हैं, उसके पत्तों से पेट भरती हैं। इसी तरह, साधना की प्रथम अवस्था में स्वयं को कुसंगति और सांसारिक विषय-बुद्धि के प्रभाव से बचाना चाहिए। पर एक बार सिद्धिलाभ हो जाने से फिर कोई भय नहीं रहता। तब कुभाव या संसारासक्ति तुम्हारा कुछ बिगाड़ नहीं सकेगी। बल्कि अनेक संसारी लोग तुम्हारे पास आकर शान्ति प्राप्त करेंगे।

३८८. एक बार किसी छात्र ने श्रीरामकृष्ण से पूछा, "महाराज, जब सब जीवों के भीतर एक ही परमेश्वर विराजमान हैं तो फिर चाहे जिस व्यक्ति के हाथ का खाने में क्या हर्ज है?" पूछने पर पता चला कि वह ब्राह्मण था। तब श्रीरामकृष्ण ने कहा, "इसीलिए तुम ऐसा पूछ रहे हो। अच्छा, बताओ, अगर तुम एक दियासलाई जलाओ और उसके ऊपर ढेर सी सूखी

लकड़ियाँ रख दो तो क्या होगा?'' वह छात्र बोला, ''लकड़ियों के बोझ से आग बुझ जाएगी।'' तब श्रीरामकृष्ण ने कहा, ''पर अगर तुम बहुत बड़ी धधकती हुई चिता में हरे केले के पेड़ झोंक दो तो क्या होगा?'' छात्र ने उत्तर दिया, ''केले के पेड़ देखते ही देखते खाक हो जाएँगे।'' तब श्रीरामकृष्ण बोले, ''इसी तरह, यदि तुम्हारे भीतर आध्यात्मिक शक्ति का प्रमाण अल्प हो तो बिना विचारे चाहे जिसके हाथ का खाने से वह नष्ट हो जाएगी, परन्तु यदि वह प्रबल हो तो किसी भी तरह का अन्न तुम्हें नुकसान नहीं पहुँचा पाएगा।''

३८९. मैंने एक मुसलमान गुरु से 'अल्लाह' मन्त्र की दीक्षा ली थी। उस समय मैं दिन भर 'अल्लाह' मन्त्र जपा करता, तीन बार नमाज पढ़ता और मुसलमानों की तरह काँछ न लगाकर धोती पहनता, उन्हीं की तरह भोजन करता। उस समय, तीन दिन तक मैं कालीमन्दिर में नहीं जा सका – हिन्दु देवी-देवताओं का दर्शनप्रणाम तो दूर रहा, उनका नाम तक नहीं ले सका।

३९०. श्राद्ध का भोजन कभी नहीं ग्रहण करना, इससे भक्तिभाव की हानि होती है। उसी प्रकार यजमान के लिए याग-यज्ञ-पूजा आदि करनेवाले पुरोहित-ब्राह्मणों के घर कभी भोजन नहीं करना।

३९१. प्रश्न – क्या जो मिला वही खाना अच्छा नहीं है?

उत्तर – यह एक विशेष अवस्था में ठीक है। ज्ञानी को इससे कोई दोष नहीं लगता। ज्ञानी भोजन नहीं करता, वह तो कुण्डलिनी को आहुति देता है। परन्तु भक्त की बात अलग है। भक्त को शुद्ध अन्न ही ग्रहण करना चाहिए – जो अन्न वह अपने इष्टदेव को निस्संकोच अर्पित कर सके। भक्त के लिए मांसाहार उचित नहीं। फिर यह भी है कि शूकर-मांस खाते हुए भी अगर किसी में ईश्वर के प्रति अनुराग हो तो वह धन्य है, और निरामिष या हविष्यान्न भोजन करके भी अगर किसी का मन कामिनी-कांचन में डूबा रहे तो उसे धिक्कार है।

३९२. जो हविष्यान्न भोजन करता है पर ईश्वर की प्राप्ति नहीं करना

चाहता, उसका हविष्यान्न गोमांस के तुल्य है। और जो गोमांस खाता है पर ईश्वर की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है, उसके लिए गोमांस भी हविष्यान्न के समान होता है।

३९३. दिन में भले ही ठूँस-ठूँसकर खाओ, पर रात में हल्का भोजन करना चाहिए।

३९४. भक्त को ऐसा भोजन करना चाहिए जिससे शरीर उत्तेजित न हो, मन चंचल न बने।

शरीरविषयक दृष्टिकोण

३९५. प्रश्न – शरीर के प्रति आसक्ति को कैसे दूर किया जाए?

उत्तर – यह शरीर नाशवान् वस्तुओं का बना हुआ है। इसमें हड्डियाँ, मांस, रक्त, मल, मूत्र आदि गन्दी चीजें ही भरी हुई हैं। सदा इस प्रकार का विचार करते रहने पर देहविषयक आसक्ति चली जाती है।

३९६. पिंजड़े में से पंछी उड़ जाए तो कोई पिंजड़े की खातिर नहीं करता; इसी तरह, इस देहरूपी पिंजड़े में से जब प्राणपखेरू उड़ जाते हैं तो कोई इस देह का आदर नहीं करता।

३९७. यह देह जब असार, अनित्य ही है तो साधु-भक्तगण इसकी हिफाजत क्यों करते हैं? खाली सन्दूक की कोई परवाह नहीं करता, जिस सन्दूक में सोना-चाँदी, हीरे-जवाहिरात आदि कीमती वस्तुएँ होती हैं उसकी सभी लोग बड़ी सावधानी से रक्षा किया करते हैं। जिनके हृदय में भगवान् विराजमान होकर नित्य लीलाविलास कर रहे हैं वे साधु-भक्तगण अपनी देह की यत्नपूर्वक देखरेख किए बिना नहीं रह सकते।

कष्टभोग-विषयक दृष्टिकोण

३९८. जिस घर में रहा जाता है उसका टैक्स भरना पड़ता है, इसी प्रकार, इस देह में निवास करते समय रोग, शोक आदि टैक्स भरना पड़ता है।

३९९. अच्छा फौलाद बनाने के पहले लोहे को बार-बार भट्ठी में तपाना पड़ता है और बार-बार हथौड़े से पीटना पड़ता है। तभी उससे पतली

धारदार तलवार बन सकती है, जिसे चाहे जैसा झुकाया जा सकता है। इसी तरह, शुद्ध नम्र बनकर ईश्वरदर्शन की योग्यता प्राप्त करने के पहले मनुष्य को भी शोक-ताप में जलना पड़ता है; दु:ख-क्लेश की चोट सहनी पड़ती है।

४००. केशवचन्द्र सेन जब बीमार थे तब उनसे श्रीरामकृष्ण ने कहा था, ''तुम्हें जो बीमारी हुई है इसका गहरा अर्थ है। तुम्हारी इस देह के भीतर कितने ही भावों का उदय-अस्त हो चुका है, इसी का यह परिणाम है। जब ये भाव आते हैं, उस समय कुछ समझ में नहीं आता, पर बाद में शरीर पर उसका असर पता चलता है। जब गंगा पर से बड़ा भारी जहाज चला जाता है, उस समय कुछ पता नहीं चलता; परन्तु थोड़ी देर बाद पानी में उथल-पुथल मच जाती है, बड़ी-बड़ी लहरें उठकर किनारों पर जोरों से थपेड़े जमाने लगती हैं। कभी-कभी तो किनारों का कुछ भाग धँसकर गिर भी पड़ता है।

''अगर किसी छोटीसी कुटिया में हाथी घुस जाए तो वह उसे हिला-डुलाकर बरबाद कर डालता है। इसी प्रकार, जब देहरूपी घर में भावरूपी हाथी घुस पड़ता है तो देह में हलचल मच जाती है, सब नेस्तनाबूद हो जाता है।

''इसका परिणाम क्या होता है जानते हो? जब आग लगती है तो बहुतसी चीजों को जलाकर खाक कर डालती है। ज्ञानाग्नि भी पहले काम, क्रोध आदि रिपुओं को जला डालती है; फिर 'अहं'-बुद्धि को भी नष्ट कर देती है। इससे देह में भारी उथल-पुथल मच जाती है। देह शीर्ण हो जाती है।

''तुम सोचते होगे कि अब सब तय हो चुका है, पर जब तक 'अहं' की थोड़ी भी कसर रह जाए तब तक वे तुम्हें नहीं छोड़ेंगे। एक बार तुमने अस्पताल में नाम लिखाया हो तो जब तक रोग की तनिक भी कसर रह जाएगी, डाक्टर तुम्हें छुटकारा नहीं देगे।''

४०१. केशव सेन की बीमारी के समय श्रीरामकृष्ण ने कहा था – ''ओस लगाने के उद्देश्य से माली बसरा-गुलाब के पौधों को जड़ से उखाड़ देता है। जड़ में ओस लगने से पौधा अच्छी तरह बढ़ता है। कभी वह कुछ

जड़ों को छाँट भी देता है, ताकि फूल अच्छे आएँ। शायद ईश्वर तुम्हारी जड़ खोद रहे हैं, जान पड़ता है कि उन्हें तुम्हारे द्वारा बड़े कार्य करवाने हैं।''

४०२. रोग के प्रति अपना मनोभाव व्यक्त करते हुए श्रीरामकृष्ण कहते, ''देह का रोग देह ही जाने, मन, तुम आनन्द में रहो।''

४०३. शरीर को सुख हो, या दुःख, सच्चे भक्त के भीतर से ज्ञान-विश्वास नष्ट नहीं हो पाता। उसका ज्ञान-विश्वास कभी मन्द नहीं होता। भला देखो तो, पाण्डवों को कितनी भारी विपदाएँ झेलनी पड़ीं, पर फिर भी क्षण भर के लिए भी उनके भीतर ज्ञानज्योति बुझ न पाई।

सहनशीलता

४०४. वर्णमाला में 'स' – वर्ण ही एक ऐसा है जिसके तीन रूप हैं – श, ष, स। अर्थात्, सह, सह, सह। बचपन में ही हमें वर्णमाला के भीतर से सहन करने की शिक्षा दी जाती है। सभी के लिए सहनशीलता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गुण है।

४०५. लुहार के यहाँ जो निहाई होती है उस पर कितने जोरों से हथौड़े की चोट पर चोट पड़ती जाती है, तथापि निहाई तनिक भी विचलित नहीं होती। इस पर से मनुष्य को धैर्य और सहनशीलता सीखनी चाहिए।

वाणी का संयम

४०६. अपने भावों और भावनाओं को, अपने श्रद्धा-विश्वास को अपने ही में रखो। उनके बारे में सबको बताते मत फिरो। नहीं तो भारी हानि होती है।

४०७. साधन-भजन जितना अधिक गुप्त रूप से किया जा सके उतना ही अच्छा।

नम्रता तथा स्वाभिमान

४०८. स्वयं को ज्यादा चतुर समझना उचित नहीं। कौआ खुद को कितना चालाक समझता है! वह कभी फन्दे में नहीं फँसता। भय की तनिक आशंका होते ही उड़ जाता है। कितनी चतुराई के साथ वह खाने की चीजें

उड़ा ले जाता है! पर इतना होते हुए भी वह विष्ठा खाकर मरता है। ज्यादा चालाकी करने का यही परिणाम होता है।

४०९. उँचा उठना हो (महान् बनना हो) तो पहले नीचा (नम्र) बनना चाहिए। चातक पक्षी का घोंसला नीचे होता है पर वह आसमान में बहुत ऊँचा उड़ता है। ऊँची जमीन में खेती नहीं होती, उसके लिए नीची जमीन चाहिए, जहाँ पानी जम सके। तभी खेती हो सकती है।

४१०. फलवान वृक्ष की डालियाँ सदा नीचे को झुकी होती हैं। अगर तुम बड़ा बनना चाहते हो तो छोटा (नम्र) बनो।

४११. जहाँ और लोग सिर झुकाते हैं वहाँ पर तुम्हें दण्डवत् करना चाहिए।

४१२. "मैं लेक्चर दे रहा हूँ, तुम लोग सुनो।" इस प्रकार का अहंभाव, आचार्यपन का अभिमान नहीं रखना चाहिए। अज्ञान अवस्था में ही अहंकार रहता है, ज्ञान होने पर नहीं। जिसमें गर्व नहीं उसी को ज्ञानलाभ होता है। बरसात का पानी नीची जमीन पर ही ठहरता है, ऊँची जगह पर ठहर नहीं पाता।

४१३. तराजू का जो पलड़ा भारी होता है वह नीचे आ जाता है और जो हलका होता है वह ऊपर उठ जाता है। इसी तरह जो व्यक्ति गुणी और सामर्थ्यवान होता है वह सदा नम्र और विनयशील होता है, मूर्ख ही झूठे अहंकार-अभिमान से फूला रहता है।

४१४. तूफान में उड़नेवाली जूठी पत्तल की तरह निरहंकार और नम्र बनो।

४१५. सुई में धागा पिरोना हो तो धागे को पहले ऐंठकर नुकीला बनाओ ताकि उसमें रोएँ न रहें। तभी वह सुई के छेद में से जा सकता है। मन को ईश्वर में निमग्न करना हो तो दीन, हीन, विनम्र बनो, वासनारूपी रोएँ दूर कर दो।

४१६. कई लोग विनय का ढोंग रचते हुए कहते हैं, 'मैं कीट हूँ।' इस प्रकार स्वयं को हमेशा कीट कहते कहते कुछ दिनों बाद मनुष्य वास्तव

में ही कीट की तरह दुर्बल बन जाता है। मन में कभी हीनभाव या हताशा नहीं आने देना चाहिए। उन्नति के पथ पर हताशा बड़ा भारी शत्रु है। हताश हो जाने से धर्मपथ पर अग्रसर नहीं हुआ जा सकता। जिसका जैसा भाव होता है उसे वैसा ही फललाभ होता है।

४१७. यथार्थ मनुष्य तो वही है, जो 'मान-होश' हो – अर्थात् जिसमें स्वाभिमान का होश हो। दूसरे लोग तो निरे 'मानुष' हैं।

४१८. जो अहंकार आत्मा की महिमा को प्रकट करता है वह अहंकार नहीं। जो विनय आत्मा के गौरव को नीचे लाती है वह विनय नहीं।

सरलता

४१९. जब तक मनुष्य बच्चों जैसा सरल नहीं हो जाता तब तक उसे ज्ञानलाभ नहीं होता। सब दुनियादारी, विषयबुद्धि को भूलकर बालक जैसे नादान बन जाओ, तभी तुम ज्ञान प्राप्त कर सकोगे।

४२०. सरल होने पर सहज ही ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है। मनुष्य अगर सरल हो तो उसे दिये गए उपदेश शीघ्र सफल होते हैं। जोती हुई जमीन में, जिसमें कंकड़-पत्थर न हों, बीज पड़ते ही पेड़ उग जाता है और वह शीघ्रता से बढ़कर फल भी देने लगता है।

४२१. श्रीरामकृष्ण कहा करते, "अनेक तपस्या, अनेक साधना करने के बाद ही मनुष्य सरल और उदार होता है। सरल हुए बिना ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती। सरलहृदय मनुष्य के सम्मुख ही ईश्वर अपना स्वरूप प्रकट करते हैं।" परन्तु सरल और सत्यवादी बनने के नाम पर कोई मूर्ख न बन बैठे इसलिए श्रीरामकृष्ण सब को सावधान करते हुए कहा करते, "तुम भक्त बनो पर इसका मतलब यह नहीं कि तुम बुद्धु बनो।" अथवा "मन में सदा विवेक-विचार करना चाहिए – सत् क्या है और असत् क्या, नित्य क्या और अनित्य क्या। फिर जो अनित्य है उसे छोड़कर नित्य वस्तु ईश्वर में मन लगाना चाहिए।"

वासनात्याग

४२२. वास्तव में सच्चा मनुष्य वह है जो जीवित होकर भी मृत है – अर्थात मृत व्यक्ति की तरह जिसकी कामना-वासना आदि प्रवृत्तियाँ सम्पूर्णतया नष्ट हो गई हैं।

४२३. जब तक चित्तरूपी आकाश वासनारूपी पवन के झोकों से चंचल और क्षुब्ध रहता है तब तक उसमें ईश्वरीय ज्योति के प्रकट होने की सम्भावना नहीं। शान्त, एकाग्र, तल्लीन चित्त में ही भगवान् के दर्शन प्राप्त होते हैं।

४२४. जब तक वासना का लेशमात्र भी रहे तब तक ईश्वरदर्शन नहीं होते। इसलिए सामान्य वासनाओं को तृप्त कर लो और बड़ी-बड़ी वासनाओं को विवेक-विचारपूर्वक त्याग दो।

४२५. गहरे कुएँ के किनारे खड़ा हुआ आदमी हर समय सावधान रहता है ताकि वह कुएँ में गिर न पड़े। इसी प्रकार, संसार में रहते हुए मनुष्य को सदा वासनाओं से सावधानी बरतनी चाहिए। अगर कोई एक बार इस वासनापूर्ण संसार-कूप में गिर पड़े तो वह उसमें से शायद ही सही-सलामत बाहर निकल पाता है।

४२६. यह पूछने पर कि काम-क्रोधादि रिपुओं पर कैसे विजय प्राप्त की जाए, श्रीरामकृष्ण ने कहा :– जब तक इन प्रवृत्तियों की गति सांसारिक विषयों के प्रति केन्द्रित रहेगी तब तक ये तुम्हारे शत्रु रहेंगे। परन्तु यदि इनकी गति ईश्वराभिमुख कर दी जाए तो ये ही रिपु तुम्हारे मित्र बन जाएँगे, तुम्हें भगवत्प्राप्ति करा देंगे। सांसारिक विषयों के प्रति जो कामना है उसे ईश्वर की कामना में परिणत करो – क्रोध ही करना है तो ईश्वर पर क्रोध करो – कहो, 'क्यों तुम मुझे दर्शन नहीं देते?' इसी प्रकार सब रिपुओं को ईश्वर की ओर मोड़ दो। इन रिपुओं को नष्ट नहीं किया जा सकता, इन्हें ईश्वराभिमुख किया जा सकता है।

४२७. मन्दोदरी ने अपने पति रावण से कहा था, "यदि तुम्हें सीता को रानी बनाने की इतनी चाह है तो तुम एक बार अपनी माया से राम

का रूप धारण कर उसके सामने क्यों नहीं जाते?'' तब रावण ने कहा, ''छी! रामरूप का चिन्तन करते ही हृदय में ऐसे अपूर्व आनन्द का अनुभव होने लगता है कि उसके आगे ब्रह्मपद भी तुच्छ जान पड़ता है, फिर पराई स्त्री की बात क्या?''

४२८. हाथी को मुक्त छोड़ दिया जाए तो वह चारों ओर पेड़-पौधों को तोड़ते-मरोड़ते हुए चलने लगता है, पर जब महावत उसके सिर पर अंकुश का वार करता है तब वह शान्त हो जाता है। इसी प्रकार, मन को बेलगाम छोड़ देने पर वह तरह-तरह की फालतू चीजों का विचार करने लगता है, पर विवेकरूपी अंकुश का वार करते ही वह शान्त, स्थिर हो जाता है।

४२९. संसार के प्रति जितनी अधिक आसक्ति होगी, ज्ञानप्राप्ति की सम्भावना उतनी ही कम होगी। संसारासक्ति जितनी कम होगी, ज्ञानप्राप्ति की सम्भावना भी उतनी अधिक होगी।

४३०. दही को मथकर मक्खन निकाल लेने के बाद उस मक्खन को फिर उसी हण्डी में छाछ के साथ एकत्र रखने से मक्खन के खराब हो जाने का डर रहता है। उसे तो अलग बर्तन में स्वच्छ जल में रखना चाहिए। इसी प्रकार कुछ आध्यात्मिक उन्नति कर लेने के बाद भी मनुष्य यदि संसार में विषयों से घिरा रहते हुए विषयासक्त संसारियों की संगति करता रहे तो उस पर उसका परिणाम हो सकता है, परन्तु संसार को त्याग देने पर वह शुद्ध रह सकता है।

४३१. प्रश्न – मनुष्यसुलभ कामादि दुर्बलता को कैसे दूर किया जाए?

उत्तर – पेड़ में जब फल आ जाता है तो फूल अपने आप झड़ जाता है। इसी तरह मनुष्य में दैवी भाव का विकास होने पर दोष-दुर्बलता आदि मानवीय भाव अपने आप दूर हो जाते हैं।

४३२. एक बार अगर तीव्र वैराग्य के द्वारा भगवान् की प्राप्ति कर ली जाए तो फिर कामिनी के प्रति आसक्ति या लालसा नहीं रह जाती। स्वयं की स्त्री से भी कोई भय नहीं रह जाता। यदि लोहे के एक ओर बड़ा चुम्बक

हो और दूसरी ओर छोटा, तो लोहे को कौन खींचेगा? बड़ा चुम्बक ही! ईश्वर बड़ा चुम्बक है और कामिनी छोटा। ईश्वर के सामने भला कामिनी क्या कर सकेगी?

४३३. प्रश्न – भोगसुख का आकर्षण कैसे दूर हो सकता है?

उत्तर – सर्व सुखों के घनीभूत मूर्तिस्वरूप भगवान् का लाभ होने पर ही यह सम्भव होता है। जो उन्हें प्राप्त कर लेता है उसका मन संसार के तुच्छ, असार विषयसुखों के प्रति आकर्षित नहीं होता।

४३४. 'हिंचा' साग की गिनती सागों में नहीं होती, मिश्री मिठाइयों में नहीं गिनी जाती। हिंचा साग या मिश्री स्वास्थ्य के लिए हानिकारक नहीं, वरना उनसे तो लाभ ही होता है। प्रणव या ओंकार की गणना शब्दों में नहीं है, वह ब्रह्म का प्रतीक है। इसी प्रकार भक्ति या ज्ञान की कामना को कामनाओं में नहीं गिना जा सकता।

स्त्रियों के प्रति मनोभाव

४३५. नारी मात्र ही भगवती जगज्जननी का अंश है। अत: सभी को स्त्रियों की ओर मातृदृष्टि से देखना चाहिए।

४३६. स्त्रियाँ स्वभाव से भली हो या बुरी, सती हों या असती, उन्हें सदैव आनन्दमयी जगन्माता की मूर्ति के रूप में देखना चाहिए।

४३७. प्रश्न – स्त्रियों को किस दृष्टि से देखना चाहिए?

उत्तर – जिसने सत्यस्वरूप भगवान् के दर्शन प्राप्त कर लिये हैं उसे स्त्रियों से कोई भय नहीं रह जाता। उसे तो स्त्रियाँ साक्षात् भगवती जगज्जननी का ही अंश प्रतीत होती हैं। ऐसा व्यक्ति न केवल स्त्रियों का आदर-सम्मान करता है, बल्कि वह तो उनकी मातृबोध से प्रत्यक्ष पूजा करता है।

४३८. प्रश्न – काम पर किस तरह विजय प्राप्त की जाए?

उत्तर – सभी स्त्रियों को अपनी माता की तरह देखो। कभी स्त्रियों के चेहरे की ओर नजर न डालो, सदा उनके पैरों की ही ओर दृष्टि रखो। ऐसा करने पर कोई कुभाव नहीं आ पाएगा।

४३९. पति के साथ रहते हुए भी जो स्त्री ब्रह्मचर्य का पालन करती है, वह तो साक्षात् भगवति ही है।

४४०. प्रश्न – महाराज, तन्त्रमतानुसार स्त्री को साथ लेकर जो साधना का विधान है, उसके बारे में आपकी क्या राय है?

उत्तर – वे मार्ग सुरक्षित नहीं है। वे अत्यन्त कठिन हैं, उनमें प्राय: पतन हुआ करता है। (तन्त्रमत के अनुसार) तीन प्रकार की साधनाएँ हैं – वीरभाव, दासीभाव और सन्तानभाव। जगन्माता के प्रति इन तीन भावों में किसी एक भाव को आरोपित कर साधना की जा सकती है। मेरा भाव मातृभाव है। दासीभाव भी अच्छा है। वीरभाव की साधना बहुत कठिन और भयपूर्ण है। सन्तानभाव अत्यन्त शुद्ध भाव है।

४४१. यदि तुम भगवत्कृपा प्राप्त करना चाहते हो तो पहले आद्याशक्तिस्वरूपिणी महामाया को प्रसन्न करो। उन्होंने ही समस्त संसार को मुग्ध कर रखा है, वे ही सृष्टि, स्थिति और प्रलय का खेल खेल रही हैं। उन्होंने सब के ऊपर अज्ञान का परदा डाल रखा है, सब को अज्ञानी बना रखा है। जब तक वे द्वार पर से न हट जाएँ तब तक कोई जीव भीतर प्रवेश नहीं कर सकता। बाहर पड़े रहकर हमें केवल बाहरी वस्तुएँ ही दिखाई देती हैं, नित्य सच्चिदानन्द पुरुष के दर्शन नहीं हो पाते।

शक्ति ही जगत् का मूल आधार है। इस आद्याशक्ति के भीतर विद्या और अविद्या दोनों है। अविद्या से कामिनी-कांचन उत्पन्न होते हैं, वह जीव को मोहमुग्ध करती है और बन्धन में डालती है। विद्या से भक्ति, दया, ज्ञान और प्रेम की उत्पत्ति होती है; वह जीव को ईश्वर की ओर ले जाती है।

इस अविद्या को प्रसन्न करना होगा। इसीलिए शक्तिपूजा की व्यवस्था है। उसे प्रसन्न करने के लिए नाना भावों से पूजा की जाती है। जैसे दासीभाव, वीरभाव, सन्तानभाव। शक्तिसाधना कोई दिल्लगी नहीं। इसमें बड़ी कठिन और विकट साधनाएँ हैं। मैं दो साल तक जगन्माता की दासी और सखी के भाव से रहा। परन्तु मेरा तो सन्तानभाव है, मेरे लिए सभी स्त्रियों का स्तन अपनी माता के स्तन की तरह है।

स्त्रियाँ शक्ति की एक-एक मूर्ति है। पश्चिम की ओर विवाह के समय दूल्हे के हाथ में छुरी रहती है और बंगाल में सरौता। इसका अर्थ है, उस शक्तिस्वरूपिणी कन्या की सहायता से वर मायापाश को काट सकेगा। वह वीरभाव है। मैंने वीरभाव की साधना नहीं की। मेरा सन्तानभाव है।

भक्त और उसका परिवार

४४२. प्रश्न – अगर साधक से उसकी स्त्री कहे कि तुम मेरी ठीक तरह से देखभाल नहीं करते, मैं आत्महत्या करूँगी, तो क्या करना चाहिए?

उत्तर – ऐसी स्त्री को, जो ईश्वर के मार्ग में विघ्न डालती हो, त्याग देना चाहिए – चाहे वह आत्महत्या करे या कुछ भी करे। जो स्त्री ईश्वर के मार्ग में विघ्न डालती है वह अविद्यारूपिणी स्त्री है। परन्तु जिसकी ईश्वर पर आन्तरिक भक्ति है, सभी उसके वश में आ जाते हैं – राजा, दुर्जन व्यक्ति, स्त्री – सब। स्वयं के भीतर यदि सच्ची आन्तरिक भक्ति हो तो स्त्री भी धीरे धीरे ईश्वर की राह पर आ सकती है। स्वयं भले होने पर ईश्वर की इच्छा से वह भी अच्छी बन सकती है।

४४३. माता-पिता क्या कम हैं? उनके प्रसन्न हुए बिना धर्म-कर्म कुछ नहीं हो पाता। श्रीचैतन्यदेव को ही लो। वे तो प्रेम से उन्मत्त हो गए थे, परन्तु फिर भी संन्यास लेने के पहले वे कितने दिनों तक अपनी माता को मनाते रहे! उन्होंने कहा था, "माँ! मैं बीच-बीच में आकर तुम्हें देख जाया करूँगा।"

मनुष्य के कुछ ऋण होते हैं – देवऋण, ऋषिऋण; फिर मातृऋण, पितृऋण, स्त्रीऋण। माता-पिता के ऋण को चुकाए बिना कोई कार्य सफल नहीं हो पाता। स्त्री के प्रति भी ऋण होता है। हरीश अपनी पत्नी को त्यागकर यहाँ आकर रहता है। अगर उसकी स्त्री के गुजर-बसर की व्यवस्था न होती तो मैं कहता कि साला ढोंगी है। उस हठयोगी के लिए अफीम और दूध का बन्दोबस्त कैसे हो इसी फिक्र में रामप्रसन्न सदा मारा मारा फिरता है। कहता है कि मनु ने साधुसेवा का विधान दिया है। इधर बूढ़ी माँ को खाने

नहीं मिलता, वह खुद सौदा लेने हाट-बाजार जाया करती है। यह सब देखकर ऐसा गुस्सा आता है कि क्या कहूँ!

४४४. परन्तु एक बात है। यदि किसी की प्रेमोन्माद अवस्था हो जाए तो फिर कौन बाप, कौन माँ और स्त्री! ईश्वर पर इतना प्रेम हो कि दीवाना बन जाए! फिर उसके लिए कुछ कर्तव्य नहीं रह जाता। वह सभी ऋणों से मुक्त हो जाता है। यह प्रेमोन्माद की अवस्था आने पर मनुष्य को संसार का विस्मरण हो जाता है, अपनी देह जो इतनी प्यारी होती है, उसकी भी सुध नहीं रह जाती।

४४५. संसार में माता-पिता परम गुरु हैं। वे जब तक जीवित रहें तब तक यथाशक्ति उनकी सेवा करनी चाहिए और उनकी मृत्यु के बाद यथासाध्य उनका श्राद्ध करना चाहिए। जो पुत्र अत्यन्त निर्धन है, जिसमें श्राद्धादि करवाने की सामर्थ्य नहीं है, उसे भी वन में जाकर उनका स्मरण करते हुए रोना चाहिए, तभी उनके ऋण का चुकता होता है।

केवल ईश्वर के लिए माता-पिता की आज्ञा का उल्लंघन किया जा सकता है। जैसे की, प्रह्लाद ने पिता के मना करने पर भी कृष्णनाम लेना नहीं छोड़ा। माँ के मना करने पर भी ध्रुव तपस्या करने वन में गया। इससे उन्हें कोई दोष नहीं लगा।

प्रार्थना तथा भक्तिभाव

४४६. प्रश्न – क्या भगवान् से प्रार्थना जोर से करनी चाहिए?

उत्तर – उनसे चाहे जिस प्रकार प्रार्थना करो वे अवश्य ही सुनेंगे। वे चींटी के पग की आवाज तक सुन सकते हैं।

४४७. प्रश्न – क्या सचमुच ही वे प्रार्थना सुनते हैं?

उत्तर – हाँ। यदि मन और मुख एक करके किसी वस्तु के लिए व्याकुल होकर प्रार्थना की जाती है तो वह प्रार्थना सफल हुआ करती है। पर जो मुँह से तो कहता है कि 'प्रभो, यह सब कुछ तुम्हारा है' पर मन ही मन सोचता है कि 'यह सब मेरा है' उसकी प्रार्थना का कोई फल नहीं होता।

४४८. तुम्हारे भावों में किसी प्रकार का छल-कपट न हो। सच्चे, निष्कपट बनो, मन-मुख एक करो, तुम्हें अवश्य ही फल मिलेगा। सरल, आन्तरिक भाव से प्रार्थना करो, वे तुम्हारी प्रार्थना अवश्य ही सुनेंगे।

४४९. तुम्हारे भीतर जो भाव हो, बाहर तुम्हारी वाणी भी उसी के अनुसार होनी चाहिए। मन और मुख एक होना चाहिए। यदि तुम केवल मुख से कहो कि 'भगवान् मेरे सर्वस्व हैं' पर मन ही मन संसार को ही सर्वस्व मानो तो इससे तुम्हें कुछ लाभ नहीं होगा।

४५०. राजा के पास जाना हो तो पहले द्वार पर सिपाही-सन्तरियों की बहुत खुशामद करनी पड़ती है। इसी प्रकार राजाधिराज ईश्वर के समीप पहुँचना हो तो साधन-भजन, सत्संग और भक्तसेवा आदि अनेक उपाय करने पड़ते हैं।

४५१. सांसारिक विषयों की चिन्ता करते हुए मन को अस्थिर न होने दो। जो कुछ करना आवश्यक हो उसे ठीक समय पर करो, मन को सदा भगवान् में मग्न रखो।

४५२. जब तक कम्पास का काँटा उत्तर की ओर रहे तब तक जहाज के दिशा भूलकर संकट में पड़ने का भय नहीं। यदि मन स्थिर होकर सदा ईश्वर की ही ओर लगा रहे, तो जीवनरूपी जहाज भी सभी संकटों को पार कर आगे बढ़ता जाएगा।

४५३. प्रार्थना कैसे की जाए यही मुख्य है। संसार की वस्तुओं के लिए प्रार्थना नहीं करनी चाहिए, नारद की तरह प्रार्थना करनी चाहिए। नारद ने रामचन्द्रजी से कहा था, "हे राम! यही करो कि तुम्हारे चरणकमलों में मेरी शुद्ध भक्ति हो।" राम ने कहा, "तथास्तु। और कोई वर लो।" नारद ने कहा, "कृपा कर यह वर दो कि मैं तुम्हारी भुवनमोहिनी माया में मुग्ध न हो जाऊँ।" राम ने फिर कहा, "तथास्तु। कोई और वर माँगो।" नारद ने कहा, "नहीं भगवन्! मुझे और कुछ नहीं चाहिए।"

४५४. यदि तुम यह निश्चित न कर पाओ कि भगवान् साकार हैं या निराकार, तो उनसे इस प्रकार प्रार्थना करो – 'हे भगवान तुम साकार हो

हो या निराकार यह मैं समझ नहीं पाता। तुम जो भी हो, मुझ पर कृपा करो, मुझे दर्शन दो।'

४५५. यदि कोई ईश्वरीय रूपों को कल्पना समझकर उन पर विश्वास न भी करे तो कोई बात नहीं। वह यदि जगत् का सृजन-नियमन करनेवाली ईश्वरीय शक्ति पर विश्वास रखते हुए व्याकुल चित्त से प्रार्थना करे कि 'हे भगवन्, मैं तुम्हारा स्वरूप नहीं जानता, तुम जैसे हो वैसे ही मेरे सामने प्रकट होओ', तो उस पर भगवान् अवश्य कृपा करते हैं।

४५६. भगवान् के कान बड़े तीक्ष्ण हैं। तुमने अभी तक जो कुछ भी प्रार्थना की है वह सब उन्होंने सुना है। वे किसी न किसी समय तुम्हें अवश्य ही दर्शन देंगे – कम से कम मृत्यु के समय तो देंगे ही।

□□□

अध्याय ११

साधक तथा विभिन्न धर्ममत

सभी धर्मों का ईश्वर एक ही है

४५७. जिस प्रकार एक ही जल को कोई 'वारि' कहता है और कोई 'पानी', कोई 'वाटर' कहता है तो कोई 'एक्वा', उसी प्रकार एक ही सच्चिदानन्द को देशभेद के अनुसार कोई 'हरि' कहता है तो कोई 'अल्लाह', कोई 'गाड', कहता है तो कोई 'ब्रह्म'।

४५८. जिस प्रकार कुम्हार के यहाँ हण्डी, गमले, सुराही, सँकोरे आदि भिन्न-भिन्न वस्तुएँ होती हैं, परन्तु सभी एक ही मिट्टी की बनी होती हैं, उसी प्रकार ईश्वर एक होते हुए भी देश-कालादि के भेदानुसार भिन्न-भिन्न रूपों और भावों में प्रकट होते हैं।

४५९. जैसे एक ही शक्कर की मिठाई के अलग-अलग आकार बनाए जाते हैं वैसे ही एक ही ईश्वर विभिन्न देश-काल में विभिन्न नाम-रूपों में पूजे जाते हैं।

४६०. सोने से नाना प्रकार के गहने बनाए जाते हैं। गहनों के नाम और आकार अलग अलग होने पर भी वे सभी एक ही सोना हैं। इसी तरह, एक ही ईश्वर भिन्न-भिन्न देशों में, भिन्न-भिन्न समय में, भिन्न-भिन्न नामों और रूपों में पूजे जाते हैं। साधक की भावना के अनुसार उनकी विभिन्न भावों से पूजा हो सकती है – कोई पिता या माता के रूप में, कोई सखा या प्रेमास्पद के रूप में, कोई अन्तरात्मा प्राणधन के रूप में, तो कोई अपनी सन्तान के रूप में उनकी आराधना करता है। परन्तु इन सभी भावों के भीतर

से उस एक ही ईश्वर की पूजा होती है।

४६१. एक बार बर्दवान के महाराजा की सभा में पण्डितों के बीच आपस में तर्क-विचार छिड़ गया – शिव बड़े हैं या विष्णु? कोई कहता शिव बड़े हैं तो कोई कहता विष्णु बड़े हैं। जब विवाद बढ़कर झगड़े में परिणत हो गया तो एक विद्वान् पण्डित से निर्णय पूछा गया। उन पण्डित ने कहा, "महाशय, मैंने न तो शिव को देखा है न विष्णु को। भला मैं कैसे कहूँ कि कौन बड़ा है!" एक देवता की दूसरे देवता के साथ इस प्रकार की तुलना नहीं करनी चाहिए। यदि तुम्हें किसी एक देवता के दर्शन हो जाएँ तो तुम देखोगे कि सभी देवता उस एक ही परब्रह्म के प्रकाश हैं।

विभिन्न धर्म ईश्वरप्राप्ति के विभिन्न पथ हैं।

४६२. बड़े तालाब में बहुतसे घाट होते हैं। किसी भी घाट से उतरने पर एक ही पानी मिलता है। इसलिए 'मेरा घाट अच्छा है, तुम्हारा घाट नहीं' इस तरह परस्पर झगड़ना निरर्थक है। इसी प्रकार, सच्चिदानन्द-सरोवर में भी अनेक घाट हैं। सभी धर्म मानो एक एक घाट हैं। यथार्थ में व्याकुल होकर लगन के साथ इनमें किसी भी एक घाट के सहारे आगे बढ, तुम अवश्य ही सच्चिदानन्द सरोवर में उतर सकोगे। ऐसा कभी न कहो कि मेरा धर्म श्रेष्ठ है।

४६३. ईश्वर के अनन्त नाम और अनन्त रूप हैं। जिस नाम और जिस रूप में तुम्हारी रुचि हो उसी नाम से और उसी रूप में तुम उन्हें पुकारो, तुम्हें उनके दर्शन मिलेंगे।

४६४. जैसे कालीघाट के कालीमन्दिर में जाने के लिए बहुत से रास्ते हैं, वैसे ही भगवान् के घर जाने के लिए भी बहुतसे रास्ते हैं। हरएक धर्म एक एक राह है।

४६५. जिस समय कलकत्ते में एक ओर हिन्दू और दूसरी ओर ब्राह्म धर्म का जोरों से प्रचार चल रहा था, उस समय किसी ने जाकर श्रीरामकृष्ण से इन दो मतों के बारे में उनकी राय पूछी थी। श्रीरामकृष्ण ने कहा था,

"मैं देख रहा हूँ कि मेरी ब्रह्ममयी माँ दोनों के द्वारा अपना कार्य करा ले रही है।"

४६६. किसी ब्राह्म सज्जन के द्वारा पूछे जाने पर कि ब्राह्म धर्म और हिन्दू धर्म में क्या भेद है, श्रीरामकृष्ण ने कहा था – शहनाई में एक ही स्वर अलापने और अलग-अलग धुनें बजाने में जो अन्तर है वही। ब्राह्म धर्म मानो ब्रह्म का एक ही स्वर लगाकर बैठा है, जबकि हिन्दू धर्म उसमें से अलग-अलग सुर-तान-लय निकालते हुए तरह-तरह की राग-रागिनियाँ बजा रहा है।

४६७. जिस प्रकार छत पर चढ़ने के लिए निसैनी, बाँस, रस्सा, सीढ़ी आदि अनेक उपाय हैं, उसी प्रकार ईश्वर के निकट पहुँचने के लिए भी अनेक उपाय हैं – प्रत्येक धर्म ही एक-एक उपाय बताता है।

४६८. गैसबत्ती की रोशनी नाना स्थानों में नाना प्रकार से प्रकाशमान होती है, परन्तु आती है एक ही आधार से। इसी तरह विभिन्न समय में विभिन्न देशों और विभिन्न जातियों के धर्मगुरु उस एक ही परमेश्वर से आते हैं और ईश्वरीय आलोक से सब को प्रकाशित करते हैं।

४६९. सभी सियारों की पुकार एकसी होती है। सभी ज्ञानियों का उपदेश एक ही होता है।

धर्मान्धता का कारण तथा उसे दूर करने का उपाय

४७०. अज्ञान के ही कारण मनुष्य अपने स्वयं के धर्म को श्रेष्ठ समझते हुए व्यर्थ का शोर मचाता है। जब चित्त में यथार्थ ज्ञान का प्रकाश आ जाता है तो सब साम्प्रदायिक कलह शान्त हो जाते हैं।

४७१. दो आदमियों के बीच घोर विवाद छिड़ गया। एक ने कहा, 'उस खजूर के पेड़ पर एक सुन्दर लाल रंग का गिरगिट रहता है।' दूसरा बोला, 'तुम भूल करते हो, वह गिरगिट लाल नहीं नीला है।' विवाद करते हुए कुछ निश्चय न कर पाने के कारण अन्त में दोनों जन उस खजूर के पेड़ के नीचे जाकर वहाँ रहनेवाले आदमी से मिले। उनमें से एक ने उससे

पूछा, 'क्यों जी, तुम्हारे इस पेड़ पर एक लाल रंग का गिरगिट रहता है न!' वह आदमी बोला, 'जी हाँ।' तब दूसरे ने कहा, 'अजी, क्या कहते हो? वह गिरगिट लाल नहीं, नीला है।' वह आदमी बोला, 'जी हाँ।' वह जानता था कि गिरगिट बहुरूपी होता है, सदा रंग बदलता रहता है, इसलिए उसने दोनों की बात में हामी भरी। सच्चिदानन्द भगवान् के भी अनेक रूप हैं। जिस साधक ने उनके जिस रूप का दर्शन किया है, वह उसी रूप को जानता है। परन्तु जिसने उनके बहुविध रूपों को देखा है, वही कह सकता है कि ये विविध रूप उस एक ही प्रभु के हैं। वे साकार हैं, निराकार हैं, तथा उनके और भी कितने प्रकार हैं यह कोई नहीं जानता।

४७२. बड़े तालाबों में स्वच्छ जल में 'दल' नहीं होता, वह छोटी, सड़ी तलैया में ही पैदा होता है। इसी प्रकार, जिस सम्प्रदाय के लोग शुद्ध, उदार, निःस्वार्थ भाव परिचालित होकर कार्य करते हैं उसमें फूट होकर दल निर्माण नहीं होते। दल तो उसी सम्प्रदाय में बनते हैं जिसके लोग स्वार्थी, कपटी और कट्टर होते हैं।

४७३. क्या दल बनाना अच्छा है? बहते प्रवाह में कभी 'दल' नहीं उगता, छोटी तलैया के जमे हुए, सड़े पानी में ही 'दल'* पैदा होता है। जिसका मन ईश्वरप्राप्ति के मार्ग पर व्याकुल होकर दौड़ रहा है, उसकी अन्य किसी ओर दृष्टि नहीं रहती; जिसकी दृष्टि मान-सम्मान पर निबद्ध रहती है, वही दल बनाना चाहता है।

४७४. अपनी अपनी जमीन को सभी लोग घेरा लगाकर अलग कर सकते हैं, परन्तु आकाश को कोई घेरकर खण्डित नहीं कर सकता। सभी खण्डित भूमिभागों के ऊपर एक अखण्ड आकाश विराजित है। अज्ञान के कारण मनुष्य अपने ही धर्म को सत्य और श्रेष्ठ समझता है; परन्तु चित्त में यथार्थ ज्ञान का उदय होने पर वह देखता है कि सभी धर्ममतों के पीछे एक अखण्ड सच्चिदानन्द विराजमान है।

---

* यह एक प्रकार की घास है जो जलाशयों में उत्पन्न होकर जल पर छा जाती है।

विभिन्न धर्मों के प्रति उचित मनोभाव

४७५. भगवान् एक हैं यह दृढ़ विश्वास लेकर जो साधना करेगा, उसे अवश्य ही भगवत्प्राप्ति होगी – फिर वह चाहे जिस भाव से, जिस रूप में उनकी आराधना क्यों न करे।

४७६. भगवान् का नाम और चिन्तन तुम चाहे जिस रीति से करो, उससे कल्याण ही होगा। जैसे मिश्री की डली सीधी खाओ या टेढ़ी करके खाओ, वह मीठी ही लगेगी।

४७७. प्रश्न – यदि सभी धर्मों के भीतर एक ही ईश्वर का वर्णन है तो फिर हरएक धर्म के वर्णनानुसार ईश्वर अलग-अलग क्यों प्रतीत होता है?

उत्तर – ईश्वर एक हैं परन्तु उनके भाव विविध हैं। जिस प्रकार घर का प्रमुख व्यक्ति एक ही होता है परन्तु वह किसी का पिता, किसी का भाई तो किसी का पति लगता है – उसी प्रकार भाव भिन्न-भिन्न होते हुए भी ईश्वर एक हैं।

४७८. जिस प्रकार माँ अपने बच्चों के स्वास्थ्य के अनुसार किसी के लिए दाल- भात तो किसी के लिए साबूदाने की व्यवस्था करती है उसी प्रकार भगवान् भी प्रत्येक मनुष्य के लिए उसके स्वभाव के अनुसार उपयुक्त साधना की व्यवस्था करते है।

४७९. शंकराचार्य ने वेदान्तदर्शन की जो अद्वैत-मतानुसार व्याख्या की है वह सत्य है और रामानुज ने जो विशिष्टाद्वैत-मतानुसार व्याख्या की है वह भी सत्य है।

४८०. मनुष्य को ईसाइयों की तरह दयावान्, मुसलमानों की तरह बाह्य विधि-निषेधों के प्रति दृढ़ आस्थावान्, तथा हिन्दुओं की तरह सब के प्रति उदार एवं दानशील होना चाहिए।

४८१. जब तुम बाहर के लोगों के साथ मिलो तब सब से प्रेम करो, हिल-मिलकर एक हो जाओ – द्वेषभाव तनिक भी न रखो। 'वह साकारवादी है, निराकार नहीं मानता', 'वह निराकारवादी है, साकार नहीं मानता', 'वह हिन्दू है, वह मुसलमान है, वह ईसाई है' इस प्रकार किसी के प्रति नाक-

भौं सिकोड़ते हुए घृणा मत प्रकट करो। भगवान् ने जिसको जैसा समझाया है, उसने उन्हें वैसा ही समझा है।

यह जानकर कि सभी जन भिन्न-भिन्न स्वभाव के हैं, सब के साथ जितना सम्भव हो सके मिला-जुला करना। इस प्रकार बाहर सब से प्रेम से मिलकर जब तुम अपने घर आओगे तब मन में शान्ति और आनन्द का अनुभव करोगे।

४८२. हर एक व्यक्ति को अपने स्वधर्म का ही पालन करना चाहिए। ईसाई को ईसाई धर्म का, मुसलमान को मुसलिम धर्म का पालन करना चाहिए। हिन्दुओं के लिए प्राचीन आर्य ऋषियों का सनातन मार्ग ही श्रेयस्कर है।

४८३. यथार्थ साधक को यही भावना रखनी चाहिए कि दूसरों के धर्म भी सत्यप्राप्ति के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। दूसरे धर्मों के प्रति श्रद्धा का भाव रखना चाहिए।

४८४. विवाद मत करो। तुम स्वयं जिस प्रकार अपने मत पर दृढ़ता के साथ निर्भर रहते हो, उसी प्रकार दूसरों को भी अपने अपने मत पर निर्भर रहने दो। वृथा तर्क-विवाद कर तुम किसी को उसकी गलती नहीं समझा पाओगे। जब ईश्वर की कृपा होगी तब सभी अपनी अपनी गलती समझ सकेंगे।

४८५. एक दिन श्रीरामकृष्ण भावावस्था में जगज्जननी के साथ वार्तालाप करते हुए कह रहे थे, ''माँ, सभी कहते हैं, 'मेरी घड़ी ठीक चल रही है।' ईसाई, हिन्दु, मुसलमान सभी कहते हैं, 'मेरा ही धर्म ठीक है'। परन्तु माँ, किसी की भी घड़ी ठीक नहीं चलती है। तुझे यथार्थ रूप से कौन समझ सकता है, माँ? लेकिन तुझे व्याकुल होकर पुकारने पर तेरी कृपा से किसी भी धर्ममार्ग से तेरे पास पहुँचा जा सकता है।''

४८६. कुछ विशिष्ट साधकों को तथाकथित गुप्त साधनाओं का अनुष्ठान करते देख श्रीरामकृष्ण के कट्टर नीतिवादी भक्तगण घृणाबुद्धि से प्रेरित हो उनसे बहुधा पूछा करते, ''महाराज, इतने उन्नत स्तर के साधक होकर भी अमुक ने पंचमकार की साधना की अथवा श्रेष्ठ भक्त तथा पण्डित होकर भी अमुक ने परकीया नायिका का ग्रहण कर साधना की, यह तो

बड़ी अनुचित बात है!'' इस पर श्रीरामकृष्ण कहा करते – ''इसमें उन लोगों का कोई दोष नहीं। उन्हें सोलह आना विश्वास था कि ईश्वरप्राप्ति का यही मार्ग है। 'इससे ईश्वरलाभ होगा' ऐसा आन्तरिक विश्वास लेकर सरल भाव से जो जिस साधनप्रणाली का अनुष्ठान करता है उसे दोषयुक्त कहकर उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिए। किसी के भाव को नष्ट नहीं करना चाहिए। क्योंकि किसी भी भाव का ठीकठीक अवलम्बन कर आगे बढ़ने से सर्व-भावमय भगवान् की प्राप्ति अवश्य ही होती है। अपने अपने भाव के अनुसार भगवान् को पुकारते रहो। किसी के भाव की निन्दा न करो और न दूसरे के भाव को अपना समझकर ग्रहण करने का प्रयत्न ही करो।''

४८७. भक्तों के मन में कुछ गुप्त साधनप्रणालियों के प्रति घृणा या द्वेषभाव देखकर उसे दूर करने के लिए श्रीरामकृष्ण कहा करते – ''अरे, तुम उस सब के प्रति द्वेषबुद्धि क्यों रखते हो? यह ज्ञान रखो कि वह भी एक मार्ग है, पर अशुद्ध मार्ग है। जैसे घर में प्रवेश करने के लिए अनेक दरवाजे होते हैं – सामने सदर दरवाजा, पिछवाड़े का दरवाजा, फिर मैला साफ करने के लिए मेहतर के अन्दर आने का भी एक दरवाजा होता है – इसे भी वैसा ही एक दरवाजा समझना! कोई चाहे जिस मार्ग से प्रवेश करे, घर के अन्दर जाने पर सभी लोग एक ही स्थान पर पहुँचते हैं। पर इसलिए इसका मतलब यह नहीं कि तुम भी वही मार्ग अपनाओ या उनके साथ जा मिलो। ऐसा कभी मत करो, परन्तु साथ ही उनके प्रति द्वेषभाव भी मत रखो।

□□□

अध्याय १२

आध्यात्मिक जीवन के लिए आवश्यक बातें

ज्ञानलाभ के लिए कुछ शर्तें

४८८. जिस आदमी को भूत ने पकड़ा है वह अगर समझ जाए कि उस पर भूत सवार हुआ है तो भूत तुरन्त उसे छोड़ देता है। इसी प्रकार, मायाग्रस्त जीव यदि समझ जाए कि वह मायापाश में बँधा हुआ है तो वह शीघ्र ही उससे मुक्त हो सकता है।

४८९. जो अपने भावों के राज्य में चोरी-धोखेबाजी नहीं करता वही परमधाम को पहुँच सकता है। अर्थात् सरल विश्वास और निष्कपट भाव से ही सच्चिदानन्द की प्राप्ति होती है।

४९०. एक ने कहा था, 'वस्तु का मूल स्वभाव कभी नहीं बदल सकता।' इस पर दूसरे ने उत्तर दिया था, 'जब कोयले में आग प्रवेश कर जाती है तब उसका स्वभावसिद्ध कालापन भी दूर हो जाता है।' इसी तरह मन जब ज्ञानाग्नि में जल जाता है तो उसका मूल बन्धनकारक स्वभाव नष्ट हो जाता है।

४९१. मन ही सब कुछ है। मनुष्य मन ही से बद्ध है और मन ही से मुक्त। मन मानो धोबी के यहाँ से धुलकर आया हुआ सफेद वस्त्र है; उस पर जो रंग चढ़ाओ वही चढ़ जाएगा। देखो न, अगर कुछ अँगरेजी सीख लो तो बात करते समय मुँह में अँगरेजी शब्द अपने आप आने लगते हैं। संस्कृत पढ़कर पण्डित श्लोक झाड़ने लगता है। मन को यदि कुसंगति में रखो तो वैसी ही बातचीत, वैसी ही विचारधारा हो जाएगी। यदि भक्तों

की संगति में रखो तो ईश्वरीय प्रसंग, ईश्वरचिन्तन, यही सब हुआ करेंगे।

४९२. मन ही सब कुछ है। एक और स्त्री है और एक ओर सन्तान। मनुष्य दोनों ही को प्यार-दुलार करता है – पर स्त्री को एक प्रकार से; सन्तान को दूसरे प्रकार से। किन्तु मन एक ही है।

४९३. मन में ही बन्धन है और मन में ही मुक्ति। अगर तुम कहो, "मैं मुक्त हूँ। मैं ईश्वर की सन्तान हूँ! मुझे कौन बाँध सकता है!" तो तुम मुक्त ही हो जाओगे। जिस आदमी को साँप ने काटा है वह अगर पूरे विश्वास और दृढ़ता के साथ कहे कि 'मुझ पर विष नहीं चढ़ा, विष नहीं चढ़ा!' तो अवश्य ही उस पर विष का परिणाम नहीं होता।

४९४. प्रश्न – मैं मुक्त कब होऊँगा?

उत्तर – जब 'मैं' नहीं रहेगा। 'मैं-मेरा' अज्ञान है, 'तू-तेरा' ज्ञान।

विश्वास

४९५. एक शिष्य को किसी के विश्वास को 'अन्धविश्वास' कहकर निन्दा करते हुए देख श्रीरामकृष्ण ने कहा था – "अच्छा क्या तू मुझे समझा सकता है कि यह अन्धविश्वास क्या होता है? विश्वास तो पूरी तरह अन्धा ही होता है, उसे भला आँखे कब होने लगी? या तो कह 'विश्वास', नहीं तो कह 'ज्ञान'। नहीं तो, विश्वास के भीतर भी कुछ विश्वास अन्धे हैं और कुछ के आँखे हैं – यह भला कैसी बात हुई?"

४९६. भगवान् पर विश्वास न होने के कारण ही मनुष्य को इतना कष्ट भोगना पड़ता है।

४९७. शारीरिक लक्षणों पर से भी पता चलता है कि किसके भीतर विश्वास है, किसके नहीं। जिसकी हड्डियाँ निकली हुई हों, जिसकी आँख भीतर धँसी हुई हों या जो काना या एंचाताना हो, उसे आसानी से विश्वास नहीं होता।

४९८. दूसरों को मारने के लिए ढाल-तलवार की जरूरत होती है, स्वयं को मारने के लिए एक नहरनी ही काफी है। दूसरों को समझाने के

लिए अनेकों शास्त्र, दर्शन आदि का अध्ययन करना पड़ता है, पर स्वयं की मुक्ति के लिए किसी एक ही शास्त्रवाक्य पर दृढ़ विश्वास हो तो काफी है।

४९९. प्रश्न – हिन्दुओं के बीच नाना धर्ममत, नाना पन्थ प्रचलित हैं, हमें उनमें से कौनसा मत ग्रहण करना चाहिए?

उत्तर – पार्वती ने महादेव से पूछा था, "भगवन्, सच्चिदानन्द की प्राप्ति का मूल उपाय क्या है?" महादेव ने कहा, "विश्वास"। मत या पन्थ से कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, जिसे जिस मत की शिक्षा-दीक्षा मिली है, उसे विश्वास के साथ उसी मतानुसार साधना करनी चाहिए।

५००. विश्वास और ज्ञान में परस्पर सम्बन्ध है। विश्वास जितना बढ़ेगा, उतना ही अधिक ज्ञान प्राप्त होगा। विश्वास न हो तो ज्ञान की आशा करना वृथा है। जो गाय चुन-चुनकर खाती है वह दूध कम देती है। और जो गाय घास-पत्ती कड़वी, चोकर-भूसा जो मिले वही गपागप खा जाती है वह घर्र घर्र दूध देती है, उसके दूध की धार नहीं टूटती।

५०१. जिसमें विश्वास है, उसमें सब है; विश्वास नहीं तो कुछ भी नहीं।

५०२. अगर तुम्हें ईश्वरलाभ करने की इच्छा हो तो दृढ़ विश्वास के साथ उनका नाम लेते जाओ और सत्-असत् का विवेक किया करो।

५०३. बालक की तरह सरल विश्वास हुए बिना ईश्वर नहीं मिलते। माँ ने कह दिया कि वह तेरा भैया है, बस उसको सोलह आना विश्वास हो गया कि वह मेरा भैया है। माँ ने कह दिया कि उस कमरे में 'हौआ' रहता है, बालक ने पूरा पूरा विश्वास कर लिया कि उस कमरे में 'हौआ' रहता है। इस तरह बालक के जैसा विश्वास देखने पर भगवान् को दया आती है। सांसरिक विषयबुद्धि के द्वारा वे नहीं मिलते।

५०४. एक दिन श्रीकृष्ण अर्जुन के साथ रथ पर बैठकर कहीं जाते जाते आकाश की ओर देख बोल उठे, "देखो मित्र, कितने सुन्दर झुण्ड के झुण्ड कबुतर उड़ रहे हैं!" अर्जुन ने तुरन्त उस ओर देखकर कहा, "सचमुच ही सखा, बहुत ही सुन्दर कबुतर हैं!" पर दूसरे ही क्षण श्रीकृष्ण ने फिर से देखकर कहा, "नहीं सखा, ये कबूतर नहीं हैं।" अर्जुन ने भी

देखकर कहा, "ठीक तो है सखा, ये कबूतर नहीं हैं।" अब इसका अर्थ समझ लो। अर्जुन महान् सत्यनिष्ठ था, उसने कृष्ण की खुशामद करने के लिए ऐसा नहीं कहा। परन्तु श्रीकृष्ण की बातों पर उसका इतना विश्वास था, इतनी श्रद्धा-भक्ति थी कि श्रीकृष्ण ने जैसा कहा, उसे वास्तव में वैसा ही दिखाई दिया।

५०५. शक्कर की चाशनी तैयार करते समय जब तक उसमें मैल हो तब तक उसमें से आवाज के साथ धुआँ निकलता जाता है और ऊपर झाग उठता रहता है। परन्तु जब झाग आ-आकर सब मैल निकल जाता है तो फिर न तो धुआँ निकलता है और न आवाज ही। तब तो शुद्ध, स्वच्छ रस ही रह जाता है। तब उससे मिठाई बनाकर देवता को चढ़ाया जा सकता है, लोगों को खिलाया जा सकता है। विश्वासवान् मनुष्य का भी ऐसा ही होता है।

५०६. एक आदमी समुद्र पार करना चाहता था। एक साधु ने उसे एक ताबीज देकर कहा – "इसके बल पर तुम समुद्र पार हो जाओगे।" उस ताबीज को ले वह आदमी पानी पर से चलते हुए आगे बढ़ने लगा। बीचोंबीच जाकर उसके मन में कुतूहल हुआ कि भला देखूं तो इस ताबीज के भीतर ऐसी क्या चीज है जिसके बल पर समुद्र पार किया जा सकता है। उसने ताबीज को खोलकर देखा, उसमें एक कागज का टुकड़ा था जिस पर केवल 'राम' लिखा हुआ था। वह उपेक्षा के साथ बोल उठा,'बस, यही है? और कुछ नहीं?' जैसे ही यह संशय का भाव आया वैसे ही वह डूब गया। भगवान् के नाम पर विश्वास हो तो असम्भव भी सम्भव हो सकता है। विश्वास ही जीवन है और अविश्वास मृत्यु।

५०७. एक शिष्य को गुरु पर इतना विश्वास था कि वह 'गुरु, गुरु' कहते हुए विश्वास के बल पर नदी पार हो गया। यह देखकर गुरु ने सोचा, 'तो सचमुच ही मुझमें इतनी शक्ति है! मुझे तो अब तक यह पता ही नहीं था।' दूसरे दिन गुरु 'मैं, मैं' कहते हुए नदी पार होने गए परन्तु पानी पर पैर रखते ही वे गिर पड़े और अपने को सम्हाल न पाकर डूब मरे! विश्वास

का परिणाम अद्भुत होता है, परन्तु अहंकार से विनाश ही होता है।

५०८. स्वयं रामचन्द्रजी को समुद्र पार करने के लिए सेतु बाँधना पड़ा, परन्तु हनुमानजी केवल 'जय राम' कहकर एक ही छलाँग में अनायास समुद्र लाँघ गए। विश्वास में कितनी सामर्थ्य है!

५०९. किसी राजा के हाथ से ब्रह्महत्या हो गई थी। इस पाप के प्रायश्चित्त का विधान पूछने के लिए वह एक ऋषि की कुटिया में गया। ऋषि उस समय स्नान के लिए गए हुए थे। उनका पुत्र कुटिया में था, उसने राजा की बात सुनकर कहा, "तुम तीन बार रामनाम ले लो"। ऋषि ने कुटिया में लौटकर जब यह बात सुनी तो वे क्रुद्ध होकर बोले, "जिस रामनाम का एक बार उच्चारण करने से कोटि जन्मों के पाप कट जाते हैं, तूने राजा से वह रामनाम तीन बार लेने को कहा! तू चण्डाल बन जा।" यही ऋषिपुत्र रामायण का गुहक चण्डाल बना।

५१०. पत्थर हजारों साल तक पानी में पड़ा रहे तो भी उसके भीतर एक बूँद पानी नहीं घुसता, परन्तु मिट्टी के ढेले में पानी लगते ही वह घुल जाता है। जिसके हृदय में विश्वास का बल है वह हजारों बाधा-विघ्न की परीक्षा में से गुजरकर भी हताश नहीं होता, परन्तु अविश्वासी व्यक्ति छोटीसी बात से ही विचलित हो जाता है।

५११. जो जैसा चिन्तन करता है वह वैसा ही बन जाता है। भ्रमर का चितन्त करते करते झींगुर भी भ्रमर ही बन जाता है। इसी प्रकार सदा सच्चिदानन्द का चिन्तन करते रहने से मनुष्य सच्चिदानन्दस्वरूप ही हो जाता है।

५१२. जिन्दगी भर पाप और नरक की बात क्यों करते रहते हो? भगवान् का नाम लो। एक बार कहो, "हे प्रभो, मुझे जो करना चाहिए था वह मैंने नहीं किया, जो नहीं करने चाहिए वही काम किए हैं; मुझे क्षमा करो!" पूरे विश्वास के साथ उनसे प्रार्थना करो, तुम्हारे सारे पाप नष्ट हो जाएँगे।

५१३. विश्वास के बल पर रोग दूर करनेवाले वैद्य रोगी से कहते

हैं – "पूर्ण विश्वास के साथ कहो, 'मुझे कोई रोग नहीं है।' " इस प्रकार कहते कहते आत्मविश्वास जागृत होकर रोगी का रोग अच्छा हो जाता है। तुम यदि स्वयं को पापी, दुर्बल समझो तो शीघ्र ही तुम वैसे ही बन जाओगे। यदि तुम विश्वास रखो कि तुममें अनन्त शक्ति है, तो वास्तव में तुममें शक्ति आएगी।

५१४. जो सोचता है 'मैं जीव हूँ' वह जीव ही रह जाता है; जो सोचता है 'मैं शिव हूँ' वह शिव ही बन जाता है। मनुष्य जैसी भावना करता है वैसा ही बनता है।

ईश्वरार्पण

५१५. जो सरल भक्ति-विश्वास के साथ प्रभु के चरणों में सर्वस्व समर्पण कर देता है, उसे बहुत जल्दी ईश्वराप्राप्ति होती है।

५१६. संसार में रहना या संसार का त्याग करना भगवान् की ही इच्छा पर निर्भर है। इसलिए उन्हीं पर सब कुछ सौंपकर अपना कर्तव्य किए जाओ। इसके सिवा तुम कर ही क्या सकते हो?

५१७. मैदान में जमा हुआ पानी किसी के इस्तेमाल न करने पर भी अपने आप धूप से सूख जाता है। पापी मनुष्य भी यदि ईश्वर के ऊपर निर्भर होकर पड़ा रहे तो उनकी दया से अपने आप पवित्र हो जाता है।

५१८. प्रश्न – संसार में हमें किस प्रकार रहना चाहिए?

उत्तर – सब कुछ भगवान् को समर्पित कर दो, स्वयं को भी समर्पित कर दो। ऐसा करने पर फिर कोई तकलीफ नहीं रह जाएगी। तब तुम देख पाओगे कि सब कुछ उन्हीं की इच्छा से हो रहा है।

५१९. ईश्वर को ब-कलमा दे देना – मैं-पन बिलकुल न रखते हुए ईश्वर की ही इच्छा पर अपना सब कुछ सौंप देना – इससे बढ़कर सरल और सीधा रास्ता और नहीं है।

५२०. बन्दर का बच्चा अपनी माँ को कसकर पकड़े हुए उससे लिपटा रहता है, परन्तु बिल्ली का बच्चा पड़े पड़े सिर्फ 'म्याऊँ-म्याऊँ' किया करता

है, बिल्ली स्वयं ही उसे मुँह में पकड़कर उठा ले जाती है। बन्दर का बच्चा अगर हाथ छोड़ दे तो नीचे गिर पड़ेगा क्योंकि उसने स्वयं अपनी माँ को पकड़ रखा है। परन्तु बिल्ली के बच्चे को गिरने का भय नहीं है क्योंकि उसे उसकी माँ ने पकड़ रखा है। पुरुषकार और ईश्वरनिर्भरता में यही अन्तर है।

५२१. एक आदमी अपने एक बच्चे को गोद में लिये और दूसरे बच्चे को अपना हाथ दिये हुए खेत की मेड़ पर से चला जा रहा था। चलते चलते आसमान में एक चील को उड़ते देख दूसरा बच्चा, जो अपने पिता का हाथ पकड़कर चल रहा था, मारे खुशी के पिता का हाथ छोड़ ताली पीटते हुए 'पिताजी, देखो कैसी चिड़िया है' कहते हुए चिल्ला उठा। पर हाथ छोड़ते ही वह ठोकर खाकर गिर पड़ा। जो बच्चा पिता की गोद में था, वह भी खुश होकर तालियाँ बजा रहा था, पर वह नहीं गिरा क्योंकि पिता ने उसे पकड़ रखा था। इसमें से पहला बच्चा पुरुषकार का उदाहरण है और दूसरा ईश्वरनिर्भरता का।

५२२. श्रीमती राधिका को एक बार अपने सतीत्व की परीक्षा देनी पड़ी। उन्हें एक हजार छेदवाले घड़े में पानी भरकर लाने कहा गया। जब वे वह सहस्रधारा कलश भरकर चलने लगीं तो उसमें से एक बूँद भी पानी नहीं गिरा। यह देख सभी लोग उनकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे कि ऐसी सती दूसरी न होगी। इस पर श्रीमती ने कहा, "तुम लोग मेरा जयघोष क्यों करते हो? कहो, 'श्रीकृष्ण की जय हो, श्रीकृष्ण की जय हो।' मैं तो उनकी एक दासी मात्र हूँ।"

५२३. ईश्वरनिर्भरता कैसी होती है? जैसी कड़ी मेहनत करने के बाद तकिए से टेककर बैठे हुए आराम से हुक्का पीना। अर्थात् किसी तरह की फिक्र नहीं है, जो करना हो ईश्वर ही करेंगे यह भाव।

५२४. संसार में आँधी में उड़नेवाली जूठी पत्तल की तरह रहा करो। जूठी पत्तल आँधी के भरोसे निर्भर रहती है, आँधी उसे जहाँ उड़ा ले जाती है, वहीं जाती है – कभी किसी घर के भीतर तो कभी कूड़े-कचरे में। इसी तरह, प्रभु ने तुम्हें संसार में रख छोड़ा है, तो अभी संसार में रहो; फिर

जब वे तुम्हें इससे अच्छी जगह पर ले जाएँगे तब उनके भरोसे वहीं रहना। उन पर निर्भर होकर निर्लिप्त रूप से पड़े रहना।

इष्ट की आवश्यकता

५२५. घर की बहू सास-ससुर, जेठ-जेठानी सब का आदर सम्मान करती है, सब की सेवा करती है, किसी की अवज्ञा या उपेक्षा नहीं करती। परन्तु अपने पति को वह सब से अधिक चाहती है। इसी तरह तुम भी अपने इष्टदेवता पर दृढ़ एकनिष्ठ भक्ति रखो पर अन्य देवी-देवताओं की उपेक्षा मत करो। सब देवों के प्रति श्रद्धा रखो कारण सभी देव एक ही परमेश्वर के रूप हैं।

५२६. चौसर के खेल में गोटी सब खानों का चक्कर लगाए बिना मंजिल पर नहीं पहुँचती। यदि दो गोटियाँ जोड़ी बाँधकर इकट्ठी चलें तभी उन्हें कोई काट नहीं सकता, नहीं तो अकेली गोटी मंजिल के पास पहुँचकर पकते पकते भी कट जा सकती है। इसी प्रकार साधना के मार्ग पर भी यदि गुरु और इष्ट के साथ युक्त होकर आगे बढ़ा जाए तो बाधाविघ्न का भय नहीं रहता, यात्रा निर्विघ्न रूप से सफल हो सकती है।

५२७. कलकत्ता जाने के लिए कई रास्ते हैं। एक बार किसी मुसाफिर ने एक आदमी से कलकत्ता जाने का रास्ता पूछा। उस आदमी ने कहा, इस रास्ते से चले जाओ। थोड़ी दूर चलकर उसने और एक जन से रास्ता पूछा। उसने और एक रास्ता बताया। इस तरह वह थोड़ासा आगे बढ़कर किसी से रास्ता पूछता और उसके दूसरा रास्ता बताने पर अपना पहला रास्ता छोड़ उसी पर चलने लगता। ऐसा करते हुए वह आखिर तक रास्तों पर ही भटकता रहा, कलकत्ता नहीं पहुँच पाया। यदि कलकत्ता जाना हो तो जो ठीक रास्ता जानता है ऐसे एक ही व्यक्ति से रास्ता पूछकर उसी के निर्देशानुसार चलना चाहिए। इसी भाँति, यदि ईश्वर के निकट पहुँचना हो तो एक जन का निर्देश मानकर चलो, नहीं तो फिजूल भटकते फिरोगे।

५२८. एक आदमी कुआँ खोदने गया। थोड़ासा खोदने के बाद ही

पानी नहीं आते देख उसने वह जगह छोड़ दी और दूसरी जगह खोदना शुरू किया। पर जब बहुतसी जमीन खोद चुकने के बाद वहाँ भी पानी नहीं मिला तब उसने वह जगह भी छोड़ दी और तीसरी जगह कुआँ खोदने लगा। पर फिर वही हाल हुआ। इस प्रकार आखिर तक वह कुआँ नहीं खोद पाया। पहले ही स्थान पर यदि वह धीरज के साथ खोदते रहता तो उसे इतनी मेहनत भी नहीं करनी पड़ती और पानी भी मिल जाता। धर्ममार्ग पर भी इस तरह करते हुए बहुतसे लोग हताश होकर सारा विश्वास गँवा बैठते हैं।

५२९. स्त्री यदि अपने पति के प्रति एकनिष्ठ हो तो वह सती परलोक में भी अपने पति से जा मिलती है। इसी प्रकार अपने इष्टदेवता पर एकनिष्ठ भक्ति हो तो ईश्वरदर्शन होता है।

सत्य

५३०. हृदय के भीतर भक्तिभाव रखो, कपट चतुराई छोड़ दो। जो सांसारिक कर्म करते हैं, दफ्तर में काम या व्यापार करते हैं, उन्हें भी सत्यनिष्ठ होना चाहिए। सच बोलना कलियुग की तपस्या है।

५३१. सत्यवादी सत्यनिष्ठ हुए बिना सत्यस्वरूप भगवान् की प्राप्ति नहीं हो सकती।

५३२. सत्यवचन के प्रति दृढ़ निष्ठा होनी चाहिए। सत्य को दृढ़ता से पकड़े रहने पर ईश्वरलाभ होता है।

५३३. मिथ्या का कोई भी रूप अच्छा नहीं। मिथ्या वेष भी अच्छा नहीं। यदि तुम्हारा मन तुम्हारे वेष के अनुकूल न हो तो उस मिथ्या वेष से महान् अनर्थ हो जाता है। झूठ बोलते बोलते या बुरे काम करते करते धीरे-धीरे मनुष्य का भय चला जाता और वह पाखण्डी बन बैठता है।

५३४. एक ऋणग्रस्त व्यक्ति ने अपने साहूकार से बचने के लिए पागल का स्वाँग रचा था। डाक्टर, वैद्य कोई उसे सुधार नहीं पा रहे थे। उसका पागलपन बढ़ता ही जा रहा था। अन्त में एक अनुभवी वैद्य ने बीमारी का सच्चा कारण ताड़ लिया और उसे डाँटते हुए कहा, "महाशय, यह

आप क्या कर रहे हैं! सावधान हो जाइए – कहीं पागल की नकल करते करते आप सचमुच ही पागल न बन जाएँ। इस थोड़े ही समय के अन्दर आपके दिमाग में कुछ-कुछ सही गड़बड़ी के लक्षण भी दिखाई देने लगे हैं।'' यह सुनकर वह व्यक्ति होश में आया और उसने पागलपन का ढोंग करना छोड़ दिया। सदा किसी भाव की नकल करते रहने से मनुष्य धीरे-धीरे वास्तव में उसी भाव को प्राप्त हो जाता है।

ब्रह्मचर्य

५३५. जैसे काँच में यदि पारा लगा हुआ हो तो उसमें चेहरा दिखाई देता है वैसे ही ब्रह्मचर्यपालन के द्वारा वीर्यधारण करने से ब्रह्मदर्शन हो सकता है।

५३६. ब्रह्मचर्यपालन किए बिना, वीर्यधारण किए बिना सूक्ष्म आध्यात्मिक तत्त्वों की धारणा नहीं होती।

५३७. शुकदेव आदि ऊर्ध्वरेता थे, उनका रेत:पात कभी नहीं हुआ। कुछ धैर्यरेता भी होते हैं। इनका पहले रेत:पात हुआ है परन्तु बाद में इन्होंने अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन कर वीर्यधारण किया है। यदि कोई बारह वर्ष तक धैर्यरेता रहे तो उसमें एक विशेष शक्ति उत्पन्न होती है। भीतर एक नई नाड़ी पैदा होती है – उसे मेधानाड़ी कहते हैं। वह नाड़ी पैदा होने से मनुष्य सब बातें स्मरण में रख सकता है, सब कुछ जान सकता है।

५३८. बारह वर्ष अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करने पर मनुष्य की मेधानाड़ी खुल जाती है। तब उसकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण, कुशाग्र तथा अतिसूक्ष्म तत्त्वों की भी धारणा करने में समर्थ हो जाती है।

५३९. वीर्यपात करने से शक्तिक्षय होता है। स्वप्नदोष से अपने आप कुछ निकल जाता है, उसमें हानि नहीं। वह खाद्य पदार्थ के दोष से होता है। परन्तु फिर भी (साधक को) स्त्रीप्रसंग कभी नहीं करना चाहिए।

५४०. जिसने स्त्रीसुख का त्याग किया है उसने तो जगत्सुख का त्याग किया है। वास्तविक ही ईश्वर उसके अत्यन्त निकट है।

विवेक

५४१. इस प्रकार विवेक-विचार किया करो :– कामिनी और कांचन अनित्य हैं, एकमात्र ईश्वर ही नित्य हैं। रुपए से क्या मिलता हैं? दाल-रोटी, कपड़े और रहने के लिए जगह – बस इतना ही, और कुछ नहीं। रुपए से निश्चित ही ईश्वर नहीं मिलते। रुपया हरगिज जीवन का उद्देश्य नहीं हो सकता। इसी को विवेक-विचार कहा जाता है।

रुपए में क्या रखा है, सुन्दर स्त्री की देह में भी क्या है! विचार करके देखो, सुन्दरी की देह में सिर्फ हाड़, मांस, चमड़ी, चरबी, खून, मल, मूत्र – यही सब है। पर आश्चर्य है कि मनुष्य ईश्वर को छोड़ इन्हीं चीजों में मन लगाता है।

५४२. विवेक और वैराग्य। विवेक अर्थात् सत्-असत् का विचार और वैराग्य अर्थात् संसार की वस्तुओं के प्रति विरक्ति – उदासीनता। यह एकाएक प्राप्त नहीं होता – इसके लिए नित्य अभ्यास करना पड़ता है। कामिनी-कांचन का त्याग पहले मन ही में करना चाहिए। फिर प्रभु की इच्छा से वह त्याग मन से और बाहर भी सम्भव हो जाता है। अभ्यासयोग के द्वारा कामिनी-कांचन के प्रति विरक्ति उत्पन्न होती है – यह गीता में है। अभ्यास के द्वारा मन में असाधारण शक्ति पैदा होती है। तब इन्द्रियसंयम करने में, काम-क्रोध को वश में लाने में कष्ट नहीं उठाना पड़ता। जैसे कछुआ एक बार हाथ-पैर समेट लेने पर फिर उन्हें बाहर नहीं निकालता – कुल्हाड़ी से टुकड़े-टुकड़े कर डालने पर भी नहीं।

५४३. प्रश्न – क्या संसार मिथ्या है?

उत्तर – जब तक ईश्वर का ज्ञान नहीं होता तब तक मिथ्या है। तब तक मनुष्य उन्हें भूलकर 'मैं-मेरा' करते हुए माया में बद्ध होकर, कामिनी-कांचन के मोह में मुग्ध होकर संसार में और भी डूबता जाता है। माया के कारण मनुष्य इतना अन्धा हो जाता है कि जाल में से भागने का रास्ता रहने पर भी नहीं भाग पाता। तुम लोग तो स्वयं ही देखते हो कि संसार कैसा अनित्य है। देखो न, यहाँ कितने लोग आए और चले गए। कितने

पैदा हुए और कितने मर मिटे। संसार इस क्षण है तो दूसरे ही क्षण नहीं! यह अनित्य है! जिन्हें तुम इतना 'मेरा मेरा' कह रहे हो, तुम्हारे आँखें बन्द करते ही वे कोई नहीं रहेंगे। संसार में कोई नहीं है, फिर भी इतनी आसक्ति कि नाती के लिए काशीयात्रा नहीं हो पाती। कहते हैं – 'मेरे बेटे हरि का क्या होगा?' जाल में से निकलने की राह खुली है, फिर भी मछली भाग नहीं सकती। रेशम का कीड़ा अपनी ही लार से कोश बनाकर उसमें फँसकर जान गँवा देता है। संसार इस प्रकार मिथ्या है, अनित्य है।

५४४. अहंकार को कैसे दूर करना चाहिए, जानते हो? चावल काँड़ते समय बीच-बीच में रुककर देखना पड़ता है; यदि काँड़ना ठीक नहीं हुआ हो तो फिर काँड़ना पड़ता है। निकती पर कोई वस्तु तौलते समय, जब तक काँटा ठीक न हो तब तक ठहरकर देखना पड़ता है। मैं समय-समय पर स्वयं को गालियाँ देकर देखता था कि मुझमें अहंकार उठता है या नहीं; और विचार करता था – 'भला यह शरीर क्या है? सिर्फ हाड़-मांस का ढाँचा! इसके अन्दर क्या है? खून, पीब आदि गन्दी चीजें! जिस शरीर के भीतर सदा मल भरा हुआ है, उस पर भला इतना अहंकार क्यों किया जाए?'

५४५. मान लो हण्डी में चावल पक रहा है। चावल पका है कि नहीं यह देखने के लिए तुम उसमें से एक ही सीथ लेकर उसे दबाकर देखते हो, और उसी पर से समझ लेते हो कि चावल पका है या नहीं। तुम चावल के सभी सीथों को एक-एक करके परखकर नहीं देखते, फिर भी यह समझ लेते हो। यहाँ जिस प्रकार पूरा चावल पक चुका है या कच्चा है यह एक सीथ को देखकर तुम समझ लेते हो, उसी प्रकार यह संसार सत् है या असत्, नित्य है या अनित्य – यह भी तुम संसार की दो-चार वस्तुओं को परखकर ही जान सकते हो। मनुष्य जन्मता है, कुछ दिन जीता है, फिर मर जाता है, पशु का भी यही हाल होता है और वृक्ष का भी। विचार करके देखने पर तुम्हारी समझ में आ जाता है कि जो भी वस्तु नाम और रूप से युक्त है उसकी यही गति है। पृथ्वी, सूर्यलोक, चन्द्रलोक – सभी के नाम

और रूप हैं, अतएव उनकी भी यही गति है। इस प्रकार जब तुम जान लेते हो कि सारे संसार का यही स्वभाव है, तब तुम्हें संसार की सभी वस्तुओं का स्वभाव ज्ञात हो जाता है या नहीं? इसी तरह जब तुम संसार को सचमुच ही अनित्य, असत् अनुभव करोगे तब तुम उस पर प्यार नहीं कर सकोगे। तब तुम उसे बिलकुल मन से त्यागकर वासनारहित बन जाओगे। और जब तुम इस प्रकार पूर्ण त्याग करने में समर्थ होओगे तभी तुम जगत्कारण परमेश्वर के दर्शन पाओगे। इस तरह से जिसने ईश्वरदर्शन प्राप्त कर लिया वह व्यक्ति यदि सर्वज्ञ नहीं हुआ तो फिर क्या हुआ?

वैराग्य

५४६. मनोवांछित सुख भोगते हुए मनुष्य यदि सत्य के प्रति अन्धा भी हो जाए तो भी उसके मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि, यह सब भोगनेवाला मैं कौन हूँ? यही सत्य के साक्षात्कार की पहली सीढ़ी है।

५४७. कँटीली झाड़ियों से भरे मैदान पर से नंगे पैर नहीं चला जाता। उस पर से चलने के लिए या तो पूरे मैदान को चमड़े से ढक देना होगा या फिर अपने पैरों में चमड़े के जूते चढ़ाने होंगे। समूचे मैदान को चमड़े से मढ़ना असम्भव है, अतः पैरों में जूते पहनना ही उपयुक्त है। इसी तरह इस वासनापूर्ण संसार में असंख्य कामना-वासनाओं की पीड़ा से छुटकारा पाना हो तो या तो सभी वासनाओं की पूर्ति हो जानी चाहिए, या फिर सभी का त्याग हो जाना चाहिए। परन्तु वासनाओं की पूर्ति होना कभी सम्भव नहीं, क्योंकि एक वासना को पूरी करने जाओ तो दूसरी वासना आ खड़ी होती है। इसलिए ज्ञान-विचार और सन्तोष के द्वारा वासनाओं का त्याग करना ही उपयुक्त है।

५४८. दाद को खुजलाते समय तो आराम मालूम होता है पर बाद में उस जगह असह्य जलन होने लगती है। संसार के भोग भी ऐसे ही हैं – शुरू-शुरू में तो वे बड़े ही सुखप्रद मालूम होते हैं परन्तु बाद में उनका परिणाम अत्यंत भयंकर और दुःखमय होता है।

५४९. एक चील को चोंच में एक मछली पकड़े हुए उड़ते देख सैकड़ों कौए और चील उसका पीछा करने लगे तथा उसे टोंचते और काटते हुए उस मछली को छीनने की कोशिश करने लगे। वह चील जिधर जाती, ये कौए और चील भी चिल्लाते हुए उधर ही जाते। अन्त में परेशान होकर उसने मछली फेंक दी। तुरन्त ही दूसरी चील ने वह उठा ली। देखते ही देखते सभी कौओं और चीलों ने पहली चील को छोड़ दूसरी का पीछा करना शुरू किया। तब पहली चील निश्चिन्त होकर एक पेड़ की डाली पर चुपचाप बैठ गई। उसकी इस शान्त और निश्चिन्त अवस्था को देख अवधूत ने उसे प्रणाम करते हुए कहा, "तुम मेरी गुरु हो! तुमने मुझे सिखाया कि संसार की वासनाओं और उपाधियों को छोड़ देने से ही शान्ति मिल सकती है, वरना महान् विपत्तियाँ झेलनी पड़ती हैं।"

५५०. घोड़े की आँखों पर दोनों ओर से अँधोटी लगा देने पर ही वह सीधे रास्ते चलता है। उसी भाँति, संसारी मनुष्य के मन की बहिर्मुखी वृत्तियों को विवेक-वैराग्यरूपी अँधोटी के द्वारा रोक देने पर ही वह कुमार्गों में न भटकते हुए सीधे ईश्वर के पथ पर अग्रसर हो सकता है।

५५१. कागज पर अगर तेल लगा हो तो उस पर लिखा नहीं जा सकता, इसी तरह, जीव के मन में यदि कामिनी-कांचन-रूपी तेल लग जाए तो उसके द्वारा साधना नहीं हो सकती। परन्तु, फिर जिस प्रकार उस तेल लगे हुए कागज को खड़िये से घिस लेने पर उस पर लिखा जा सकता है, उसी प्रकार कामिनी-कांचन-रूपी तेल लगे हुए मन को त्यागरूपी खड़िये से घिस लिया जाए तो उसके द्वारा साधना की जा सकती है।

५५२. एक प्रकार की जहरीली मकड़ी होती है; वह यदि काट ले तो कोई दवा लगाने के पहले मन्त्र के सहारे हल्दी का धुआँ देते हुए उसका विष उतारना पड़ता है, उसके बाद ही दूसरी दवाइयों का असर हो पाता है, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार, जीव को यदि कामिनी-कांचनरूपी जहरीली मकड़ी काट ले तो पहले त्याग-रूपी मन्त्र से उसका जहर उतारना पड़ता है, तभी साधन-भजन सफल हो पाता है।

५५३. गन्दे पानी में यदि तुम एक टुकड़ा फिटकरी डाल दो तो सारा मैल नीचे बैठकर पानी स्वच्छ हो जाता है। विवेक और वैराग्य मानो फिटकरी हैं। इन्हीं के द्वारा संसारी मनुष्य की विषयासक्ति दूर होकर वह शुद्ध बनता है।

५५४. रेशम का कीड़ा जिस प्रकार अपने ही कोश में आप फँस जाता है, उसी प्रकार संसारी जीव भी अपनी ही वासनाओं के जाल में आप अटक जाता है। फिर जैसे उस कीड़े से तितली बन जाने पर वह कोश को चीरकर बाहर उड़ जाती है, वैसे ही विवेक-वैराग्यरूपी पंख आ जाने पर संसार में आबद्ध जीव भी उसमें से उड़ निकलता है।

५५५. भगवान् के घर भी चाभी उलटी दिशा में घूमनेवाली होती है। भगवान् के समीप पहुँचने के लिए तुम्हें संसार का सब कुछ त्याग करना होगा।

५५६. मन में विवेक-वैराग्य के रहे बिना शास्त्रग्रन्थ पढ़ना वृथा है। विवेक-वैराग्य के सिवा आध्यात्मिक उन्नति असम्भव है।

५५७. ईश्वरप्राप्ति कैसे हो? उसके लिए तन-मन-धन का समर्पण करना पड़ता है।

५५८. बद्ध जीव के मन की अवस्था कैसी हो तो उसे मुक्ति मिल सकती है? ईश्वर की कृपा से यदि उसे तीव्र वैराग्य हो जाए तो कामिनी-कांचन की आसक्ति से निस्तार हो सकता है। यह तीव्र वैराग्य किसे कहते हैं, जानते हो? 'बनत बनत बनि जाई', 'भगवान् का नाम लो, सब हो जाएगा' यह सब मन्द वैराग्य के लक्षण हैं। जिसे तीव्र वैराग्य होता है उसके प्राण भगवान् के लिए व्याकुल हो उठते हैं, – जिस प्रकार माँ के प्राण अपने बच्चे के लिए व्याकुल होते हैं। जिसे तीव्र वैराग्य होता है वह भगवान् के सिवा और कुछ नहीं चाहता। संसार उसे कुएँ जैसा प्रतीत होता है, उसे डर लगता है कि कहीं मैं डूब न जाऊँ। आत्मीयों को वह काले नाग की तरह देखता है, उनसे दूर भागने को मन होता है और भागता भी है। 'घर-गृहस्थी का बन्दोबस्त कर लूँ, फिर ईश्वर-चिन्तन करूँगा' ऐसा विचार वह नहीं करता। उसके भीतर बड़ी जिद होती है।

५५९. भक्तगण भगवान् के लिए सब कुछ छोड़ क्यों देते है? पतंग यदि एक बार प्रकाश को देख ले तो फिर अँधेरे में नहीं जाता; चींटी गुड़ में लिपटकर भले ही प्राण दे दे, पर उसे छोड़ती नहीं। इसी प्रकार भक्त भी ईश्वर के लिए प्राणों की बाजी लगा देता है, परन्तु दूसरी कोई चीज नहीं चाहता।

५६०. जो परमहंस होता है, पूर्ण ज्ञानी होता है, वह मोची-मेहतर की अवस्था से लेकर राजा-महाराजा की अवस्था तक सब कुछ स्वयं भोगकर देख आता है। इसके सिवा ठीक-ठीक वैराग्य कैसे आएगा!

५६१. कामिनी-कांचन का त्याग हुए बिना ज्ञान नहीं होता। त्याग होने पर ही अज्ञान-अविद्या का नाश होता है। आतशी काँच पर सूर्य की किरणें पड़ने पर उससे कितनी वस्तुएँ जल जाती हैं, परन्तु कमरे के भीतर, जहाँ छाया है, वहाँ आतशी काँच ले जाने पर यह नहीं हो पाता। इसके लिए घर छोड़कर बाहर निकलना पड़ता है।

५६२. ज्ञान एकाएक नहीं हो जाता, ठीक समय होने पर ही होता है। रोगी को तेज बुखार चढ़ा हो तो डाक्टर उस समय कुनैन नहीं देता। वह जानता है कि इस समय उससे काम नहीं होगा। बुखार उतर जाने पर कुनैन या दूसरी दवा का असर होता है। मनुष्य जब तक संसार के भोगों में डूबा रहता है तब तक उस पर धर्मोपदेश का कोई परिणाम नहीं होता। कुछ समय तक उसे विषयों का भोग कर लेने दो। जब उसकी भोगासक्ति की मात्रा कुछ कम होगी तभी उस पर उपदेश का परिणाम होगा। उसके पहले कितना भी उपदेश दो, सब व्यर्थ ही होगा।

५६३. छोटे बच्चे कमरे में अकेले गुड़िया लेकर निश्चिन्त होकर अपनी ही धुन में खेलते रहते हैं। परन्तु ज्योंही वहाँ उनकी माँ आ पहुँचती है कि वे गुड़िया छोड़कर 'माँ, माँ' करते हुए उसकी ओर दौड़ पड़ते हैं। इस समय तुम लोग भी धन, मान, यश आदि की गुड़िया लेकर संसार में मग्न हो खेल रहे हो, किसी बात की चिन्ता नहीं है। परन्तु यदि तुम आनन्दमयी माँ को एक बार भी देख पाओ तो फिर तुम्हें धन, मान, यश आदि नहीं

भाएँगे। तब तुम सब छोड़कर उसी की ओर दौड़ पड़ोगे।

५६४. वैराग्य कई प्रकार का है। संसार में दु:ख-कष्ट पाकर एक प्रकार का वैराग्य आता है। परन्तु, संसार के सभी भोगसुख असार, अनित्य हैं इस बोध के कारण जो वैराग्य आता है, वही यथार्थ वैराग्य है। किसी में यदि वह वैराग्य आ जाए तो सब कुछ रहते हुए भी उसके लिए कुछ नहीं है।

५६५. वैराग्य के कितने प्रकार होते हैं? साधारणत: दो प्रकार – तीव्र तथा मन्द। तीव्र वैराग्य मानो रातोंरात नहर खोदकर तालाब में पानी ले आने की तरह है। मन्द वैराग्य कहता है, 'होते होते हो जाएगा'; कब होगा इसका कोई ठिकाना नहीं।

५६६. एक आदमी बदन पर तेल मलकर नदी नहाने जा रहा था। जाते जाते राह में उसने सुना कि अमुक व्यक्ति संन्यासी बननेवाला है, कुछ दिनों से उसके लिए वह तैयारी कर रहा है। सुनते ही उसके मन में यह बोध उत्पन्न हुआ कि संन्यासी होना ही सार वस्तु है और उसी क्षण, उसी हालत में वह संन्यासी बनने के लिए चल पड़ा, फिर घर नहीं लौटा। इसी का नाम है तीव्र वैराग्य।

५६७. सच्चिदानन्द-सागर में डूब जाओ। कामक्रोध-रूपी मगरों से मत डरो; शरीर पर विवेक-वैराग्यरूपी हलदी लगाकर डुबकी लगाओ तो ये मगर तुम्हारे पास नहीं फटकेंगे।

उद्यमशीलता

५६८. किसान लोग बैल खरीदने जाकर अच्छा बैल कैसे पहचानते हैं जानते हो? इस बारे में वे बड़े जानकार होते हैं। वे बैल की पूँछ पर हाथ लगाकर देखते हैं जिस बैल में दम नही होता वह पूँछ पर हाथ लगाने से अंग ढीला कर जमीन में लेट जाता है। परन्तु जो बैल फुर्तीला, तेज होता है वह पूँछ को छूते ही चिढ़कर उछलने लगता है। किसान लोग ऐसे ही बैल को खरीदा करते हैं।

जीवन में सफलता पानी हो तो अपने भीतर पुरुषार्थ, मर्दपना, रखना

चाहिए। कई लोग ऐसे होते हैं जिनमें कोई दम ही नहीं होता – मानो दूध में भिगोया हुआ चिउड़ा हो, नरम और ठण्डा! भीतर कोई जोर ही नहीं! उद्यम करने की सामर्थ्य नहीं! इच्छाशक्ति नहीं! ऐसे लोग जीवन में कभी सफल नहीं होते!

५६९. बड़ी मछली पकड़नी हो तो मनुष्य को पानी में बंसी डालकर घण्टों धीरज धरकर बैठे रहना पड़ता है, तब कहीं बड़ी मछली फँसती है। इसी तरह जो धैर्य के साथं साधन-भजन करता रहता है उसे अन्त में अवश्य ही भगवान् का लाभ होताहै।

५७०. जो पुश्तैनी किसान होता है वह बारह वर्ष सूखा पड़ने पर भी खेती नहीं छोड़ता, पर जो आदमी हाल में ही खेती की ओर बढ़ा है वह एक साल बारिश न हो तो खेती करना छोड़ देता है। यथार्थ विश्वासी भक्त सारे जीवन में ईश्वर के दर्शन न मिलने पर भी हताश होकर साधना छोड़ता नहीं।

५७१. अगर तैरना सीखना हो तो पहले काफी दिनों तक पानी में हाथ-पैर पटकते हुए प्रयत्न करना पड़ता है – एक ही बार में तैरना नहीं आ जाता। इसी प्रकार, यदि ब्रह्मसागर में गोते लगाना हो तो पहले कई बार चढ़ना उतरना पड़ता है, एक ही बार में नहीं होता।

५७२. बछड़ा बीसों बार गिरता और बीसों बार उठता है, तब कहीं ठीक खड़े होना सीखता है। साधना में भी अनेक बार गिरना और उठना पड़ता है, तब जाकर सिद्धि मिलती है।

५७३. दो साधक रात्रि के समय श्मशान में जाकर शवसाधना करने बैठे। उनमें से एक जन प्रथम प्रहर में ही सामने उपस्थित होनेवाले भीषण दृश्यों को देखकर मारे डर के पागल हो गया, परन्तु दूसरे साधक को अन्तिम प्रहर में जगदम्बा के दर्शन हुए। तब उसने देवी से पूछा, "माँ, भला वह पागल क्यों हो गया?" "बच्चा, इसके पहले कितने जन्मों में, कितने ही बार तू भी इस तरह पागल हो चुका है, तब कहीं आज तुझे मेरे दर्शन हुए।"

५७४. प्रश्न – कभी-कभी कुछ समय के लिए मन में कैसा उच्च

भाव आता है, परन्तु वह अधिक समय तक टिकता नहीं। ऐसा क्यों होता है?

उत्तर – बाँस की आग जल्दी बुझ जाती है; उसे फूँक-फूँककर प्रज्वलित रखना पड़ता है। मन में उच्च भाव जागृत रखने के लिए निरन्तर साधना करनी पड़ती है।

५७५. घड़े में पानी भरकर छीके पर टाँग दो तो कुछ ही दिनों में पानी सूख जाता है; परन्तु घड़े को यदि गंगा में डुबाए रखो तो पानी कभी नहीं सूखता। इसी भाँति, जो एक-दो दिन प्रेम-भक्ति करके ही निश्चिन्त रहता है उसकी भक्ति दो दिन में छीके पर टँगे घड़े के पानी की तरह सूख जाती है। परन्तु जो ईश्वर के प्रेम में नित्य डूबा रहता है, उसकी प्रेम-भक्ति कभी नहीं सूखती।

५७६. जब तक नीचे आग है तभी तक दूध उफनकर ऊपर को उठता है, आग को हटा लेने पर वह फिर ज्यों का त्यों हो जाता है। साधना-अवस्था में भी जब तक साधना की अग्नि जलती रहती है तभी तक मन ऊर्ध्वगामी रहता है।

५७७. मनुष्य के भीतर भगवद्भाव कब तक बना रहता है? लोहा जब तक आग में रहता है तभी तक लाल रहता है, आग के बाहर निकलते ही फिर वह काला हो जाता है। इसी तरह मनुष्य जब तक भगवान् के साथ युक्त रहता है तभी तक उसमें भगवद्भाव बना रहता है।

५७८. मन मानो घुँघराले बाल की तरह होता है। घुँघराले बाल को जब तक खींचकर रखो तब तक वह सीधा रहता है, छोड़ देते ही फिर सिकुड़ जाता है। इसी भाँति, मन को भी जब तक जबरदस्ती खींचकर वश में रखा जाता है तभी तक वह ठीक रहता है, ढीला छोड़ते ही गडबड़ करने लगता है।

५७९. श्रीमत् तोतापुरी कहा करते थे, "लोटे को यदि रोज न माँजा जाए, तो काला पड़ जाता है। यदि नित्य ध्यान न किया जाए तो चित्त अशुद्ध हो जाता है।" इसके उत्तर में श्रीरामकृष्ण ने एक बार कहा था, "लोटा अगर सोने का हो तो न माँजने पर भी काला नहीं पड़ता।" अर्थात् सच्चिदानन्द

की प्राप्ति हो जाने पर फिर जप-तपादि साधनों की आवश्यकता नहीं रह जाती।

साधना

५८०. छिछले तालाब का पानी पीना हो तो उसे न खलबलाकर ऊपर से धीरे-धीरे पानी लेना चाहिए। ज्यादा खलबलाने से नीचे का कीचड़ ऊपर आकर सारा पानी गँदला हो जाता है। यदि तुम सच्चिदानन्द का लाभ करना चाहते हो तो गुरु के उपदेश पर विश्वास रखकर धीरज के साथ साधना किए चलो। वृथा शास्त्रविचार या तर्कवितर्क में मत पड़ो, नहीं तो तुम्हारी क्षुद्र बुद्धि गड़बड़ा जाएगी।

५८१. यदु मल्लिक का मकान कहाँ है, बगीचा कहाँ है, उसके पास कितनी धन-सम्पत्ति है इन सब बातों की खोज-खबर बहुत लोग किया करते हैं, परन्तु प्रत्यक्ष यदु मल्लिक को देखने या उसके निकट जाकर बातचीत करने का कष्ट कितने लोग उठाते हैं? शास्त्रचर्चा, धर्म-सम्बन्धी चर्चा तो बहुत लोग करते हैं, परन्तु इनमें से कितने लोग ईश्वर के दर्शन करने की इच्छा रखते हैं या उनके निकट जाने के लिए उद्यम करते हैं?

५८२. तुम जो वस्तु प्राप्त करना चाहते हो उसके अनुरूप साधना करो, नहीं तो कैसे होगा? 'दूध में मक्खन है' कहकर सिर्फ चिल्लाने से मक्खन नहीं मिल जाएगा, यदि मक्खन चाहते हो तो दूध का दही जमाओ, उसे अच्छी तरह मथो, तभी मक्खन निकलेगा। इसी तरह, यदि तुम ईश्वरदर्शन करना चाहते हो तो साधना करो, तभी उनके दर्शन पाओगे। 'ईश्वर ईश्वर' कहकर सिर्फ शोरगुल मचाने से क्या फायदा?

५८३. यदि राजा से मिलना हो तो उसके महल में जाकर सातों ड्योढ़ियों को पार करना होगा। परन्तु यदि पहली ही ड्योढ़ी पार करके कोई कहे, "राजा कहाँ है?" तो कैसे होगा! सातों ड्योढ़ियों को पार करने के बाद ही न राजा दिखाई देंगे।

५८४. कर्म चाहिए, तभी ईश्वरदर्शन होते हैं। एक दिन मैंने भावावस्था

में हालदार-पुकुर देखा । देखा, एक नीची जाति का आदमी काई हटाकर पानी भर रहा है, और बीच-बीच मे एक-एक बार हाथ में लेकर देख रहा है। मानो उसने यह दिखाया कि काई हटाए बिना पानी नहीं दिखाई देता – कर्म किए बिना भक्ति नहीं होती, ईश्वरदर्शन नहीं होते। ध्यान, जप यही कर्म है, उनका नामगुण-कीर्तन भी कर्म है, और दान, यज्ञ ये सब भी कर्म ही हैं।

५८५. स्वयं श्रीकृष्ण ने भी राधायन्त्र लेकर कितनी साधनाएँ की थीं! यन्त्र ब्रह्मयोनि है, साधना यानी उसी की पूजा और ध्यान करना। इस ब्रह्मयोनि से कोटि कोटि ब्रह्माण्डों की सृष्टि हो रही है।

५८६. साधना की गति तीन प्रकार की होती है – पक्षी-गति, वानरगति तथा पिपीलिकागति।

पक्षीगति – मानो चिड़िया ने एक फल पर जोर से चोंच मारी, वह फल नीचे गिर पड़ा, चिड़िया उसे ले नहीं सकी। इस प्रकार कुछ साधक इतनी अधीरता के साथ साधना करते हैं कि उनके प्रयत्न सफल नहीं हो पाते।

वानरगति – बन्दर मुँह में फल को पकड़कर एक डाली से दूसरी डाली पर कूदने गया, फल मुँह से छूटकर नीचे गिर पड़ा। साधक यदि अपने आदर्श को दृढ़ता के साथ पकड़े न रखे तो इस सदापरिवर्तनशील जीवन के विभिन्न घटनाचक्र में पड़कर कभी-कभी वह उसे खो बैठता है।

पिपीलिकागति – पिपीलिका (चींटी) धीरे-धीरे बढ़ती हुई खाद्यवस्तु के निकट जाती है और उसे मुँह में लेकर धीरे-धीरे अपनी जगह पर लौटकर उसका मजा चखती है। यह पिपीलिकागति की साधना ही श्रेष्ठ साधना है – इसमें फल की प्राप्ति और उसका उपभोग बिलकुल निश्चित है।

५८७. जिसे मछली पकड़ने का शौक है वह अगर सुने कि अमुक तालाब में अच्छी बड़ी-बड़ी मछलियाँ हैं, तो वह पहले जिन्होंने उस तालाब से मछली पकड़ी है उनके पास जाता है और पूछता है, 'क्या उस तालाब में सचमुच ही बड़ी मछलियाँ हैं? और अगर हों तो कौनसा चारा लगाने

से वे फँसती हैं?' इन सब जरूरी बातों की जानकारी इकट्ठा करके वह उस तालाब में जाकर बंसी लगाकर बैठता है। काफी समय तक धीरज के साथ बैठे रहने के बाद अन्त में उसकी बंसी में बड़ी मछली आ फँसती है। धर्ममार्ग में भी इसी प्रकार, साधु-महापुरुषों की बात पर विश्वास रखकर, भक्तिरूपी चारा लगाकर, हृदयरूपी बंसी डाले धैर्य के साथ बैठे रहना पड़ता है, तभी अन्त में भगवान् की प्राप्ति होती है।

५८८. श्रीरामकृष्ण कहा करते थे – ''क्या तुम मेरे आदेश का सोलहों आना पालन कर सकोगे? मैं जो कहता हूँ उसका एक आना भी यदि तुम कर सको तो तुम्हारी मुक्ति निश्चित है।''

५८९. आत्मज्ञानलाभ के लिए साधना अत्यन्त आवश्यक है, परन्तु यदि दृढ़ विश्वास रहे तो थोड़ी ही साधना से काम बन जाता है।

५९०. एक बार यदि किसी का भगवन्नाम की शक्ति पर वश्वास हो जाए और वह सतत नाम जपने लगे तो फिर उसके लिए विवेक-विचार या अन्य किसी भी तरह के साधन-भजन की आवश्यकता नहीं रह जाती। उसके सब सन्देह दूर हो जाते हैं, चित्त शुद्ध हो जाता है; नाम की शक्ति से स्वयं भगवान् का साक्षात्कार हो जाता है।

५९१. वेद-पुराण का श्रवण करना पड़ता है, पर तन्त्र का प्रत्यक्ष अनुष्ठान करना पड़ता है। हरिनाम मुख से बोलना और कान से सुनना भी पड़ता है, जैसे किसी-किसी बीमारी में दवा खानी भी पड़ती है और लगानी भी।

५९२. सिद्ध दो तरह के होते हैं – साधनसिद्ध और कृपासिद्ध। कोई-कोई बड़ी मेहनत करके नहर काटकर या पानी खींचकर खेत को सींचते हैं, तब कहीं उन्हें अच्छी फसल मिलती है। परन्तु किसी-किसी को पानी लाने या सींचने का कष्ट ही नहीं उठाना पड़ता, बारिश आकर खेत में अपने आप पानी भर जाता है। माया के हाथों से छुटकारा पाने के लिए प्रायः सभी को कष्टसाध्य साधन-भजन करना पड़ता है। परन्तु कृपासिद्ध को कष्ट नहीं उठाना पड़ता, ईश्वर की कृपा से वह वैसे ही मुक्त हो जाता है। परन्तु ऐसे

कृपासिद्ध विरले ही होते हैं।

एकाग्रता तथा ध्यान

५९३. ध्यान और चिन्तन-मनन का सतत अभ्यास करना चाहिए।

५९४. सन्ध्या हो जाने पर सब काम छोड़कर ईश्वरचिन्तन करना चाहिए। अँधेरा छा जाने पर मन में अपने आप ईश्वर का विचार उठता है। 'अभी-अभी सब कुछ दिखाई दे रहा था, पर अब तो सब अँधेरे में ओझल हो गया। ऐसा किसने किया?' – इस तरह के विचार आते हैं। इसीलिए सन्ध्या के समय सब काम छोड़कर उन्हें पुकारना चाहिए। देखा नहीं, मुसलमान लोग कैसे सब काम छोड़कर ठीक समय पर नमाज पढ़ते हैं।

५९५. अगर सरसों की पुड़िया में से एक बार सरसों के दाने बिखर गए तो फिर उन्हें चुनकर इकट्ठा करना जिस प्रकार दूभर हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्य का मन यदि एक बार संसार के विषयों में बिखर जाए तो फिर उसे समेटकर एकाग्र करना दूभर हो जाता है।

५९६. ध्यान मन में, वन में या कोने में करना चाहिए।

५९७. प्रथम अवस्था में निर्जन स्थान में जाकर एकाग्र चित्त से ईश्वरचिन्तन करना चाहिए, नहीं तो मन में नाना विक्षेप आते हैं। दूध और पानी को यदि एकत्र कर दो तो दूध पानी में मिल जाएगा; परन्तु यदि उसी दूध का निर्जन में मक्खन बना लो तो वह पानी में उतराता रहेगा – मिलेगा नहीं। इसी तरह साधना-अभ्यास के द्वारा चित्त की एकाग्रता प्राप्त कर लेने पर मनुष्य चाहे जिस परिस्थिति में रहे, उसका मन उससे ऊपर ऊठकर ईश्वर में ही लीन रहता है।

५९८. श्रीरामकृष्ण कभी-कभी अपने शिष्यों से कहा करते – "ध्यान आरम्भ करने के पहले एक बार (अपनी ओर दिखाते हुए) इसका चिन्तन कर लिया करना। यह क्यों कहता हूँ जानते हो? – इस पर तुम लोगों का विश्वास है, इसलिए इसके बारे में सोचते ही भगवान् की याद आ जाएगी। जैसे, गौओं के झुण्ड को देखते ही चरवाहे की बात याद आती है, वकील

को देखते ही अदालत-कचहरी की बात याद आती है, बेटे को देखते ही उसके बाप की याद आती है, वैसे ही। मन नाना विषयों में बिखरा रहता है, इसके बारे में सोचते ही पूरा मन एक जगह सिमट आएगा, और उस एकाग्र मन को ईश्वरचिन्तन में लगाने पर ठीक-ठीक ध्यान हो सकेगा।''

५९९. मन को एकाग्र करने का सब से सरल उपाय है, उसे दीप की शिखा पर स्थिर करना। शिखा के सब से भीतर का नीला भाग मानो कारणशरीर है। उस पर मन को स्थिर करने से मन शीघ्र ही एकाग्र हो जाता है। इस नीली ज्योति के बाहर का भाग मानो सूक्ष्मशरीर है और उसके भी बाहर का भाग स्थूलशरीर।

६००. अपनी साधनावस्था का उल्लेख करते हुए श्रीरामकृष्ण भक्तों से कहा करते – ''उस समय इष्टचिन्तन और ध्यान करने के पहले ऐसा सोचा करता था मानो मन को अच्छी तरह से धो ले रहा हूँ; मन के भीतर (कुचिन्ता, वासना आदि) जो कुछ मैल या गन्दगी है वह सब अच्छी तरह धोकर मन को स्वच्छ कर लेने के बाद उसमें इष्टदेव को लाकर बिठा रहा हूँ। ऐसा किया करो।''

६०१. ध्यान करते समय ऐसा चिन्तन किया करो कि मानो तुम अपने मन को रेशम की रस्सी से इष्टदेवता के चरणकमलों के साथ बाँधकर रख रहे हो, ताकि वे वहाँ से और कहीं न जा पाएँ। रेशम की रस्सी किसलिए कह रहा हूँ? वे चरणकमल अत्यन्त कोमल हैं, दूसरी रस्सी से बाँधने पर उन्हें कष्ट होगा, इसलिए।

६०२. ध्यान करते समय बीच-बीच में साधक को एक प्रकार की नींद-सी आया करती है, उसे योगनिद्रा कहते हैं। इस अवस्था में कई साधकों को ईश्वरीय रूपों के दर्शन होते हैं।

६०३. सात्त्विक मनुष्य किस प्रकार ध्यान करता है जानते हो? वह गहरी रात के समय मसहरी के भीतर बिछौने पर बैठकर ध्यान किया करता है, ताकि कोई जान न पाए।

६०४. ईश्वर में बिलकुल डाइल्यूट (एकरूप) हो जाओ – जैसे धातु

तेजाब में गलकर एक हो जाती है।

६०५. मन के स्थिर होने पर श्वास स्थिर होता है – कुम्भक हो जाता है। यह कुम्भक भक्तियोग के द्वारा भी होता है, तीव्र भक्ति से भी श्वास स्थिर हो जाता है।

६०६. गहरे ध्यान में ध्येय वस्तु का यथार्थ स्वरूप प्रकट होकर ध्याता के अन्तःकरण को प्रकाशित कर देता है।

६०७. एक दिन एक मैदान पर से चलते हुए अवधूत ने देखा कि सामने से ढोल-नगाड़े बजाते बजाते, बड़ी धूम-धाम के साथ एक बरात आ रही है। पास ही में एक बहेलिया दत्तचित्त होकर एक चिड़िया पर निशाना साध रहा है। वह अपने लक्ष्य में इतना तल्लीन था कि इतने नजदीक से इतनी धूमधाम के साथ आनेवाली बरात की ओर उसने एक बार भी नजर उठाकर नहीं देखा। अवधूत ने उस बहेलिए को नमस्कार करते हुए कहा, "महाराज! आप मेरे गुरु हैं। जब मैं ध्यान करने बैठूँ तब मेरा मन भी इसी तरह ध्येय वस्तु पर एकाग्र रहे।"

६०८. एक आदमी मछली पकड़ रहा था। अवधूत ने उसके निकट जाकर पूछा, "भाई, अमुक जगह जाने का रास्ता कौनसा है?" उस समय उसकी बंसी हिलने लगी थी – मछली काँटे में लगे चारे को खाने लगी थी। वह आदमी बंसी की ओर एकटक देखते हुए निःस्तब्ध बैठा रहा। जब मछली काँटे में फँस गई तो उसे निकालकर वह अवधूत की ओर मुड़कर बोला, "आप क्या कह रहे थे?" अवधूत ने उसे प्रणाम करते हुए कहा, "आप मेरे गुरु हैं। जब मैं परमात्मा के ध्यान में बैठूँ तब मैं इसी तरह, कार्य सिद्ध हुए बिना दूसरी ओर ध्यान न दूँ।"

६०९. किसी तालाब के किनारे एक बगुला एक मछली को पकड़ने के लिए बड़ी सावधानी से धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा था, और पीछे से एक बहेलिया उस बगुले पर निशाना लगा रहा था, पर बगुले का उस ओर तनिक भी ध्यान नहीं था। अवधूत ने उस बगुले को नमस्कार करते हुए कहा, "जब मैं ध्यान में बैठूँ तब मैं भी इसी प्रकार पीछे मुड़कर न देखूँ।"

६१०. कहावत है कि जो ध्यानसिद्ध है उसके लिए मुक्ति निश्चित है। ध्यानसिद्ध किसे कहते हैं जानते हो? जो ध्यान में बैठते ही भगवद्भाव में विभोर हो जाता है।

६११. गहरे ध्यान में मनुष्य बाह्यज्ञानरहित हो जाता है। ध्यान में इतनी एकाग्रता आ जाती है कि दूसरा कुछ भी दिखाई-सुनाई नहीं देता, यहाँ तक कि स्पर्श का भी बोध नहीं रहता। इस समय यदि देह पर से साँप भी चला जाए तो न तो जो ध्यान कर रहा है उसे पता चलता है और न उस साँप को ही।

६१२. जो ध्यान करते हुए इतना मग्न हो जाता है कि सिर पर चिड़ियों के बैठने पर भी समझ नहीं पाता, वही ठीक-ठीक ध्यान करता है।

६१३. ध्यान गहरा होने पर इन्द्रियों के सभी कार्य बन्द हो जाते हैं। मन की बहिर्मुखवृत्ति एकदम रुक जाती है, मानो घर का बाहरी दरवाजा बन्द हो गया है। इन्द्रियों के पाँचों विषय-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध – बाहर पड़े रह जाते हैं। पहले पहल ध्यान के समय इन्द्रियों के सब विषय सामने आते हैं, परन्तु ध्यान के गम्भीर होने पर वे फिर नहीं आते – बाहर पड़े रहते हैं।

६१४. तुम चाहे जिस मार्ग से जाओ, मन के स्थिर हुए बिना योग नहीं होता। मन योगी के वश में होता है, योगी कभी मन के वश में नहीं होता।

□□□

अध्याय १३

ईश्वर के लिए व्याकुलता

भगवान् के लिए पागल हो जाओ

६१५. अगर तुम्हें पागल ही बनना है तो संसार के विषयों के लिए पागल न बन ईश्वर के लिए पागल बनो।

६१६. लड़का न होने पर लोग आँसुओं की धारा बहाते हैं, धन-सम्पत्ति नहीं मिली तो कितनी हाय-हाय करते हैं, किन्तु भगवान् के दर्शन नहीं हुए कहकर कितने जन व्याकुल हो रोते हैं? जो सचमुच भगवान् को चाहता है वह उन्हें अवश्य पाता है।

६१७. जो भगवान् के लिए व्याकुल होता है वह खाने-पीने जैसी तुच्छ बातों की चिन्ता नहीं कर सकता।

६१८. जिसे प्यास लगी है, वह क्या गंगाजल को गँदला कहकर स्वच्छ पानी के लिए कुआँ खोदता है? जिसे धर्म की तृष्णा नहीं लगी है वही 'यह धर्म ठीक नहीं' 'वह धर्म ठीक नहीं' कहते हुए बकवाद करता फिरता है। यथार्थ तृष्णा होने पर ये सब विचार नहीं उठते।

यथार्थ व्याकुलता का स्वरूप

६१९. कृपण व्यक्ति जिस प्रकार सोने-चाँदी के लिए व्याकुल होता है, भगवान् के लिए उसी प्रकार व्याकुल होओ।

६२०. भगवान् को पाने के लिए ऐसा व्याकुल होना चाहिए जैसे डूबता हुआ आदमी साँस लेने के लिए होता है।

६२१. भगवान् को प्राप्त करने के लिए किस प्रकार की व्याकुलता

चाहिए, जानते हो? सिर में घाव हो जाने पर कुत्ता जिस प्रकार बेचैन होकर दौड़ता फिरता है, भगवान् के लिए भी उसी प्रकार की छटपटाहट चाहिए।

६२२. "हे मन, श्यामा माँ को एक बार ठीक-ठीक आन्तरिकता के साथ पुकार, देखें तो सही वह आए बिना कैसे रह सकती है।" ठीक-ठीक हृदय से पुकारा जाए तो भगवान् दर्शन दिए बिना नहीं रह सकते।

६२३. भगवान् के प्रति किस प्रकार का आकर्षण होना चाहिए? सती का पति की ओर, कृपण का धन की ओर तथा विषयी का विषय की ओर जो आकर्षण होता है, उन तीनों को एकत्र मिलाने पर जितना आकर्षण होता है उतना यदि भगवान् के प्रति हो तो उनका लाभ होता है।

६२४. ईसा एक दिन समुद्र के किनारे घूम रहे थे। एक भक्त ने आकर उनसे पूछा, "प्रभो, ईश्वर को कैसे पाया जा सकता है?" ईसा ने उसी समय उसे पानी में ले जाकर डुबो रखा। थोड़ी देर बाद उसे हाथ पकड़कर उठाते हुए पूछा, "अभी तुम्हारी हालत कैसी हो रही थी?" भक्त ने उत्तर दिया, "प्राण अब गए तब गए हो रहे थे – बेचैन हो गया था।" तब ईसा ने कहा, "जब भगवान् के लिए तुम्हारे प्राण इसी तरह व्याकुल होंगे तभी उनके दर्शन होंगे।"*

६२५. 'इसी जन्म में ईश्वर को प्राप्त करूँगा। तीन दिन में प्राप्त करूँगा। एक ही बार उनका नाम लेकर उन्हें प्राप्त कर लूँगा।' इस प्रकार की तीव्र भक्ति होनी चाहिए, तभी भगवत्प्राप्ति होती है। 'हो रहा है, हो जाएगा' इस प्रकार मन्द भक्ति ठीक नहीं।

६२६. 'इस जन्म में न हो, अगले जन्म में भगवान् को पाऊँगा' यह कैसी बात है! ऐसा ढीलाढाला सुस्त भाव नहीं रखना चाहिए। 'उनकी कृपा से उन्हें इसी जन्म में प्राप्त करूँगा, इसी क्षण प्राप्त करूँगा' – मन में इस तरह का जोर रखना चाहिए, विश्वास रखना चाहिए। इसके बिना नहीं होता। गाँवों में किसान लोग बैल खरीदने जाकर पहले बैल की पूँछ में हाथ लगाते

* बाइबिल में कहीं इस प्रकार की कथा का उल्लेख नहीं है। सम्भव है, श्रीरामकृष्ण ने इसे किसी के निकट सुना हो।

हैं। कुछ बैल ऐसे होते हैं जो पूँछ में हाथ लगाने पर कोई विरोध नहीं करते, बल्कि अंग फैलाकर लोटने लग जाते हैं। ऐसा देखते ही किसान लोग समझ जाते हैं कि ये बैल किसी काम के नहीं। और पूँछ में हाथ लगाते ही जो बैल तिलमिलाकर एकदम उछलने लगते हैं उन्हें देखकर वे समझ जाते हैं कि ये खूब काम में आएँगे। इन्हीं में से वे बैल पसन्द कर खरीद ले जाते हैं। ढीलाढाला भाव अच्छा नहीं। अपने में जोर लाकर, विश्वास के साथ कहो – 'उन्हें जरूर पाऊँगा, अभी इसी क्षण पाऊँगा!' – तभी तो यह सम्भव होगा।

भगवत्प्राप्ति की अनिवार्य शर्तें

६२७. मायापाश से मुक्त होने के लिए हमें किस उपाय का अवलम्बन करना चाहिए? मायापाश से छुटकारा पाने के लिए जो व्याकुल होता है, उसे स्वयं भगवान् ही उपाय बता देते हैं। इसलिए व्याकुलता ही आवश्यक है।

६२८. किसी भक्त ने श्रीरामकृष्ण से पूछा, "किस उपाय से ईश्वर के दर्शन हों?" श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया – "क्या तुम उनके लिए व्याकुल होकर रो सकते हो? लोग बाल-बच्चे, औरत, रुपए-पैसे के लिए लोटा लोटा भर आँसू बहाते हैं, पर भगवान् के लिए कौन रोता है? बच्चा जब तक चुसनी में भूला रहता है तब तक माँ रसोई या घर के अन्य कामकाज में लगी रहती है। पर जब बच्चे को चुसनी अच्छी नहीं लगती और उसे फेंककर वह माँ के लिए चिल्लाकर रोने लगता है, तब माँ झट चूल्हे पर से हण्डी को उतारकर दौड़ती हुई आकर बच्चे को गोदी में उठा लेती है।"

६२९. जिसे तीव्र व्याकुलता हो उसे शीघ्र ही भगवान् के दर्शन होते हैं।

६३०. इस कलियुग में कोई यदि ईश्वर के लिए तीन दिन भी व्याकुल होकर रोए तो ईश्वर की कृपा से वह सिद्ध हो सकता है।

६३१. चन्दामामा सभी बच्चों के मामा हैं। इसी तरह भगवान् भी सभी के हैं। उन्हें पुकारने का सभी को अधिकार है। जो कोई उन्हें पुकारता है वह उनके दर्शन प्राप्त कर धन्य हो जाता है। यदि तुम उन्हें पुकारो तो तुम्हें भी उनके दर्शन होंगे।

६३२. सच कहता हूँ, जो ईश्वर को चाहता है, वह उन्हें पाता है। यह सत्य है या नहीं, स्वयं परखकर देखो। अधिक नहीं, सिर्फ तीन दिन ठीक-ठीक करके देखो।

६३३. जगज्जननी के पास अचल भक्ति, दृढ विश्वास के लिए प्रार्थना करो।

६३४. साधक का बल क्या है? साधक ईश्वर की सन्तान है, बच्चों की तरह रोना ही उसका बल है। माँ जिस प्रकार बच्चे को रोते-मचलते देख उसका हठ पूरा करती है, भगवान् भी साधक को व्याकुल हो रोते देख उसकी प्रार्थना पूरी करते हैं।

६३५. एक बार किसी व्यक्ति ने श्रीरामकृष्ण से कहा, "मेरी उम्र इस समय पचपन वर्ष है। मैं चौदह साल से ईश्वर की खोज में लगा हूँ। मैंने गुरु के उपदेशों का पालन किया, सभी तीर्थक्षेत्र हो आया, साधु-सन्तो के दर्शन किए, पर कुछ तो लाभ नहीं हुआ।" सुनकर श्रीरामकृष्ण बोले, "मैं तुमसे कहता हूँ, जो ईश्वर के लिए व्याकुल होता है, वह अवश्य उनके दर्शन पाता है। मेरी बात पर विश्वास रखो, धीरज धरो।"

६३६. बच्चे ने माँ से कहा, "अम्माँ, जब मुझे भूख लगे तब नींद से जगा देना।" माँ बोली, "बेटा, भूक ही तुम्हें जगा देगी।"

६३७. जिस प्रकार बच्चे पैसे या खिलौने के लिए माँ से जिद करते हुए मचलते हैं, कभी रोते और कभी उसे मारते भी हैं, इसी प्रकार, जो ईश्वर को अपने से भी अपना जानकर उनके दर्शन पाने के लिए सरल बालक की तरह व्याकुल अन्तःकरण से रुदन करता है, ईश्वर उसे दर्शन दिए बिना नहीं रह सकते।

६३८. यात्रा-अभिनय* में शुरू में जब तक लोग मृदंग, करताल आदि बजाते हुए ऊँचे स्वर में 'हे कृष्ण, आओ, आओ' कहकर गाते रहते हैं, तब तक कृष्ण सज-धझकर आड़ में तम्बाकू पीते और गपशप करते

---

* नौटंकी की तरह एक प्रकार का धार्मिक नाटक।

बैठे रहते हैं। पर जब वह सब शान्त हो जाता है और नारद-ऋषि आकर वीणा बजाते हुए प्रेमसहित कोमल स्वर से गाते हुए पुकारने लगते हैं, 'हे गोविन्द! मेरे जीवन! मेरे प्राण!' तब कृष्ण अधिक देर नहीं ठहर सकते, व्यग्र होकर तत्क्षण मंच पर आ जाते हैं। इसी तरह, जब तक साधक 'प्रभो, दर्शन दो' 'प्रभो, दर्शन दो' कहकर जोरों से पुकारता रहता है, तब तक जानना कि प्रभु वहाँ नहीं आए हैं। जब प्रभु का आगमन होता है, तब साधक भाव- गद्‌गद हो चुप होता है, फिर जोर से नहीं पुकारता। साधक जब भाव में गद्‌गद होकर प्रेममग्न हृदय से प्रभु का स्मरण करता है तब प्रभु भी आए बिना रह नहीं सकते।

□□□

खण्ड ३

जीव तथा ईश्वर

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात्प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम्।
धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम।।६।।

– जिससे यह जगत्-प्रपंच्र प्रवृत्त होता है, वह इस संसार-वृक्ष से अतीत है, काल से परे है। उस धर्म की प्राप्ति करवानेवाले, पाप का उच्छेद करनेवाले, समस्त सद्‌गुणों के अधीश, आत्मा में अवस्थित, अमृतस्वरूप तथा समस्त-विश्व के आधारभूत परमात्मा को जानो।

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्।।७।।

– ईश्वरों के परमेश्वर, देवताओं के परम देवता, पतियों के परम-पति, परात्पर तथा अखिल विश्व के अधीश्वर उस स्तुत्य देव को हम जानें।

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।।८।।

– उसके न तो देह हैं और न इन्द्रियाँ ही। उसके समान अथवा उससे बढ़कर कोई नहीं दिखाई देता। उसकी पराशक्ति ही श्रुतियों में विविध रूप से वर्णित है। उसमें ज्ञान, बल तथा क्रिया का स्वाभाविक रूप से अन्तर्भाव है।

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्।
स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः।।९।।

– जगत् में उसका कोई स्वामी या शासनकर्ता नहीं है और न उसका कोई चिह्न ही है। वह सब का कारण तथा इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव का भी अधिपति है। उसका न कोई जन्मदाता है और न कोई प्रभु ही।

(श्वेताश्वतर उपनिषद्, अध्याय ६, श्लोक ६-९)

अध्याय १४

भगवान् तथा भगवद्-भक्त

भगवान् क्यों नहीं दिखाई देते

६३९. सूर्य पृथ्वी से कितने गुना बड़ा है, पर बहुत दूर होने के कारण वह सिर्फ एक थाली जैसा प्रतीत होता हैं। इसी प्रकार, भगवान् अनन्त हैं, परन्तु हम उनसे बहुत दूर होने के कारण उनकी यथार्थ महिमा को समझ नहीं पाते।

६४०. तालाब का पानी काई और घास-पत्तियों से ढका होने के कारण उसमें खेलती हुई मछली दिखाई नहीं पड़ती। इसी भाँति मनुष्य की दृष्टि माया के आवरण से आच्छन्न होने के कारण वह अपने हृदय में लेलायमान प्रभु को देख नहीं पाता।

६४१. आनन्दमयी जननी को हम क्यों नहीं देख पाते? – ये बड़े घर की स्त्रियों की तरह चिक की ओट में रहती हैं। उनके भक्त सन्तानगण मायारूपी चिक के भीतर जाकर उनके दर्शन करते हैं।

६४२. अँधेरे में गश्त लगानेवाला पहरेदार अपनी लालटेन के उजाले से सब को देख सकता है पर उसे कोई नहीं देख पाता। अगर वह स्वयं उस लालटेन का प्रकाश अपने पर डाले तो ही उसे देखा जा सकता है। इसी प्रकार, भगवान् भी सब को देखते हैं, परन्तु उन्हें कोई नहीं देख पाता। पर यदि वे कृपा करके स्वयं को प्रकाशित करें तो ही मनुष्य उन्हें देख पाता है।

भगवान् तथा भक्त

६४३. जमींदार कितना भी रईस क्यों न हो,पर जब कोई दीन प्रजा

उसे प्रेमके साथ कोई सामान्य वस्तु भेंट देती है तो वह उसे आनन्दपूर्वक स्वीकार करता है। इसी प्रकार, यद्यपि ईश्वर अत्यन्त महान् और सर्वशक्तिमान् हैं, तथापि वे मनुष्य की श्रद्धापूर्वक दी हुई नगण्य भेंट को भी बड़े प्रेम से ग्रहण करते हैं।

६४४. उन्हें पा लिया तो सब हो गया। संस्कृत न सीखी तो क्या हुआ! उनकी कृपा पण्डित, मूर्ख सब सन्तानों पर है जो उन्हें पाने के लिए व्याकुल हैं। जैसे पिता के पाँच बच्चे हैं। पिता का सब बच्चों पर समान स्नेह है। उनमें से एक-दो जन ही 'बाबूजी' कहकर पुकार सकते हैं। बाकी कोई 'बा' कहकर पुकारता है, तो कोई 'पा' – पूरा उच्चारण नहीं कर पाता। पर जो 'बाबूजी' कहता है उस पर क्या पिता का प्यार ज्यादा होगा, और जो 'पा' कहता है उस पर कम? पिता जानता है कि बच्चा अभी बहुत छोटा है, साफ 'बाबूजी' नहीं बोल पाता।

६४५. बच्चे का स्वभाव ही है अपने को कीचड़-मिट्टी में सान लेना, पर माँ उसे गन्दा नहीं रहने देती, नहला-धुलाकर साफ कर देती है। इसी तरह मनुष्य का स्वभाव ही है पाप करना, परन्तु वह कितना भी पाप क्यों न करे, भगवान् उसके उद्धार का उपाय कर ही देते हैं।

६४६. जिस प्रकार एक ही आलू को अपनी रुचि के अनुसार उबालकर, तलकर, सूखी या रसेदार सब्जी बनाकर खाया जा सकता है, उसी प्रकार जगत्कारण ईश्वर एक होते हुए भी उपासकों की रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होते हैं ताकि सभी साधक उन्हें अपने प्रेमास्पद के रूप में पा सकें। किसी के लिए वे दयालु स्वामी या प्रेममय पिता हैं तो किसी के लिए मधुरहासिनी माता, किसी के लिए सुहृत् सखा तो किसी के लिए प्रिय पति या आज्ञाकारी पुत्र।

६४७. मछलियाँ कितनी भी दूर क्यों न हों, अच्छा चारा फेंकते ही वे जैसे दौड़ आती हैं, वैसे ही भगवान् भी श्रद्धा-विश्वासवान् भक्त के हृदय में शीघ्र ही आ प्रकट होते हैं।

६४८. ईश्वरकोटि भक्त भगवान् के अन्तरंग, निकट आत्मीय हैं। वे

उनके संगी, साथी, लीलासहचर हैं। जीवकोटि भक्त बहिरंग हैं।

६४९. सूर्य की किरणें सर्वत्र समान रूप से पड़ने पर भी जल में, दर्पण में, तथा अन्य स्वच्छ वस्तुओं पर उनका प्रकाश अधिक दिखाई देता है। इसी भाँति, ईश्वर का प्रकाश सब के हृदय में समान होने पर भी साधु-महात्माओं के शुद्ध हृदय में वह अधिक उज्ज्वल रूप से प्रकाशित होता है।

६५०. दीपक का स्वभाव है प्रकाश देना पर उस प्रकाश में कोई रसोई बनाता है, कोई जाली कार्रवाई करता है, तो कोई भागवत-पाठ करता है। परन्तु प्रकाश इन सब गुण-दोषों से निर्लिप्त है। इसी प्रकार, कोई तो भगवान् का नाम लेकर मुक्ति के लिए प्रयत्न करता है, और कोई उसी नाम का पाखण्ड रचकर चोरी ठगबाजी करता है। परन्तु भगवान् इन सब से अलिप्त हैं।

६५१. भागवत (शास्त्र), भक्त, भगवान् – तीनों एक ही हैं।

६५२. यथार्थ-प्रेमी भक्त ईश्वर को किस दृष्टि से देखता है? वह ईश्वर को अत्यंत निकट आत्मीय की तरह देखता है, जैसे व्रज की गोपियाँ श्रीकृष्ण को 'जगन्नाथ' के रूप में नहीं देखती थीं, वे तो उन्हें 'गोपीनाथ' के रूप में देखा करती थीं।

६५३. ईश्वर को माँ कहकर पुकारते हुए भक्त इतना आनन्दमग्न क्यों हो जाता है? क्योंकि बालक माँ के ही निकट सब से अधिक स्वच्छन्द रहता है, माँ के ही ऊपर उसका सबसे अधिक जोर चलता है।

६५४. ज्वर-विकार में मारे प्यास के रोगी को लगता है कि वह पूरा समुद्र ही पी जाएगा। पर जब बुखार उतर जाता है तो एक गिलास पानी से ही उसकी प्यास बुझ जाती है। माया के विकार में मनुष्य को अपनी क्षुद्रता का होश न रहने के कारण उसे लगता है कि वह अनन्तस्वरूप ईश्वर को अपने हृदय में खींच लाएगा; परन्तु जब उसका मोहभ्रम दूर हो जाता है तब ईश्वर की ज्योति की एक ही किरण से उसका हृदय दिव्य आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है।

६५५. कलवार की दुकान में बहुत शराब रहती है, पर कोई आधी

बोतल तो कोई एक या दो बोतल पीकर ही मस्त हो जाता है। इसी प्रकार, भगवान् तो अपार आनन्द के सागर हैं, परन्तु भक्तगण थोड़ी-बहुत मात्रा में उस आनन्द का उपभोग कर तृप्त हो जाते हैं।

६५६. भगवान् मानो चीनी के पर्वत हैं और भक्तगण चींटियाँ। छोटी चींटी चीनी के पर्वत में से एक छोटा कण ले जाती है और बड़ी चींटी कुछ बड़ा कण; परन्तु पर्वत जैसा का वैसा ही रहता है। इसी प्रकार भक्तगण भी अनन्तभावमय भगवान् का एक-एक भाव पाकर ही परिपूर्ण हो जाते हैं; सम्पूर्ण भावों को कोई ग्रहण नहीं कर पाता।

६५७. ब्रह्मसमुद्र की हवा लगने पर मनुष्य पिघल जाता है (अर्थात उसका अहंभाव नष्ट हो जाता है) । वह हवा खाकर सनक, सनातन आदि प्राचीन ऋषि पूरे पिघल गए। नारद दूर से ही ब्रह्मसागर के दर्शन कर अपना अस्तित्व खो बैठे और हरिगुणगान गाते हुए उन्मत्त की तरह पृथ्वी का पर्यटन करने लगे। शुकदेव ने तट पर जा तीन बार जल का स्पर्श किया, और ब्रह्मभाव में विभोर हो जड़वत् विचरण करने लगे। जगद्गुरु महादेव उसमें से तीन चुल्लू जल पी शव की तरह निश्चल पड़े रहे। ऐसे ब्रह्मसमुद्र के स्वरूप की भला कौन थाह पाए?

६५८. श्रीरामकृष्ण ने केशवचन्द्र सेन से कहा था – "ब्राह्मसमाज के लोग ईश्वर की इतनी महिमा क्यों गाया करते हैं? 'हे ईश्वर, तुमने चन्द्र बनाया, सूर्य बनाया, नक्षत्र बनाए' – इन सब बातों की इतनी क्या जरूरत? अधिकांश लोग बगीचे की ही प्रशंसा करते हैं, पर बगीचे के मालिक से कितने लोग मिलना चाहते हैं? बगीचा बड़ा है कि मालिक? मालिक ही सत्य है, बगीचा मिथ्या।

"शराब पी चुकने पर कलवार की दुकान में कितने मन शराब है इसके हिसाब से हमें क्या मतलब? हमारा तो एक ही बोतल से काम हो जाता है।

"नरेन्द्र को देखकर ही मुझे आनन्द होता है। उससे मैंने कभी नहीं पूछा, 'तेरे पिता का नाम क्या है?' 'तेरे पिता के कितने मकान हैं?'

"क्यों, जानते हो? मनुष्य स्वयं ऐश्वर्य का आदर करता है, इसलिए वह सोचता है कि ईश्वर भी ऐश्वर्य का आदर करते हैं। सोचता है कि उनके ऐश्वर्य की प्रशंसा करने पर वे खुश होंगे।"

६५९. जिस प्रकार सरल बालक रुपया-पैसा सब छोड़ गुड़िया को उठा लेता है उसी प्रकार विश्वासवान् भक्त भी संसार का सब धन-मान आदि छोड़कर ईश्वर को ही ग्रहण करता है। दूसरा कोई ऐसा नहीं कर पाता।

६६०. जो सच्चा भक्त होता है वह अपना बारह आना मन ईश्वर पर रखकर चार आना संसार की ओर देता है। ईश्वर सम्बन्धी विषयों में वह अत्यन्त सतर्क रहता है, जैसे साँप की पूँछ पर पाँव पड़ते ही वह एकदम फुफकार उठता है।

६६१. एक सुप्रसिद्ध ब्राह्म प्रचारक ने किसी समय श्रीरामकृष्ण के बारे में कहा था कि एक ही विषय का अत्यधिक चिन्तन करते रहने के फलस्वरूप कई पाश्चात्य विचारकों को जिस प्रकार मस्तिष्क का विकार हो गया उसी प्रकार का मस्तिष्कविकार इन्हें भी हो गया है, ये अचेतन हो गए हैं। यह सुनकर बाद में एक दिन श्रीरामकृष्ण ने उनसे कहा था, "तुम कहते हो कि यूरोप में भी विद्वान लोग इस प्रकार एक ही विषय पर सतत चिन्तन करते हुए पागल हो जाते हैं, परन्तु उनके चिन्तन का विषय क्या होता है? जड़ वस्तु ही न! यदि सदा जड़ का विचार करते हुए मनुष्य जड़बुद्धि बन जाए तो इसमें आश्चर्य ही क्या है! परन्तु जिसके चैतन्य से सारा विश्व चैतन्यमय हुआ है उस चैतन्यस्वरूप का चिन्तन करके भला कभी कोई अचेतन बन सकता है? क्या तुम्हारी पोथियों में यही लिखा है!"

६६२. ईश्वर के प्रेम के समुद्र में डूब जाओ। इसमें डूबने से डरो मत, यह तो अमृत का समुद्र है! मैंने एक बार नरेन्द्र से कहा, 'ईश्वर रस के सागर हैं। क्या तुझे इस रस के समुद्र में डुबकी लगाने की इच्छा नहीं होती? अच्छा, ऐसा सोच कि एक कटोरे में रस भरा है और तू मक्खी बना है, तब तू कहाँ बैठकर रस पीएगा?' नरेन्द्र ने कहा, 'मैं कटोरे की किनार पर बैठकर मुँह बढ़ाकर रस पीऊँगा, क्योंकि ज्यादा बढ़ने पर गिरकर

उसमें डूब मरूँगा।' तब मैं बोला, 'बेटा, सच्चिदानन्द-समुद्र में मरने का भय नहीं है। वह तो अमृत का सागर है। उसमें डूबने से मनुष्य मरता नहीं, अमर हो जाता है। ईश्वर के प्रेम में मत्त होने से मनुष्य पागल नहीं हो जाता।'

भक्तों की सांसारिक परिस्थिति

६६३. देवकी को कारागार में चतुर्भुज शंखचक्रगदाधारी भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन हुए, परन्तु उसका कारावास कटा नहीं।

६६४. एक अन्धे ने गंगा नहाया। गंगास्नान के फलस्वरूप उसके सब पाप तो कट गए परन्तु अन्धापन नहीं गया।

६६५. एक भक्त लकड़हारे पर प्रसन्न होकर भगवती ने उसे दर्शन दिए और कृपा की। परन्तु फिर भी उसका लकड़ी काटना बन्द नहीं हुआ। उसी के द्वारा उसका गुजर-बसर चलता रहा।

६६६. शरशय्या में पड़े भीष्मदेव की आँखों में देहत्याग के समय आँसू आते देख अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा, "सखे, कितना आश्चर्य है! स्वयं पितामह, जो सत्यवादी, जितेन्द्रिय और ज्ञानी हैं, जो अष्टवसुओं में से एक हैं, वे भी देह को त्यागते समय माया के कारण रो रहे हैं!" श्रीकृष्ण ने जब यह बात भीष्म से कही, तो वे बोले, "कृष्ण, तुम अच्छी तरह जानते हो कि मैं देह के लिए नहीं रो रहा हूँ, मैं तो इसलिए रो रहा हूँ कि भगवान् की लीला कुछ समझ न पाया। जिनका नाम मात्र जपने से लोग विपदाओं से तर जाते हैं वे भगवान् मधुसूदन स्वयं पाण्डवों के सखा और सारथि के रूप में विद्यमान होते हुए भी पाण्डवों की विपत्तियों का अन्त नहीं है!"

भगवान् कैसे प्रकट होते हैं।

६६७. किसी घर के छप्पर में एक छोटीसी दरार है, उसमें से घर में प्रकाश आता है। उस घर में रहनेवाले को उतना ही प्रकाश मिलता है। जिसके छप्पर में बहुतसी दरारें हैं उसे और भी अधिक प्रकाश मिलता है। फिर खिड़कियाँ और दरवाजे खोल देने पर और भी प्रकाश मिलता है। परन्तु जो मैदान में खड़ा है उसे सब ओर से प्रकाश ही प्रकाश मिलता है। इसी

प्रकार, ईश्वर भी मनुष्य की मानसिक अवस्था के अनुसार उसके सन्मुख अपना स्वरूप प्रकाशित करता है।

६६८. उस विराट् पुरुष के जो जितने निकट जाता है, उसे उसके उतने ही नए नए भाव दिखाई देते हैं, अन्त में वह उसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर उसके साथ मिलकर एक हो जाता है।

भगवान् धन की परवाह नहीं करते

६६९. क्या भगवान् धन-ऐश्वर्य के वश में हैं? नहीं, वे तो भक्ति के वश में हैं। वे रुपया नहीं चाहते – भाव, भक्ति, प्रेम, विवेक, वैराग्य यही सब चाहते हैं।

६७०. एक बार शम्भु मल्लिक ने मुझसे कहा था, 'अब तो यही आशीर्वाद दीजिए कि जिससे यह सारा ऐश्वर्य जगदम्बा के पादपद्मों में अर्पण करके मर सकूँ।' मैंने कहा, 'यह तुम क्या कहते हो! यह तुम्हारे ही लिए ऐश्वर्य है, जगदम्बा के लिए तो यह सब धूल और मिट्टी के बराबर है।'

६७१. जब रानी रासमणि के देवालय से विष्णु के गहने चुरा लिए गए थे तब मथुरबाबू (रानी के जामाता) और श्रीरामकृष्ण दोनों देखने गए कि मामला क्या है। मन्दिर में जाकर मथुरबाबू ने कहा, "चलो ठाकुरजी, तुम किसी काम के नहीं। तुम्हारी देह से चोर सब गहने निकाल ले गए और तुम कुछ न कर सके?" यह सुनकर श्रीरामकृष्ण ने उनसे कहा, "यह तुम्हारी कैसी बुद्धि है। स्वयं लक्ष्मी जिनके चरणों की दासी है, उन्हें क्या ऐश्वर्य की कमी है? यह जेवर तुम्हारे ही लिए बड़ी भारी वस्तु है, पर ईश्वर के लिए तो ये मिट्टी के ढेले भर हैं।"

भगवत्कृपा और पुरुषार्थ

६७२. यह नहीं कि भगवान् हमें भोजन देते हैं इसलिए वे दयामय हैं – पिता अपनी सन्तान को भोजन तो देगा ही। वास्तव में वे इसलिए दयामय हैं कि वे हमें कुपथ में जाने से बचाते हैं, मोह या प्रलोभन से हमारी रक्षा करते हैं।

६७३. प्रश्न – किस प्रकार के कर्म से हम ईश्वर को पा सकते हैं?

उत्तर – मनुष्य उन्हें अमुक कर्म से पा सकता है, अमुक से नहीं ऐसी बात नहीं। उनकी प्राप्ति होना उन्हीं की कृपा पर निर्भर है। पर उनकी कृपा के लिए व्याकुल होकर कुछ कर्म करते रहना चाहिए। उनकी कृपा से सुयोग मिल जाता है, अनुकूलता हो जाती है। कभी ऐसा हो जाता है कि भाई ने संसार का कुल भार ले लिया – तुम निश्चिन्त हो गए; स्त्री 'विद्याशक्ति', धार्मिक निकली – उसकी ओर से कोई बाधा नहीं रही; या विवाह ही नहीं हुआ –इस तरह से संसार में फँसना ही न पड़ा। इस प्रकार, सुयोग के मिलने पर काम बन जाता है।

६७४. दियासलाई की एक लकड़ी के जलते ही हज़ारों साल का अन्धकार भी उसी क्षण दूर हो जाता है, वैसे ही एक बार ईश्वर की कृपादृष्टि के पड़ते ही जीव के जन्म-जन्मान्तर के पापपुंज तत्काल दूर हो जाते हैं।

६७५. कुछ मछलियों में बहुत अधिक काँटे होते हैं और कुछ में एक ही काँटा होता है; पर मछली खानेवाला खाते समय सभी काँटो को निकाल फेंकता है। इसी तरह, कुछ लोगों में अत्यधिक पाप होते हैं, तो कुछ में एक-आध ही; परन्तु ईश्वर की कृपा होने पर सभी के पाप दूर हो जाते हैं।

६७६. मलय पवन के लगने से जिन पेड़ों में कुछ सार है, वे सब चन्दन बन जाते हैं; परन्तु बाँस, केला आदि साररहित वृक्षों पर कुछ असर नहीं होता। इसी तरह, भगवत्कृपा पाकर, जिनमें कुछ सार है वे तो तत्काल सद्भाव से परिपूर्ण हो जाते हैं, किन्तु सारहीन विषयासक्त मनुष्य का सहज में कुछ नहीं होता।

६७७. एक भक्त बहुत जप किया करता था। श्रीरामकृष्ण ने उससे कहा, "तुम एक ही जगह क्यों अड़े हो? आगे बढ़ो!" इस पर भक्त ने कहा, "यह तो उनकी कृपा के बिना नहीं हो सकता।" तब श्रीरामकृष्ण बोले, "उनका कृपारूपी पवन तो दिनरात बह ही रहा है। भवसागर पार करना हो तो अपनी नाव का पाल तान दो।"

६७८. भगवत्कृपा का पवन सदा बह रहा है। आलसी लोग उसका सदुपयोग नहीं करते। परन्तु जो उद्यमशील होते हैं वे अपनी नौका का पाल फहरा देकर आसानी से पार हो जाते हैं।

६७९. प्रश्न – क्या एकाएक कुछ नहीं होता?

उत्तर – साधारणतया, किसी भी विषय में सिद्ध होना हो तो उसके लिए पहले काफी साधना करनी पड़ती है। कोई एक ही दिन में द्वारिक मित्र की तरह हाईकोर्ट का जज नहीं बन जाता। बहुत बड़ी मेहनत करने के बाद ही द्वारिक मित्र की तरह जज बना जा सकता है, नहीं तो बिना वेतन के वकील ही बने रहना पड़ता है। वैसे यदाकदा ईश्वर की कृपा से एकाएक भी सिद्धि मिल जाती है, जैसे मूर्ख शिरोमणि होकर भी कालिदास देवी सरस्वती की कृपा से एकदम महाकवि बन गया।

६८०. एक गृहस्थ भक्त – महाराज, हमने सुना है कि आप ईश्वरदर्शन करते रहते हैं। तो हमें भी करा दीजिए। उनके दर्शन कैसे हों?

श्रीरामकृष्ण – सब कुछ ईश्वर की इच्छा के अधीन है। परन्तु कर्म चाहिए, तब ईश्वरदर्शन होते हैं। केवल 'ईश्वर हैं' कहकर बैठे रहने से कुछ न होगा। तालाब में बहुत मछलियाँ हैं, परन्तु 'मछलियाँ हैं' कहकर केवल बैठे रहने से क्या कहीं मछली पकड़ी जा सकती है? बंसी-डोर ले आओ, पानी में चारा डालो; धीरे-धीरे गहरे पानी में से मछलियाँ निकलकर चारे के पास आएँगी; तब तो तुम उन्हें पकड़ सकोगे! यह भी खूब है, ईश्वर से मिला दो और आप चुपचाप बैठे रहेंगे! दही जमाकर, उसे मथकर मक्खन निकालकर उनके मुँह तक पहुँचाया जाय! मछली पकड़कर हाथ में रख दी जाए! अच्छी बला है।

६८१. बीच समुद्र में जहाज के मस्तूल पर बैठा हुआ पक्षी उकताकर नई जगह जाने के लिए एक-एक करके पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण सभी ओर उड़ जाता है, पर पानी के सिवाय कहीं कुछ नहीं दिखाई पड़ता। थककर, निरुपाय होकर वह फिर मस्तूल पर ही आ बैठता है। इसी प्रकार साधक भी अनुभवसिद्ध, हितैषी गुरु के द्वारा निर्देशित साधना-विधि का नित्य पालन

करते करते उकता जाता है तथा हताश हो, गुरु के प्रति विश्वास खोकर निजी प्रयत्न के द्वारा भगवत्प्राप्ति करने के लिए मनमाने साधनमार्गों में भटकने लगता है। पर उसका सब परिश्रम विफल ही होता है। अन्त में उसे हारकर उसी गुरु की शरण में लौट आना पड़ता है।

६८२. जब तक हवा न बहती हो तभी तक लोग गरमी दूर करने के लिए पंखा झलते हैं, एक बार हवा बहने लगी कि पंखा नीचे रख देते हैं। साधना में भी जब तक ईश्वरीय सहायता न मिले तब तक साधक को स्वयं मेहनत करनी पड़ती है, ईश्वर की कृपा हो जाने पर फिर मेहनत नहीं करनी पड़ती।

६८३. हवा बहने लगे तो पंखे की जरूरत नहीं रह जाती। ईश्वर की कृपा हो जाए तो साधन-भजन की आवश्यकता नहीं रहती।

६८४. "जीवन पर भगवान्, गुरु तथा भक्तजनों की दया होने के बावजूद यदि स्वयं के मन की दया न हो तो उसका विनाश ही होता है।" अर्थात् इन तीनों की कृपा के होते हुए भी यदि मनुष्य के मन में मुक्ति की स्पृहा न हो, व्याकुलता न हो, तो सदुपदेश, साधुसंग आदि सब विफल ही होते हैं।

६८५. कितनी भी चेष्टा करो, भगवान् की कृपा के बिना कुछ नहीं होता। उनकी कृपा के बिना उनके दर्शन नहीं मिलते। परन्तु उनकी कृपा भी सहज में नहीं होती। उसके लिए अहंकार का सम्पूर्ण त्याग कर देना पड़ता है। 'मैं कर्ता हूँ' इस बोध के रहते उनके दर्शन नहीं हो सकते। भण्डारघर में अगर कोई हो, और उस समय घर के मालिक से अगर कोई कहे कि आप भण्डार से अमुक चीज निकाल दीजिए, तो मालिक यही कहता है कि वहाँ तो एक आदमी है न, फिर मेरे जाने की क्या जरूरत! जो खुद ही कर्ता बना बैठा है, उसके हृदय में भगवान् आसानी से नहीं आते।

६८६. उनकी कृपा से ही उनके दर्शन होते हैं। वे ज्ञानसूर्य हैं। उनकी एक ही किरण से संसार में यह ज्ञान का प्रकाश फैला हुआ है। उसी की सहायता से हम एक-दूसरे को पहचानते हैं और संसार में तरह-तरह की

विद्याएँ सीखते हैं। यदि वे एक बार अपना प्रकाश अपने चेहरे पर डालें तो हमें उनके दर्शन हो सकते हैं।

□□□

अध्याय १५

धर्मपथ के सहायक

(१) गुरु

गुरु का स्वरूप

६८७. गुरु कौन है? एकमात्र ईश्वर ही सारे जगत् के गुरु हैं।

६८८. जो गुरु के बारे में मनुष्य-बुद्धि रखता है उसके साधन-भजन का क्या फल होगा? गुरु के बारे में मनुष्य-बोध नहीं रखना चाहिए। इष्टदर्शन होने के पहले शिष्य को प्रथम गुरु के दर्शन होते हैं। फिर ये गुरु ही शिष्य को इष्टदेव के दर्शन करा देते हैं तथा स्वयं धीरे-धीरे उस इष्टरूप में विलीन हो जाते हैं। तब शिष्य गुरु तथा इष्टदेव को अभिन्न, एकरूप देखता है। इस अवस्था में शिष्य जो वर माँगता है, गुरु उसे वही देते हैं। यहाँ तक कि गुरुदेव उसे सर्वोच्च निर्वाण की अवस्था तक दे सकते हैं। या अगर शिष्य चाहे तो वह उपास्य-उपासकरूपी भाव-सम्बन्ध को बनाए रखकर द्वैत अवस्था में भी रह सकता है। वह जैसा चाहे गुरु उसके लिए वैसा ही कर देते हैं।

६८९. मनुष्य-गुरु कान में मन्त्र फूँकते हैं, परन्तु जगद्गुरु प्राणों में मन्त्र जगा देते हैं।

६९०. गुरु मानो मध्यस्थ हैं। जैसे मध्यस्थ प्रेमिक को प्रेमिक के साथ मिला देता है वैसे ही गुरु भी साधक को इष्ट के साथ मिला देते हैं।

६९१. गुरु मानो गंगाजी हैं। गंगा में लोग कितना कूड़ा करकट और

गन्दी चीजें डालते हैं, परन्तु इससे उसकी पवित्रता घट नहीं जाती। इसी प्रकार गुरु पर भी निन्दा, अपमान आदि बातों का परिणाम नहीं होता।

६९२. वैद्य की तरह आचार्य भी तीन प्रकार के होते हैं – उत्तम, मध्यम और अधम। जो वैद्य आकर, सिर्फ रोगी की नाड़ी देख, दवा बताकर 'यह दवा लेना जी' कहकर चला जाता है, रोगी ने दवा ली या नहीं इसकी कोई खबर नहीं लेता, वह अधम वैद्य है। इसी तरह कुछ आचार्य केवल उपदेश दे जाते हैं, शिष्य उनका पालन करता है या नहीं इसकी वे खबर नहीं रखते। दूसरी श्रेणी के वैद्य रोगी को केवल दवा लेने के लिए कहकर नहीं चले जाते, परन्तु यदि रोगी दवा नहीं लेना चाहता हो तो उसे दवा लेने के लिए तरह-तरह से समझाते-बुझाते हैं। ये मध्यम श्रेणी के वैद्य हुए। इसी तरह जो आचार्य शिष्यों के हित के लिए उन्हें बार-बार प्रेम से समझाते हैं, जिससे वे उपदेशों की धारणा कर सकें और तदनुसार चल सकें, वे मध्यम श्रेणी के आचार्य हैं। अन्तिम श्रेणी के और उत्तम वैद्य वे हैं जो, अगर रोगी मीठी बातों से न माने तो बल का भी प्रयोग करते हैं। जरूरत पड़ने पर रोगी की छाती पर घुटना रखकर जबरदस्ती दवा पिला देते हैं। उसी प्रकार, उत्तम श्रेणी के आचार्य शिष्य को ईश्वर के पथ पर लाने के लिए, आवश्यक हो तो, बल तक का प्रयोग करते हैं।

गुरु का प्रयोजन

६९३. जिन-जिन के निकट कोई शिक्षा प्राप्त होती हो उन सभी को गुरु न कहकर एक निर्दिष्ट व्यक्ति को ही गुरु कहने की क्या आवश्यकता है? किसी अनजान जगह जाना हो तो जो रास्ता जानता है ऐसे किसी एक व्यक्ति के निर्देशानुसार ही जाना चाहिए। अनेक लोगों से रास्ता पूछते रहने पर गड़बड़ हो जाती है। वैसे ही, ईश्वर के निकट जाना हो तो एक अनुभवी गुरु के निर्देशानुसार चलना चाहिए। इसीलिए एक गुरु का प्रयोजन है।

६९४. जो खुद शतरंज खेलते हैं वे बहुत समय नहीं समझ पाते कि कौनसी चाल ठीक होगी, परन्तु जो तटस्थ रहकर खेल देखते रहते

हैं वे खेलनेवालों की चाल से अच्छी चाल बता सकते हैं। संसारी लोग सोचते हैं कि हम बड़े बुद्धिमान् हैं, परन्तु वे धनमान, विषय-सुख आदि में आसक्त रहते हैं। वे स्वयं खेल में डूबे रहते हैं, ठीक चाल नहीं समझ पाते। परन्तु संसार-त्यागी साधु-महात्मा विषयों से अनासक्त होते हैं। वे संसारियों से अधिक बुद्धिमान् होते हैं। वे खुद नहीं खेलते, इसलिए अच्छी चाल बता सकते हैं। इसीलिए, धर्मजीवन यापन करना हो तो जो साधु-महात्मा ईश्वर का ध्यान-चिन्तन करते हैं, जिन्होंने उन्हें प्राप्त कर लिया है, उन्हीं की बातों पर विश्वास रखकर चलना चाहिए। यदि तुम्हें मामले-मुकदमे की सलाह चाहिए हो तो तुम वकील की ही सलाह लोगे न कि किसी ऐरे-गैरे की!

६९५. यदि तुम्हारे भीतर ईश्वर के प्रति ठीक-ठीक अनुराग हो, उन्हें जानने की स्पृहा उत्पन्न हो तो अवश्य ही वे तुम्हें सद्‌गुरु से मिला देंगे। साधक को गुरु के लिए चिन्ता नहीं करनी पड़ती।

६९६. ठीक-ठीक आन्तरिकता के साथ व्याकुल प्राणों से यदि कोई उन्हें पुकार सके तो उसके लिए गुरु की आवश्यकता नहीं होती; परन्तु साधारणतया ऐसी व्याकुलता नहीं दिखाई देती, इसीलिए गुरु की आवश्यकता है। गुरु एक ही होता है, परन्तु उपगुरु अनेक हो सकते हैं। जिस किसी के पास कुछ शिक्षा प्राप्त हो वही उपगुरु है। अवधूत के इस प्रकार चौबीस उपगुरु थे।

गुरु-शिष्य सम्बन्ध

६९७. समुद्र में एक प्रकार की सीपी होती है जो स्वाति नक्षत्र की वर्षा की एक बूँद के लिए सदा मुँह बाए पानी पर तैरती रहती है, किन्तु स्वाति की वर्षा का एक बिन्दु जल मुँह में पड़ते ही वह मुँह बन्द कर सीधे समुद्र की गहरी सतह में डूब जाती है तथा वहाँ उस जलबिन्दु से मोती तैयार करती है। इसी तरह यथार्थ मुमुक्षु साधक भी सद्‌गुरु की खोज में व्याकुल होकर इधर-उधर भटकता रहता है; परन्तु एक बार सद्‌गुरु के निकट मन्त्र पा जाने के बाद वह साधना के अगाध जल में डूब जाता है तथा अन्य

किसी ओर ध्यान न देते हुए सिद्धिलाभ तक साधना में लगा रहता है।

६९८. ऐसे (साक्षात्कारी) गुरु यदि पण्डित या शास्त्रज्ञ न भी हों तो घबराने का कारण नहीं। उन्होंने पुस्तकी विद्या भले ही न सीखी हो पर उनमें यथार्थ ज्ञान की कभी कमी नहीं होती। पुस्तक पढ़कर भला क्या ज्ञान होगा? ऐसे व्यक्ति के निकट ईश्वरीय ज्ञान का अनन्त भण्डार होता है।

६९९. कोई व्यक्ति अपने गुरु के बारे में तर्क-वितर्क कर रहा था। श्रीरामकृष्ण ने उससे कहा, "तुम फिजूल समय क्यों बरबाद कर रहे हो? तुम्हें इन सब बातों से क्या मतलब? तुम्हें मोती चाहिए तो मोती लेकर सीपी को फेंक क्यों नहीं देते? गुरु ने जो मन्त्र दिया है उसे लेकर डूब जाओ, गुरु के गुण-दोषों की ओर मत देखो।"

७००. कोई तुम्हारे गुरु की निन्दा करता हो तो कभी मत सुनो। गुरु माता-पिता से भी बड़े हैं। यदि कोई तुम्हारे सामने तुम्हारे माता-पिता की निन्दा करे तो क्या तुम उसे सहन करोगे? यदि जरूरत पड़े तो लड़कर भी अपने गुरु की मर्यादा को बनाए रखो।

७०१. शिष्य को गुरु की निन्दा कभी नहीं करनी चाहिए। उसे सदा गुरु की आज्ञा का पालन करना चाहिए। कहावत है, 'यद्यपि मेरा गुरु कलवार घर जाय, तथापि मेरा गुरु नित्यानन्द राय।' अर्थात्, मेरे गुरु यदि शराब भी पीएँ तो भी वे पवित्र हैं, निर्दोष हैं।

७०२. सच्ची भक्ति हो तो सामान्य वस्तुओं से भी ईश्वर का उद्दीपन होकर साधक भाव में विभोर हो जाता है। चैतन्य महाप्रभु की कथा सुनी नहीं? एक बार किसी गाँव से गुजरते समय चैतन्यदेव ने सुना कि हरि-संकीर्तन में बजानेवाला मृदंग इसी गाँव की मिट्टी से बनता है। सुनते ही वे बोल उठे 'इस मिट्टी से मृदंग बनता है!' और एकदम बाह्यज्ञान खोकर भावसमाधि में मग्न हो गए। इस मिट्टी से मृदंग बनता है, उस मृदंग को बजाते हुए हरिनाम गाया जाता है, वे हरि सब के प्राणों के प्राण हैं, वे सुन्दर के भी सुन्दर हैं! – इस तरह की विचार-परम्परा एकदम क्षणमात्र में उनके चित्त में खेल गई और उनका चित्त हरि में स्थिर हो गया।

इसी प्रकार, जिसमें गुरु के प्रति सच्ची भक्ति होती है उसे गुरु के सगे-सम्बन्धियों को देखकर गुरु का ही उद्दीपन होता है। इतना ही नहीं, गुरु के गाँव के लोगों को देखने पर भी उसे उस प्रकार की उद्दीपना होती है और वह उन्हें प्रणाम कर उनकी चरणधूलि ग्रहण करता है, उन्हें खिलाता-पिलाता है, उनकी सेवाशुश्रूषा करता है।

ऐसी अवस्था होने पर फिर गुरु के दोष नहीं दिखाई देते। इसी अवस्था में यह कहा जा सकता है कि 'यद्यपि मेरा गुरु कलवार घर जाय, तथापि मेरा गुरु नित्यानन्द राय।' अन्यथा, मनुष्य में कुछ न कुछ दोष तो रहेंगे ही – केवल गुण ही गुण नहीं रह सकते। परन्तु अपनी भक्ति के कारण वह शिष्य गुरु को मनुष्य की दृष्टि से नहीं देखता, वह उन्हें भगवान् के ही रूप में देखता है। जिस प्रकार पीलिया हो जाने पर सब कुछ पीला ही पीला दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार इस शिष्य को भी सब कुछ ईश्वरमय ही दिखाई देता है। उसकी भक्ति ही उसे दिखा देती है कि ईश्वर ही सब कुछ हैं, वे ही गुरु, पिता, माता, मनुष्य, पशु, जड़, चेतन – सब कुछ बने हैं।

(२) अवतार

अवतार क्या है?

७०३. अवतार मानो ईश्वर का कर्मचारी है – जैसे जमींदार और उसका नायब। जमींदार अपने अधिकार के प्रदेशों में से जहाँ भी कोई गड़बड़ हो वहीं अपने नायब को भेज देता है उसी प्रकार संसार में जहाँ भी धर्महानि होने लगती है, उसे दूर करने के लिए ईश्वर वहीं अपने अवतार को भेज देते हैं।

७०४. ऐसा मत ठीक नहीं कि राम-सीता, कृष्ण-राधा आदि ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं – केवल रूपक हैं; या शास्त्र आदि में उनका जो वर्णन है वह केवल आध्यात्मिक दृष्टिकोण से ही सत्य है – उनका भौतिक

अस्तित्व नहीं था। तुम्हारी-हमारी तरह वे भी रक्त-मांस के बने मनुष्य ही थे परन्तु वे दिव्यस्वरूप थे इसीलिए उनके जीवन की रूपकात्मक व्याख्या भी सम्भव है। अवतार और ब्रह्म का सम्बन्ध मानो तरंग और समुद्र की तरह है।

७०५. सभी अवतार मूलत: एक ही हैं। वही एक ईश्वर मानो जल में डुबकी लगाकर एक स्थान पर कृष्ण के रूप में उदित हुआ और दूसरे स्थान पर ईसा के रूप में।

७०६. सच्चिदानन्द-वृक्ष पर गुच्छे के गुच्छे राम, कृष्ण आदि फले हुए हैं। समय- समय पर इनमें से एक-दो इस संसार में आकर कितनी बड़ी क्रान्ति कर जाते हैं।

७०७. अवतार ईश्वरीय ज्ञान और शक्ति लेकर ही जन्मग्रहण करते हैं। ज्ञान की निम्न से लेकर सर्वोच्च अवस्था तक सभी अवस्थाओं में वे संचरण कर सकते हैं। जैसे बाहर का आदमी राजमहल के बाहरी भाग तक ही जा सकता है परन्तु राजपुत्र महल में सर्वत्र स्वच्छन्द घूम सकता है।

७०८. अवतार-पुरुषों का 'मैं' बहुत सूक्ष्म होता है। इस 'मैं' के भीतर से ईश्वर को सदा ही देखा जा सकता है। जैसे एक जन दीवार के एक ओर खड़ा है और दीवार के दोनों ओर खुले हुए विस्तीर्ण मैदान हैं। दीवार में अगर एक छेद रहे तो उसमें से दूसरी ओर का सब कुछ स्पष्ट दिखाई पड़ता है। और छेद अगर कुछ बड़ा हो तो एक ओर से दूसरी ओर आना-जाना भी किया जा सकता है। अवतार-पुरुषों का 'मैं' इसी तरह छेद वाली दीवार है। दीवार के एक ओर रहने पर भी उन्हें दूसरी ओर का वह विस्तीर्ण मैदान दिखाई पड़ता है। इसका अर्थ यह है कि देह धारण करने पर भी वे सदा योग में रहते हैं। और इच्छा होने पर छेद से उस पार जा समाधिमग्न भी हो सकते हैं। छेद बड़ा हो तो वे बार-बार आना-जाना भी कर सकते हैं, यानी समाधिमग्न हो फिर नीचे उतर आ सकते हैं।

अवतारों को पहचानना कठिन है

७०९. अवतार को पहचान सकना बहुत कठिन है। यह मानो अनन्त का सान्त बनकर लीला करना है।

७१०. जब भगवान् श्रीरामचन्द्र अवतीर्ण हुए थे, तब केवल बारह ऋषियों ने उन्हें पहचाना था कि वे अवतार हैं। भगवान् जब अवतार ग्रहण करते हैं तब बहुत ही कम लोग उन्हें पहचान पाते हैं।

७११. साधु-महात्माओं को उनके निकट के आत्मीयगण उतना नहीं मानते, दूर के लोगों में ही उनका अधिक आदर होता है, इसका क्या कारण है? जादूगर का खेल देखने उसके घर के लोग नहीं जाया करते, पर दूर के लोग वह आश्चर्यचकित हो देखा करते हैं।

७१२. बजरबट्टू के बीज पेड़ के नीचे नहीं गिरते, वे उड़कर दूर जा गिरते हैं और वही उगते हैं। इसी तरह, महात्माओं के भाव दूर के देशों में ही अधिक प्रकाशित होते हैं और वहीं के लोग उनका आदर करते हैं।

७१३. दीपक के नीचे अँधेरा ही रहता है, उसका प्रकाश दूर में पड़ता है। साधु-महात्माओं को उनके पास के लोग नहीं समझ पाते; दूर के लोग उनके भाव से मुग्ध होते हैं।

७१४. हाथी के दाँत दो प्रकार के होते हैं – बाहर दिखाने के लिए एक प्रकार के और भीतर खाने के लिए दूसरे प्रकार के। इसी तरह, श्रीकृष्ण जैसे अवतारपुरुषों में दो प्रकार के भाव होते हैं। बाहर तो वे साधारण मनुष्य की तरह दिखाई देते हैं, पर भीतर से वे समस्त कर्म-कोलाहल से परे परम शान्त अवस्था में प्रतिष्ठित रहते हैं।

अवतार ईश्वर की ही अभिव्यक्ति है

७१५. ईश्वर अनन्त हैं, परन्तु उनकी इच्छा हो तो वे मनुष्य के रूप में अवतीर्ण हो सकते हैं। अवतार के भीतर से ही हम ईश्वर की प्रेम-भक्ति का आस्वादन कर सकते हैं। वे अवतार ग्रहण करते हैं, इसका अनुभव होना चाहिए। यह बात उपमा के द्वारा नहीं समझाई जा सकती। गाय के सींग,

पैर या पूँछ को छूने पर गाय को ही छूना हुआ। परन्तु हम लोगों के लिए तो दूध ही गाय का सार पदार्थ है। वह दूध गाय के थन से आता है। इसी तरह अवतार मानो गाय का थन है – ईश्वरीय प्रेम-भक्ति अवतार के ही भीतर से प्रकट होती है।

७१६. ईश्वर की सम्पूर्ण धारणा कौन कर सकता है? और इसकी आवश्यकता भी नहीं है। उनके प्रत्यक्ष दर्शन कर सकें तो वही काफी है। उनके अवतार को देखने से उन्हीं को देखना हुआ। यदि कोई गंगाजी में जाकर उसके जल का स्पर्श कर आए तो वह यही कहता है कि मैं गंगाजी के दर्शन-स्पर्शन कर आया। इसके लिए उसे हरिद्वार से गंगासागर तक समूची गंगा का स्पर्श नहीं करना पड़ता।

७१७. यदि ईश्वरतत्त्व को खोजना हो तो मनुष्य में खोजो। मनुष्य के ही भीतर वे सबसे अधिक प्रकाशित होते हैं। जिस मनुष्य के भीतर देखो कि प्रेम-भक्ति उमड़ रही है, जो ईश्वर के प्रेम में मतवाला हो गया है, उनके लिए पागल हो गया है, उस मनुष्य में निश्चित ही ईश्वर अवतीर्ण हुए हैं।

७१८. ईश्वर नित्य हैं; फिर वे लीला भी करते हैं – ईश्वरलीला, देवलीला, जगत्-लीला, नरलीला। नरलीला में वे अवतार बनकर आते हैं। नरलीला कैसी होती है जानते हो? जैसे परनाले के भीतर से होकर बड़ी छत का पानी धड़धड़ करते हुए नीचे गिरता है। उसी सच्चिदानन्द की शक्ति मानो परनाले के भीतर से आ रही है। अवतार को सब लोग नहीं पहचान सकते। रामचन्द्र को भरद्वाज आदि केवल सात ही ऋषियों ने अवतार के रूप में पहचाना था। ईश्वर मनुष्य को ज्ञान-भक्ति सिखाने के लिए नररूप धारण कर अवतीर्ण होते हैं।

७१९. सिद्ध पुरुष कैसा होता है? – जैसे किसी जगह पर कुआँ था, पर मिट्टी से पट गया था; सिद्ध पुरुष उसे फिर खोद निकालता है। परन्तु अवतार कैसा होता है – जहाँ कुआँ नहीं है, ऐसी जगह वह कुआँ खोद निकालता है। सिद्ध पुरुष मुमुक्षुजनों को ही मुक्ति दे सकते हैं परन्तु अवतार प्रेम-भक्तिरहित शुष्कहृदय व्यक्तियों का भी उद्धार करते हैं।

७२०. जब बाढ़ आती है तो उसका पानी नदी के आसपास के मैदान, नाले गढ़ैया सभी में होकर बहने लगता है; बरसात का पानी केवल नालियों से ही बहता है। जब अवतार-महापुरुष आते हैं उस समय उनकी कृपा से सभी तर जाते हैं, परन्तु सिद्ध पुरुष बड़ी मुश्किल से ईश्वरदर्शन कर स्वयं ही मुक्त हो पाता है।

७२१. जब लकड़ी का बड़ा भारी कुन्दा पानी पर बहता है तब उस पर चढ़कर कितने ही लोग आगे निकल जाते हैं, उनके वजन से वह डूबता नहीं। परन्तु सड़ियल लकड़ी पर एक कौआ भी बैठे तो वह डूब जाती है। इसी प्रकार जिस समय अवतार-महापुरुष आते हैं उस समय उनका आश्रय ग्रहण कर कितने लोग तर जाते हैं, परन्तु सिद्ध पुरुष काफी श्रम करके किसी तरह स्वयं तरता है।

७२२. बड़ा जहाज खुद भी आसानी से चला जाता है और साथ ही सामान से लदी बड़ी नावों और डोंगियों को भी खींच ले जाता है। इसी प्रकार अवतार-महापुरुष जब आते हैं तो अनायास ही बद्ध-जीवों को भवसागर के पार खींच ले जाते हैं।

७२३. रेल का इंजन खुद भी गन्तव्य को जाता है और अपने साथ माल से लदे कितने ही डिब्बों को खींच ले जाता है। उसी प्रकार, अवतार पाप के बोझ से लदे संसारासक्त जीवों को ईश्वर के निकट खींच ले जाते हैं।

७२४. दूसरे समय तो कुएँ में से पानी निकालना पड़ता है पर बरसात में जहाँ-तहाँ पानी मिल जाता है। इसी प्रकार, अन्य समय में अत्यन्त क्लेशपूर्वक साधन-भजन करने के पश्चात् ईश्वर के दर्शन होते हैं, परन्तु जिस समय अवतार आते हैं उस समय उनके दर्शन जहाँ-तहाँ मिलते हैं।

७२५. चारदीवारी से घिरी हुई एक जगह थी। उसके भीतर क्या है इसका बाहर के लोगों को कुछ भी पता नहीं था। एक दिन चार जनों ने मिलकर सलाह की कि निसेनी लगाकर चारदीवारी पर चढ़कर देखा जाए भीतर क्या है। पहला आदमी निसेनी के सहारे दीवार पर जैसे ही चढ़ा वैसे ही 'हा-हा' कर हँसते हुए चारदीवारी के भीतर कूद पड़ा। क्या हुआ समझ

न पाकर दूसरा आदमी भी दीवार पर चढ़ा और वह भी उसी प्रकार 'हा-हा' कर हँसते हुए भीतर कूद पड़ा। तीसरे आदमी का भी वही हाल हुआ। अन्त में चौथा आदमी चारदीवार पर चढ़ा। उसने देखा कि भीतर दिव्य उपभोग की वस्तुओं से भरा अपूर्व शोभामय एक उपवन है, उसके मन में उन सुन्दर वस्तुओं का उपभोग करने की तीव्र कामना उठी, पर उसने उसका दमन किया और दूसरों को भी साथ लेकर उसका आनन्द चखाने की इच्छा से वह नीचे वापस उतर आया तथा जो भी दिखाई पड़ता उसी को उस जगह के बारे में बताने लगा। ब्रह्मवस्तु भी इसी उपवन की तरह है। जो उसे एक बार देख लेता है वही आनन्दमग्न होकर उसमें विलीन हो जाता है। परन्तु जो विशेष शक्तिमान् महापुरुष होते हैं वे ब्रह्मदर्शन के पश्चात् वापस आकर लोगों को उसकी खबर बताते हैं और दूसरों को साथ लेकर उस ब्रह्मानन्द में निमग्न होते हैं।

७२६. एक तरह का अनारदाना होता है, जो जलते समय थोड़ी देर एक प्रकार की फुलझड़ियाँ बिखेरता है, फिर कुछ देर दूसरे प्रकार की; थोड़ी देर बाद उसमें से और एक किस्म के फूल झड़ने लगते हैं। इस प्रकार रंग-बिरंगी फुलझड़ियों का निकलना मानो बन्द ही नहीं होता। यह ईश्वरकोटि अवतार आदि का दृष्टान्त है। एक दूसरे किस्म का अनार होता है जो आग लगते ही थोड़ासा जलकर भुस्स से फूट जाता है। इसी प्रकार जीवकोटि के साधकों को बहुत साधना करने के पश्चात् किसी तरह समाधि तो हो जाती है, परन्तु समाधि के बाद वे लौट नहीं पाते।

७२७. प्रश्न – भगवान् मनुष्य रूप में अवतार क्यों लेते हैं?

उत्तर – मानवों के सामने अपने दिव्य स्वरूप को पूर्णरूप से प्रकट करने के लिए वे नरदेह धारण करते हैं। नरदेह के भीतर से ही उनकी वाणी सुनी जा सकती है, उनकी लीला देखी जा सकती है। नरदेह के भीतर ही उनका लीलाविलास होता है, इसी के भीतर वे रसास्वादन करते हैं। साधु-भक्तों में उनका थोड़ा-थोड़ा प्रकाश रहता है, जैसे फूल को चूसते चूसते थोड़ासा मधु मिलता है।

७२८. अवतार के लिए कुछ भी कठिन नहीं। जीवन की जटिल और गूढ़ समस्याओं को इतनी सरलता से हल कर देते हैं कि एक बच्चा भी उसे समझ ले। वे ज्ञानसूर्य हैं। उनके प्रकाश से युगों का संचित अज्ञान-अन्धकार दूर हो जाता है।

७२९. कभी-कभी आकाश में सूर्यास्त होने के पहले ही चन्द्र का उदय हो जाता है और उस समय सूर्य और चन्द्र का सम्मिलित प्रकाश दिखाई देता है। इसी तरह चैतन्यदेव जैसे कुछ अवतारों में एकाधार में ज्ञानसूर्य और भक्तिचन्द्र दोनों का समान रूप से प्रकाश दिखाई देता है। एक ही आधार में ज्ञान तथा भक्ति दोनों का प्रकाशित होना अत्यन्त दुर्लभ घटना है।

७३०. पवित्रहृदय भगवद्भक्तों के लिए ही भगवान् नरदेह धारण कर प्रकट होते हैं।

७३१. अवतारों के साथ जो आते हैं, वे या तो नित्यसिद्ध होते हैं, या वह उनका अन्तिम जन्म होता है।

□□□

अध्याय १६

ज्ञान, भक्ति तथा कर्म

(१) ज्ञानमार्ग

ज्ञानयोग क्या है?

७३२. ज्ञानयोग है ज्ञान के द्वारा ईश्वर के साथ युक्त होने का उपाय। ज्ञानयोग में ज्ञानी साधक ब्रह्म को जानना चाहता है। वह 'नेति' 'नेति' विचार करते हुए एक-एक करके मिथ्या वस्तुओं का त्याग करता जाता है। जहाँ विचार समाप्त हो जाता है, वहाँ समाधि होती है, ब्रह्मज्ञान होता है।

७३३. चोर घर में घुसकर अँधेरे में वस्तुओं को टटोलता है। मेज पर हाथ रखा, 'यह नहीं' कहकर छोड़ दिया। फिर शायद कुर्सी पर हाथ रखा, उसे भी 'यह नहीं' कहकर छोड़ दिया। इस तरह 'यह नहीं' 'यह नहीं' ('नेति' 'नेति') करते हुए एक के बाद एक वस्तुओं की छानबीन करते करते अन्त में उसका हाथ तिजोरीवाली पेटी पर पड़ जाता है। तब वह 'यह है!' ('इति') कह उठता है, और वहीं उसकी खोज समाप्त हो जाती है। ब्रह्म का अनुसन्धान भी इसी प्रकार है।

७३४. मैंने देखा है कि विचार के द्वारा जो ज्ञान होता है वह एक किस्म का है और ध्यान के द्वारा जो ज्ञान होता है वह और एक किस्म का; फिर उनके साक्षात्कार से जो होता है वह कुछ और ही है!

७३५. सब का ज्ञान एक जैसा नहीं होता, व्यक्ति-व्यक्ति के ज्ञान में तारतम्य होता है। संसारी जीवों का ज्ञान इतना तेज नहीं होता। वह मानो

दीपक का प्रकाश है, उसके द्वारा सिर्फ कमरे में ही उजाला होता है। भक्त का ज्ञान मानो चाँदनी है, उससे भीतर और बाहर दोनों दिखाई पड़ता है। परन्तु अवतार आदि का ज्ञान मानो सूर्य का प्रकाश है। वे मानो ज्ञानसूर्य हैं, उनके प्रकाश से युगों का संचित अज्ञानान्धकार दूर हो जाता है।

ज्ञानयोग की प्रणाली

७३६. मनुष्य स्वयं को पहचानने से भगवान् को पहचान सकता है। 'मैं' कौन है? हाथ, पैर, रक्त, मांस – इनमें से 'मैं' कौन है? इस तरह भलीभाँति विचार करने पर दिखाई देता है कि 'मैं' नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। जिस प्रकार प्याज का छिलका अलग करते जाओ तो छिलका ही छिलका निकलता जाता है, सार भाग कुछ मिलता ही नहीं, उसी प्रकार विचार करने पर 'मैं'पन के नाम से कुछ भी नहीं मिलता। अन्त में जो बचता है वही आत्मा या चैतन्य है। 'मैं' 'मेरा' के दूर हो जाने पर भगवान् दर्शन देते हैं।

७३७. जब तक भगवान् 'वहाँ वहाँ' (अर्थात् दूर या बाहर) हैं तब तक अज्ञान है; जब वे 'यहाँ यहाँ' (अर्थात् अन्तर में) हैं तभी ज्ञान है।

७३८. श्रीरामकृष्ण अपनी छाती पर हाथ रखकर कहा करते – "जिसके लिए भगवान् यहाँ (अर्थात् हृदय में) हैं उसके लिए वहाँ (अर्थात् बाहर) भी हैं। जिसके लिए वे यहाँ नहीं हैं, उसके लिए वहाँ भी नहीं हैं। जो उन्हें अपने हृदय-मन्दिर में देखता है वह उन्हें जगत्-मन्दिर में भी देखता है।"

७३९. एक आदमी आधी रात को उठा और तमाखू पीने की इच्छा से टिकिया सुलगाने के लिए पड़ोसी के घर जाकर दरवाजा खटखटाने लगा। घर में सभी लोग सो गए थे। काफी देर बाद एक व्यक्ति ने दरवाजा खोला और पूछा, "क्यों जी, क्या बात है?" इस आदमी ने कहा, "तमाखू पीना है। टिकिया सुलगाने के लिए थोड़ी अंगार चाहिए थी।" तब पड़ोसी ने कहा, "तुम भी बड़े अज़ीब हो! अंगार के लिए आधी रात को इतनी तकलीफ उठाकर तुम यहाँ आए, इतना दरवाजा खटखटाया, पर तुम्हारे तो हाथ ही

में लालटेन जल रही है!'' मनुष्य जो पाना चाहता है वह उसके पास ही है, फिर भी वह उसके लिए नाना जगह भटकता फिरता है।

७४०. विचार दो प्रकार का होता है – अनुलोम और विलोम। अनुलोम मार्ग से विचार करते हुए मनुष्य सृष्टि से सृष्टिकर्ता में, कार्य से कारण में जा पहुँचता है फिर विलोम मार्ग से विचार शुरू होता है। ईश्वर को प्राप्त कर लेने के बाद मनुष्य देखता है कि सृष्टि के सभी क्रिया-कलापों में सर्वत्र वे ही प्रकाशित हैं। एक है विश्लेषणात्मक और दूसरा संश्लेषणात्मक – 'नेति-नेति' और 'इति-इति'। पहला मानो केले के स्तम्भ के खोलों को निकालते निकालते माँझे तक आ पहुँचना है और दूसरा, माँझे पर एक के बाद एक खोल की परतें चढ़ाते हुए स्तम्भ तक आना।

७४१. ज्ञान एकत्व की ओर ले जाता है, अज्ञान नानात्व की ओर।

७४२. श्रीरामकृष्ण के एक युवक भक्त एक समय वेदान्तशास्त्रों के अध्ययन में अत्यधिक निमग्न हो गए थे। एक दिन उनसे भेंट होने पर श्रीरामकृष्ण ने कहा, ''क्यों जी, सुना कि तुम आजकल खूब वेदान्त-विचार में लगे हो। बहुत अच्छा। परन्तु सब विचार का उद्देश्य तो केवल यही है न कि 'ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या' इस सिद्धान्त पर पहुँचना! या और कुछ!'' युवक भक्त ने श्रीरामकृष्ण के इस कथन का समर्थन किया। उनके इन शब्दों ने मानो वेदान्त पर एक अभिनव प्रकाश डाला। सुनकर भक्त का मन विस्मय से भर गया। उन्होंने विचार किया – 'सचमुच, हृदय में केवल इतनी ही धारणा हो गई तो सम्पूर्ण वेदान्त का ही ज्ञान हो गया!' श्रीरामकृष्ण कहने लगे – ''श्रवण, मनन, निदिध्यासन। 'ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या' इस सत्य को पहले सुना; फिर मनन यानी विचार करते हुए उसे मन में दृढ़ किया; इसके बाद निदिध्यासन अर्थात् मिथ्या वस्तु – जगत– का त्याग कर सत्य वस्तु ब्रह्म के ध्यान में मन को निमग्न किया। यही वेदान्त-साधना का क्रम है। परन्तु इसके विपरीत अगर इस सत्य को सुना, समझा, पर मिथ्या वस्तु को त्यागने का प्रयत्न नहीं किया, तो इससे क्या फायदा? इस प्रकार का ज्ञान तो संसारासक्त लोगों के ज्ञान की तरह है, ऐसे ज्ञान से वस्तुलाभ नहीं

होता। पक्की धारणा चाहिए, त्याग चाहिए – तभी तो होगा! नहीं तो, मुँह से तो कह रहे हो 'काँटा नहीं है' पर हाथ लगाते ही काँटा चुभता है और 'उफ' कर उठते हो। मुँह से तो कह रहे हो, 'जगत् है ही नहीं, असत् है,– एकमात्र ब्रह्म ही है' आदि, परन्तु जैसे ही जगत् के रूप-रसादि भोग विषय सामने आते हैं कि उन्हें सत्य मानकर बन्धन में पड़ जाते हो! पंचवटी में एक बार एक साधु आया था। वह लोगों के सामने खूब वेदान्तचर्चा करता। एक दिन सुना कि किसी औरत के साथ उसका कुछ अनैतिक सम्बन्ध हुआ है। फिर शौच के लिए उस ओर जाते समय देखा कि वह बैठा हुआ है। मैंने कहा, 'क्यों जी, तुम इतनी वेदान्त की बातें करते हो, पर यह सब क्या हो रहा है?' वह बोला, 'उसमें क्या है? मैं तुम्हे समझाए देता हूँ कि इसमें कोई दोष नहीं है। संसार जब तीन काल में झूठ ही है, तब क्या केवल यही बात सच होगी? – यह भी झूठ ही है!' सुनकर मैं चिढ़कर बोला, 'तेरे ऐसे वेदान्तज्ञान पर मैं थुक दूँ!' यह सब संसारी, विषयासक्त लोगों का ज्ञान है, इसे ज्ञान नहीं कहा जा सकता।''

ज्ञानयोग की कठिनाइयाँ

७४३. इस कलियुग में ज्ञानयोग बहुत कठिन है। एक तो जीव अन्नगतप्राण है (– उसका जीवन पूरी तरह से अन्न पर ही निर्भर है), दूसरे, आयु भी बहुत कम है। फिर देहात्म-बुद्धि किसी भी हालत में नहीं जाना चाहती। ज्ञानी का बोध तो यह होना चाहिए कि 'मैं वही ब्रह्म हूँ – नित्य, निर्विशेष। मैं देह नहीं हूँ, मैं क्षुधा-तृष्णा, रोग-शोक, जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख आदि सभी देहधर्मों से परे हूँ।' अगर रोग-शोक, आदि शारीरिक धर्मों का बोध रहे तो फिर वह ज्ञानी कैसा? इधर तो काँटा लगकर हाथ कट गया है, धर धर खून बह रहा है, तकलीफ हो रही है, और उधर मुँह से कह रहा है, 'मेरा हाथ कहाँ कटा है? मुझे तो कुछ भी नहीं हुआ!' सिर्फ इस तरह बकने से क्या होनेवाला है! पहले देहात्मबोध का काँटा ज्ञानाग्नि में जलकर खाक हो जाना चाहिए।

७४४. ज्ञानलाभ के अधिकारी बहुत ही कम लोग हैं। गीता में कहा है – हजारों लोगों में से कोई एक जन उन्हें जानने की इच्छा रखता है; फिर जो उन्हें जानने की इच्छा रखते हैं ऐसे हजारों लोगों में से कोई एक उन्हें जान पाता है। संसार के प्रति आसक्ति जितनी कम होगी, ज्ञान उतना ही बढ़ेगा।

७४५. ज्ञानयोगी कहता है 'सोऽहं'। परन्तु जब तक देहात्मबुद्धि है तब तक यह 'सोऽहं'भाव हानिकारक है। इससे प्रगति नहीं होती, पतन ही होता है। ऐसा व्यक्ति स्वयं को तथा औरों को धोखा देता है।

७४६. एक दिन रामचन्द्र नाम का एक जटाजूटधारी ब्रह्मचारी दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण के दर्शन करने आया। वहाँ बैठकर वह दूसरी कोई बातचीत न कर केवल 'शिवोऽहम्' 'शिवोऽहम्' करने लगा। श्रीरामकृष्ण थोड़ी देर चुपचाप देखते रहे, फिर बोल उठे, "सिर्फ शिवोऽहम्' 'शिवोऽहम्' करने से क्या होगा? जब उस सच्चिदानन्द शिव का हृदय में ध्यान करते हुए अपने शिवस्वरूप का बोध होता है तभी 'शिवोऽहम्' कहा जा सकता है। नहीं तो सिर्फ मुँह में यह रटने से क्या होनेवाला? जब तक यह प्रत्यक्ष बोध नहीं हो जाता, तब तक सेव्य-सेवक भाव में ही रहना अच्छा है।" श्रीरामकृष्ण के इस तरह के अनेक उपदेशों को सुनकर उस ब्रह्मचारी को सुध आई और वह अपना भ्रम समझ गया। जाते समय वह दीवार पर लिख गया, "स्वामी के वचन से आज से रामचन्द्र ब्रह्मचारी सेव्य-सेवक भाव को प्राप्त हुआ।"

(२) भक्तिमार्ग

भक्ति तथा उसकी प्राप्ति के उपाय

७४७. सादे काँच पर फोटो नहीं उतरती, परन्तु काँच पर रसायन लगा होने पर फोटो खींची जा सकती है। इसी तरह, हृदय में भक्तिरसायन लगा हो तो ही उस पर ईश्वरीय तत्त्वों की छाप पड़ सकती है।

७४८. भगवान् के प्रति प्रेम अति दुर्लभ वस्तु है। सती स्त्री की अपने पति में जिस प्रकार की निष्ठा होती है उस प्रकार की निष्ठा यदि ईश्वर में हो, तो ही भक्ति उदित हो सकती है। शुद्धभक्ति प्राप्त होना बड़ा कठिन है। भक्ति में मन-प्राण ईश्वर में विलीन हो जाते हैं। इसके बाद आता है भाव। भाव होने पर मनुष्य निर्वाक् निःस्तब्ध हो जाता है, वायु स्थिर होकर अपने आप कुम्भक हो जाता है। जैसे बन्दुक चलाते समय बन्दूक चलानेवाला वाक्शून्य हो जाता है और उसका श्वासोच्छ्‌वास स्थिर हो जाता है।

७४९. विषयासक्ति जितनी कम होगी, ईश्वर के प्रति भक्ति उतनी ही बढ़ेगी।

७५०. ये सब (संसारी) उड़द की दाल के ग्राहक हैं। (– विषयसुखेच्छु हैं)। शुद्ध आधार न हो तो ईश्वर के प्रति शुद्ध भक्ति नहीं होती, एक लक्ष्य नहीं होता, मन नाना दिशाओं में भटकता है।

७५१. 'घोड़े की आँखों में दोनो ओर से आड़ लगाए बिना घोड़ा क्या कभी आगे बढ़ता है? रिपुओं को वश में लाए बिना क्या कभी ईश्वर प्राप्त हो सकते हैं?' इसे विचार-मार्ग– ज्ञानयोग – कहते हैं। इस रास्ते से भी ईश्वरप्राप्ति होती है। ज्ञानमार्गी कहते हैं, 'पहले चित्त शुद्ध होना चाहिए; पहले साधना चाहिए, तभी ज्ञानलाभ होता है।' और एक मार्ग है– भक्तिमार्ग। इस मार्ग से भी ईश्वर मिलते हैं। एक बार यदि ईश्वर के चरणकमलों में भक्ति हो जाए, उनका नाम लेने में आनन्द आने लगे तो फिर प्रयत्नपूर्वक इन्द्रिय-संयम करने की आवश्यकता ही कहाँ रह जाती है? तब तो रिपु अपने आप वश में आ जाते हैं। अगर किसी को पुत्रशोक हुआ हो तो क्या वह उस दिन किसी से झगड़ सकता है? – या निमन्त्रण में भोजन करने जा सकता है? क्या उस दिन वह लोगों के सामने गर्व कर सकता है? – या इन्द्रियसुख भोग सकता है? जो व्यक्ति भगवत्प्रेम में मग्न हो गया है वह विषयसुख का चिन्तन नहीं कर सकता।

७५२. श्रीमती (राधा) जैसे जैसे श्रीकृष्ण के निकट अग्रसर होतीं, वैसे वैसे उन्हें श्रीकृष्ण की देह की सुगन्ध का अनुभव होता। साधक ईश्वर

के जितने समीप जाता है, उसमें उतनी ही भावभक्ति का उदय होता है। नदी सागर के जितने निकट जाती है, उसमें ज्वार-भाटा उतना ही अधिक दिखाई देने लगता है।

७५३. एक बार श्रीरामकृष्णदेव ने उपासना के प्रसंग में केशव तथा उनके ब्राह्म अनुयायियों से कहा था :– "तुम लोग ईश्वर के सम्बन्ध में इतना अधिक क्यों कहा करते हो? क्या पुत्र अपने पिता के सम्मुख होकर बैठकर यही सोचा करते हैं कि मेरे बाबूजी के कितने मकान हैं, कितने घोड़े, कितनी गायें हैं, कितने बाग-बगीचे हैं? या, पिताजी उसके कितने अपने हैं, वे उसे कितना प्यार करते हैं यह सोचकर मुग्ध होता है? बाप अपने बेटे को खाने-पहनने को दे, सुख-चैन में रखे तो इसमें खास क्या है? हम लोग सभी उसकी सन्तान हैं, अतएव वे हमारे प्रति इस प्रकार का सदय बर्ताव करेंगे ही, इसमें आश्चर्य क्या है? इसलिए जो यथार्थ भक्त होता है वह इन सब बातों को न सोच उन्हें अपना मानकर उनसे हठ करता है, मान करता है, जोर के साथ उनसे कहता है, 'तुम्हें मेरी प्रार्थना पूरी करनी ही पड़ेगी, मुझे दर्शन देने ही होंगे।' उनके ऐश्वर्य का इतना अधिक विचार करने से उन्हें अपने निकट आत्मीय के रूप में नहीं सोचा जा सकता, उन पर जोर नहीं चलाया जा सकता। तब, वे कितने महान् हैं, हमसे कितनी दूर हैं, – इस तरह का भाव आ जाता है। उन्हें खूब अपना मानो तभी तो उन्हें पा सकोगे।"

७५४. किसी एक भाव को पक्का पकड़कर उसके सहारे ईश्वर को अपना बना लेना होगा तभी न उनके ऊपर जोर चल सकेगा! देखो न, पहले-पहल जब नई पहचान होती है तब लोग 'आप-आप' कहा करते हैं; पर ज्योंही पहचान बढ़ी कि 'तुम-तुम' शुरू हो जाता है, फिर और 'आप-आप' मुँह से नहीं निकलता; और सम्बन्ध जब अधिक घनिष्ठ हो जाता है तो 'तुम' से भी काम नहीं चलता, तब तो 'तू-तू' आ जाता है! ईश्वर को अपने से भी अपना बना लेना होगा, तभी तो होगा। जैसे, बदचलन औरत जब पहले-पहल पराए पुरुष से प्रेम करने लगती है तब कितना लुकाती-छिपाती

है, कितना डरती-सहमती और लजाती है; पर जब प्रीत बढ़ उठती है तब यह सब कुछ नहीं रह जाता! तब सीधे उसका हाथ पकड़कर सब के सामने कुल छोड़कर बाहर आ खड़ी होती है! फिर यदि वह आदमी उसकी भलीभाँति देखभाल न करे, या उसे छोड़ देना चाहे, तो वह उसका गला पकड़कर खींचते हुए कहती है, 'तेरे लिए मैं घरबार छोड़कर रास्ते पर आ खड़ी हुई, अब तू मुझे खाने को रोटी देगा या नहीं बोल।' इसी प्रकार, जिसने भगवान् के लिए सब कुछ छोड़ दिया है, उनको अपना बना लिया है, वह उन पर जोर लगाकर कह सकता है, 'तेरे लिए मैंने सब कुछ छोड़ा, अब मुझे दर्शन देगा कि नहीं बोल!'

भक्ति तथा जागतिक प्रेम

७५५. ज. की माता जब बूढ़ी हो गई तो उसने सोचा कि अब घर-गृहस्थी से छुट्टी लेकर वृन्दावन जाकर जीवनसन्ध्या वहीं शान्ति से बिताई जाए। उसने श्रीरामकृष्ण के सामने अपनी यह इच्छा व्यक्त की। परन्तु श्रीरामकृष्ण उसके मन की स्थिति को भलीभाँति जानते थे। उन्होंने उसके प्रस्ताव को सम्मति न देते हुए कहा, "तुम्हें अपने नातिन से बहुत प्यार है। तुम जहाँ भी जाओ, नातिन की याद तुम्हें बेचैन किया करेगी। तुम चाहो तो वृन्दावन जाकर रह सकती हो, पर तुम्हारा मन सदा घर ही के ऊपर पड़ा रहेगा। इसके बजाय अगर तुम अपनी नातिन को श्रीराधिकाजी की दृष्टि से देखते हुए प्रेम करने लगो तो वृन्दावनवास का सारा पुण्य तुम्हें घर बैठे अपने-आप प्राप्त होगा। उसका चाहे जितना लाड़-दुलार करो, जी भरकर खिलाओ-पिलाओ; पर मन में सदा यही भाव रखो कि तुम वृन्दावनाधीश्वरी राधिका की पूजासेवा कर रही हो।"

७५६. किसी भक्त को एक आत्मीय पर अत्यधिक आसक्ति के कारण मन को स्थिर करने में असमर्थ देख श्रीरामकृष्ण ने उसे अपने प्रेमपात्र को ईश्वर का ही रूप मानते हुए भगवद्भाव से उसकी सेवा करने का उपदेश दिया। इस विषय को समझाते हुए कभी-कभी श्रीरामकृष्ण पण्डित वैष्णवचरण

के ऐसे ही दृष्टिकोण का उल्लेख करते हुए कहते, "वैष्णवचरण कहता था, 'यदि अपने प्रेमास्पद को इष्टदेवता के रूप में देखा जाए, तो मन बड़ी सरलता से भगवान् की ओर चला जाता है।' "

भक्ति का परिणाम

७५७. एक भक्त – क्या पहले विवेक-विचार के द्वारा इन्द्रियों को वशीभूत करने की आवश्यकता नहीं है?

श्रीरामकृष्ण – हाँ, वह भी एक मार्ग है – विचार-मार्ग। भक्तिमार्ग में इन्द्रियसंयम अपने आप, बड़ी सरलता से हो जाता है। ईश्वर के प्रति प्रेम जितना अधिक बढ़ता है, इन्द्रियसुख उतने ही नीरस लगने लगते हैं। जैसे जिस दिन पुत्र मर जाता है उस दिन माता-पिता भोगसुख की बात सोच तक नहीं सकते।

७५८. सन्ध्या-आह्निक आदि साधनाओं की आवश्यकता तभी तक है जब तक एक बार हरिनाम सुनते ही आँखों से प्रेमाश्रु की धारा न बहने लगे। भगवान् का नाम केवल सुनते ही जिसका हृदय व्याकुल होकर रोने लगे उसके लिए साधनाओं की कोई आवश्यकता नहीं।

७५९. किसी गीत में कवि ने ईश्वरानुराग को बाघ की उपमा देते हुए कहा है, 'अनुराग बाघ'। जिस प्रकार बाघ अन्य जानवरों को गपागप खा जाता है, उसी प्रकार 'अनुरागरूपी बाघ' भी काम, क्रोध आदि रिपुओं को खा जाता है। एक बार यदि ईश्वर के प्रति अनुराग जग जाए तो काम-क्रोधादि रिपु बिलकुल नष्ट हो जाते हैं। कृष्ण के प्रति अनुराग के बल पर गोपियों को यह उच्च अवस्था प्राप्त हुई थी।

७६०. फिर 'अनुराग-अंजन' की भी बात कही है। श्रीमती राधिका ने एक बार कहा, "सखियों, मैं चारों दिशाएँ कृष्णमय देख रही हूँ!" इस पर सखियों ने कहा, "सखी, तुमने आँखों में अनुराग-अंजन चढ़ाया है, इसीलिए ऐसा देख रही हो।"

७६१. प्रश्न – भगवान् के लिए भक्त सब कुछ क्यों छोड़ देता है?

उत्तर – एक बार दीपक को देखने पर पतंग फिर अँधेरे में नहीं जाता;

चीटीं गुड़ में लिपटकर प्राण खो देती है, पर उसे नहीं छोड़ती। इसी तरह भक्त भी ईश्वर के लिए प्राणों की बाजी लगा देता है, परन्तु दूसरा कुछ नहीं चाहता।

७६२. श्रीरामकृष्ण – पतिंगा अगर एक बार उजाला देख ले तो फिर क्या वह अँधेरे में रह सकता है?

डाक्टर (सहास्य) – भले ही जल जाए, पर उजाला नहीं छोड़ेगा।

श्रीरामकृष्ण – पर भक्त ऐसे कीड़े की तरह जलकर नहीं मरते। भक्त जिस उजाले के पीछे दौड़ते हैं वह मणि का उजाला है। वह बहुत उज्ज्वल तो है, पर स्निग्ध और शीतल है। इस उजाले से शरीर जलता नहीं। यह तो हृदय को शान्ति और आनन्द से भर देता है।

७६३. जो यथार्थ मार्ग नहीं जानता, परन्तु जिसकी ईश्वर पर भक्ति है और उन्हें जानने की तीव्र इच्छा है, वह केवल भक्ति के बल पर ही ईश्वर को प्राप्त कर लेता है। एक आदमी बड़ा भक्तिमान् था। एक बार वह जगन्नाथजी के दर्शन करने के लिए निकला। पर वह पुरीधाम का रास्ता नहीं जानता – इससे वह पुरी की ओर न जाकर भटकते हुए दूर पश्चिम की ओर चला गया। वह व्याकुल होकर लोगों से राह पूछने लगा। लोगों ने उससे कहा, 'यह रास्ता नहीं, उस रास्ते से जाओ।' अन्त में वह भक्त पुरी जा पहुँचा और उसने जगन्नाथजी के दर्शन किए। देखो, अगर इच्छा हो तो राह न जानने पर भी कोई न कोई बतला ही देता है। पहले भूल हो सकती है, पर अन्त में सही रास्ता मिल ही जाता है।

७६४. अनुराग हो तो विवेक, वैराग्य, जीवों के प्रति दया, साधुसेवा, सत्संग, ईश्वर की महिमा का गुणगान, सत्यवचन इत्यादि सद्गुणों का उदय होता है।

७६५. ईश्वरदर्शन होने के कुछ निश्चित लक्षण होते हैं। यदि किसी में अनुराग-जनित सद्गुणों को प्रकाशित होते देखो तो निश्चय जानना कि उसे ईश्वरदर्शन होने में देर नहीं।

७६६. जिस प्रकार समुद्र के भीतर छिपा हुआ चुम्बक का पहाड़ अपने ऊपर से किसी के जहाज के गुजरते ही तुरन्त उसे खींच, उसके कल-पुर्जों

को ढीला कर, पटियों को अलग-अलग कर पानी में डुबो देता है, उसी प्रकार ईश्वररूपी चुम्बक का आकर्षण होने पर वह मनुष्य के अहंकार और स्वार्थ से पूर्ण जीवन को क्षण भर में तोड़-फोड़कर ईश्वर के प्रेमसागर में डुबो देता है।

भक्ति के विविध सोपान और पहलू

७६७. प्रेम-प्रीति के तीन प्रकार हैं - समर्था, समंजसा और साधारणी। समर्था प्रीति सब से उच्च कोटि की है। इसमें प्रेमिका केवल प्रेमास्पद का ही सुख चाहती है, इसके लिए चाहे उसे स्वयं को कष्ट ही क्यों न भोगना पड़े। समंजसा प्रीति मध्यम कोटि की है। इसमें प्रेमिका प्रेमास्पद के सुख के साथ स्वयं का भी सुख चाहती है। साधारणी प्रीति सब से निम्न कोटि की है। इसमें वह केवल अपना ही सुख चाहती है, प्रेमास्पद के सुख:दु:ख की कोई परवाह नहीं करती।

७६८. जिस प्रकार संसारियों के बीच सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण पाए जाते हैं उसी प्रकार भक्ति में भी सत्त्व, रज, तम तीनों गुण हैं।

जिसमें सात्त्विक भक्ति होती है वह ध्यान-भजन एकान्त में अत्यन्त गुप्त रूप से करता है। शायद वह मच्छरदानी के अन्दर ही ध्यान करता है – सब को लगता है कि ये सोए हैं, रात को नींद अच्छी नहीं हुई होगी, इसी से उठने में देर लग रही है। देह के प्रति इतना ही ख्याल रहता है कि किसी तरह पेट भर जाए – सागभात मिला कि बहुत हो गया। उसमें किसी बात का आडम्बर नहीं है – न खाने-पीने का, न पोशाक का। घर में साज-सजावट का जमघट नहीं। ऐसा भक्त धन के लिए कभी किसी की खुशामद नहीं करता।

जिसमें राजसिक भक्ति होती है वह खूब तिलक-चन्दन लगाएगा, रुद्राक्ष की माला पहनेगा, माला में जगह-जगह पर सोने के मनके लगे होंगे। जब पूजा करेगा तो कोसे का वस्त्र पहनेगा, बड़े ठाट से पूजा करेगा।

जिसमें तामसिक भक्ति है उसका विश्वास ज्वलन्त होता है। जिस प्रकार

डकैत जबरदस्ती धन छीन लेता है, उसी प्रकार वह भी भगवान् पर जोर-जबरदस्ती करता है। कहता है, "क्या! मैंने भगवान् का नाम लिया है, फिर भी मुझमें पाप है! मैं उनकी सन्तान हूँ! उनके ऐश्वर्य का अधिकारी हूँ!" उसमें ऐसा तेज होता है।

७६९. प्रश्न – भक्ति का तामसिक रूप क्या है?

उत्तर – ऊँचे स्वर से 'जय काली' 'जय काली' कहते हुए पागल हो जाना या 'हरि बोल' 'हरि बोल' चिल्लाते हुए दोनों हाथ उठाकर पागलों की तरह नाचना – यही भक्ति का तम है। इस कलियुग में ऐसी उग्र तामसी-भक्ति ही अधिक लाभदायक है। मन्द-मध्यम जप-ध्यान की बजाय इस तरह की तीव्र भक्ति से अधिक शीघ्र फल मिलता है। भक्ति की आँधी से ईश्वर के दुर्ग का प्राचीर टूट-फूट जाता है।

७७०. चित्तशुद्धि के लिए साधना का क्रम इस प्रकार है : (१) साधुसंग; (२) ईश्वरीय विषयों में श्रद्धा; (३) आदर्श के प्रति निष्ठा; (४) ईश्वर पर भक्ति-प्रेम; (५) भाव या ईश्वर में तन्मयता; (६) महाभाव – जब भाव परिपक्व हो जाता है तो महाभाव होता है। महाभाव में भक्त उन्मत्त की तरह कभी हँसता है तो कभी रोता है। वह देहबोध के पार चला जाता है, उसे शरीर की सुध नहीं रहती। यह अवस्था साधारण जीवों को नहीं होती – अवतार-महापुरुषों को ही होती है। (७) प्रेम – भगवद्भक्ति की सर्वोच्च अवस्था। यह महाभाव के बाद ही आती है। इसके दो लक्षण हैं – पहला, संसार का विस्मरण हो जाना; दूसरा, स्वयं की देह का विस्मरण हो जाना। इस अवस्था में भक्त को भगवान् के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं और इस प्रकार उसके जीवन का उद्देश्य सफल हो जाता है।

७७१. 'शास्त्र में ये सब कर्म करने का आदेश है, इसीलिए मैं ये सब कर रहा हूँ' – इस प्रकार की भक्ति को वैधी भक्ति कहा जाता है। और एक किस्म की भक्ति है – रागभक्ति। यह ईश्वर के प्रति अनुराग और प्रबल प्रेम से आती है – जैसी कि प्रह्लाद की थी। वह भक्ति यदि आ जाए तो फिर वैधी कर्मों की आवश्यकता नहीं रहती।

७७२. एक किस्म की भक्ति है, जिसका नाम है वैधी भक्ति। इतना जप करना होगा, इतने उपवास रखने होंगे, इतनी तीर्थयात्रा करनी होगी, इतने उपचारों से पूजा करनी होगी, इतने बलिदान देने होंगे – यह सब वैधी भक्ति है। यह सब करते करते धीरे-धीरे रागाभक्ति आती है। जब तक यह रागाभक्ति नहीं आती, तब तक ईश्वरलाभ नहीं होता। ईश्वर पर प्रेम होना चाहिए। जब संसारबुद्धि पूरी तरह निकल जाएगी, ईश्वर पर सोलहों आने मन आ जाएगा, तभी उनको पा सकोगे।

७७३. भक्ति दो प्रकार की है। पहली है वैधी भक्ति। इतने उपचारों से पूजा करनी होगी, इतना जप करना होगा, पुरश्चरण करना होगा, इत्यादि – यह सब वैधी भक्ति या शास्त्रविधानोक्त भक्ति है। इस वैधि भक्ति के परिपक्व होने पर शुद्ध भक्ति या ज्ञान का लाभ होकर समाधि होती है। समाधि में जीवात्मा का परमात्मा में लय हो जाता है। समाधि के बाद जीव वापस नहीं लौटता। पर यह बात जीवकोटि के सम्बन्ध में है। अवतार या ईश्वरकोटि की बात अलग है। उनकी भक्ति वैधी भक्ति नहीं, वह तो भीतर से स्रोत की तरह आती है। (चैतन्य महाप्रभु की तरह) अवतार तथा ईश्वरकोटि भक्तों में अनुलोम-विलोम दोनों भाव पाए जाते हैं। वे समाधि में भी जा सकते हैं और फिर उतरकर ईश्वर के साथ दास्य, वात्सल्य या अन्य कोई भावसम्बन्ध स्थापित कर भक्ति का आस्वादन भी कर सकते हैं। वे 'नेति' 'नेति' करते हुए एक के बाद एक-एक सीढ़ी को पार कर छत पर पहुँचते हैं। फिर वहाँ जाकर वे देखते हैं कि छत जिन ईंट, चूना, बालू आदि चीजों से बनी है, सीढ़ियाँ भी उन्हीं चीजों से बनी हैं। तब वे कभी छत पर रहते हैं तो कभी सीढ़ी से नीचे-ऊपर आना-जाना करते रहते हैं।

समाधि में अहं या जगत् का अत्यन्त अभाव होने पर ब्रह्मदर्शन होता है। तब दिखाई देता है कि ब्रह्म ही जीव-जगत् सब कुछ हुआ है।

प्रेम अथवा पराभक्ति

७७४. ईश्वरदर्शन हुए बिना प्रेम या पराभक्ति नहीं होती।

७७५. पारसी किताबों में है – चमड़ी के भीतर मांस है, मांस के भीतर हड्डी, हड्डी के भीतर मज्जा, फिर और भी बहुत कुछ है! इन सब के भीतर प्रेम है!

७७६. प्रेम के उत्पन्न हो जाने से मानो सच्चिदानन्द को बाँधने की डोर मिल जाती है। उन्हें देखने की इच्छा हुई कि डोर को पकड़ कर खींचा। जब पुकारो तभी पाओगे।

७७७. भक्ति के परिपक्व होने पर भाव होता है – भाव में साधक सच्चिदानन्द में मग्न होकर निर्वाक्-निःस्पन्द हो जाता है। इस भाव के भी परिपक्व होने पर महाभाव या प्रेम होता है। भाव मानो कच्चा आम है, और प्रेम पका हुआ।

७७८. नरकयातना के भय से भगवान् की पूजा-प्रार्थना करना – यह पहले पहल तो ठीक है। परन्तु कोई कोई पाप से बचने की भावना को ही धर्मजीवन का सब कुछ समझ बैठते हैं। वे भूल जाते हैं कि यह धर्मजीवन की प्रारम्भिक अवस्था की, निम्न स्तर की बात है, इससे ऊँचा आदर्श है – ईश्वर को अपने माता-पिता की तरह प्रेम करना।

७७९. पराभक्ति क्या है? पराभक्ति में साधक ईश्वर को अपने परम आत्मीय की तरह देखता है। श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों की भक्ति इसी प्रकार की थी। वे कृष्ण को गोपीनाथ कहती थीं – जगन्नाथ नहीं।

७८०. भक्त ईश्वर से प्रेम तो करता है पर क्यों करता है यह नहीं जानता। इसी को कहते हैं अहैतुकी भक्ति। यह यदि एक बार मिल जाय तो फिर कुछ भी बाकी नहीं रह जाता। ऐसा भक्त यही प्रार्थना करता है कि 'हे प्रभो, मैं धन, मान, देहसुख कुछ भी नहीं चाहता, मुझे केवल तुम्हारे पादपद्मों में शुद्धाभक्ति दो।'

७८१. प्रेम के दो लक्षण हैं – एक, बाह्य जगत् का विस्मरण हो जाना; दूसरा स्वयं की देह का विस्मृत हो जाना।

७८२. इस प्रेमाभक्ति में दो बातें हैं – 'अहंता' और 'ममता'। 'अहंता' यानी 'मैं'-पन। यशोदा सोचा करतीं, 'अगर मैं न देखूँ तो गोपाल की ओर

कौन देखेगा? ऐसे में गोपाल बीमार पड़ जाएगा।' कृष्ण के विषय में यशोदा को ईश्वर-बोध नहीं था। और 'ममता' यानी 'मेरा'-पन, –'मेरा गोपाल' यह भाव। उद्धव ने यशोदा से कहा, 'मैया! तुम्हारे कृष्ण साक्षात् भगवान् हैं, वे जगत्-चिन्तामणि हैं। वे साधारण नहीं।' इस पर यशोदा बोलीं, 'अजी, मैं तुम्हारे चिन्तामणि की बात नहीं करती, मैं पूछ रही हूँ कि मेरा गोपाल कैसा है! चिन्तामणि नहीं – मेरा गोपाल!'

७८३. प्रेमाभक्ति बहुत कम लोगों को होती है। चैतन्यदेव की तरह अवतारी तथा उच्च अधिकारसम्पन्न ईश्वरकोटि के महापुरुषों के लिए ही यह सम्भव है।

७८४. ऐसे अधिकारी बहुत ही कम होते है जिनमें बचपन से ही यह प्रेमाभक्ति दिखाई देती है। वे, प्रह्लाद की तरह, बचपन से ईश्वर के लिए व्याकुल होकर रोते हैं। ये नित्यसिद्ध होते हैं।

गोपियों का प्रेम

७८५. राधा-कृष्ण अवतार थे इस बात पर कोई विश्वास रखे या न रखे, इसमें कोई हर्ज नहीं। ईश्वर के नररूप धारण कर अवतार लेने पर कोई विश्वास रखे या न रखे, परन्तु ईश्वर के प्रति तीव्र अनुराग के लिए सभी को प्रयत्न करना चाहिए – यह अनुराग अत्यन्त आवश्यक है।

७८६. भक्त श्री 'म' से गोपियों के ईश्वरानुराग के बारे में चर्चा करते हुए श्रीरामकृष्ण ने कहा – "उनकी व्याकुलता कैसी अद्भुत थी! तमाल वृक्ष को देखते ही वे प्रेमोन्माद में निःस्पन्द हो गईं। (क्योंकि तमाल के कृष्णवर्ण को देखकर उन्हें श्रीकृष्ण का उद्दीपन हो गया।) श्रीगौरांग का भी यही हाल था। वन को देखकर वे उसे वृन्दावन समझ बैठे! ओह, यदि किसी को इस प्रेम का एक कण भी मिल जाए! कितना प्रेम था! गोपियों का प्रेम केवल किनारे तक ही नहीं भरा था, वह तो पूरा भरकर बाहर छलकता था।"

७८७. गोपियों की निष्ठा कितनी अपूर्व थी! मथुरा जाकर द्वारपाल से कितनी मिन्नतें करने के बाद वे सभा में प्रवेश कर पाईं। परन्तु द्वारपाल

की सहायता से सभा में जाकर जब उन्होंने राजवेश में साफा बाँधे हुए श्रीकृष्ण को देखा तो उन्होंने सर नीचा कर लिया और आपस में फुसफुसाने लगीं – "भला यह पगड़ीवाला कौन है! इसके साथ बातचीत कर अन्त में हम क्या द्विचारिणी बनें? हमारे वे पीतवसन, और मोरमुकुट धारण करनेवाले प्राणवल्लभ मोहन कहाँ हैं?" कितनी अद्भुत निष्ठा थी!

७८८. गोपियों की भक्ति है प्रेमाभक्ति, अव्यभिचारिणी भक्ति, निष्ठाभक्ति। व्यभिचारिणी भक्ति किसे कहते हैं जानते हो? वह है ज्ञानमिश्रा भक्ति। जैसे, श्रीकृष्ण ही सब कुछ बने हैं, वे ही परब्रह्म हैं, वे ही राम हैं, वे ही शिव हैं, शक्ति हैं। परन्तु प्रेमाभक्ति में यह ज्ञान मिश्रित नहीं है। द्वारका में आकर हनुमान् ने कहा, 'सिताराम के दर्शन करूँगा?' भगवान् कृष्ण ने रुक्मिणी से कहा, 'तुम सीता बनकर बैठो, नहीं तो हनुमान् के हाथों से छुटकारा नहीं मिलेगा।' पाण्डवों ने जब राजसूय यज्ञ किया तब सारे राजा युधिष्ठिर को सिंहासन पर बैठाकर प्रणाम करने लगे। पर विभीषण बोले, 'मैं एक नारायण को ही प्रणाम करूँगा, और किसी को नहीं।' तब भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं युधिष्ठिर को भूमिष्ठ हो प्रणाम करने लगे। तब तो विभीषण ने भी राजमुकुटसहित साष्टांग होकर युधिष्ठिर को प्रणाम किया।

विरह तथा महाभाव

७८९. ईश्वर-विरह की ज्वाला साधारण नहीं है। कहते हैं कि जब रूप सनातन* को यह अवस्था होती थी तब वे जिस पेड़ के नीचे होते थे उसके पत्ते झुलस जाते थे। मैं इस अवस्था में तीन दिन तक बेहोश पड़ा था। हिल-डुल नहीं सकता था। एक जगह पड़ा हुआ था। होश लौट आने पर ब्राह्मणी † मुझे पकड़कर स्नान करवाने ले गई। परन्तु हाथों से मेरे तप्त शरीर का स्पर्श करना सम्भव नहीं था। मेरे शरीर पर मोटी चादर ढक, उस

---

* श्रीचैतन्य के दो प्रमुख शिष्य। इन्होंने ही वृन्दावन में प्रसिद्ध गोविन्दजी के मन्दिर की प्रतिष्ठा की है।

† वह ब्राह्मणी साधिका जिन्होंने श्रीरामकृष्ण से तन्त्रसाधना करवाई थी।

पर से मुझे पकड़कर ब्राह्मणी ले गई थी। देह पर जो मिट्टी लगी थी वह तक झुलस गई थी।

जब वह अवस्था आती तब ऐसा लगता कि मानो कोई रीढ़ की हड्डी के बीच से हल चला रहा है। 'प्राण निकल गए' 'प्राण निकल गए' कहकर चिल्लाता था। पर उसके बाद अत्यन्त आनन्द होता था।

७९०. महाभाव अति उच्च ईश्वरीय भाव है। वह देह और मन में उथल-पुथल मचा देता है। मानो छोटीसी झोपड़ी में एक बड़ा हाथी घुस पड़ा हो, इससे झोपड़ी में उथल-पुथल मच जाती है, अक्सर झोपड़ी टूट-फूट जाती है।

(३) भक्ति तथा ज्ञान

भक्ति और ज्ञान का अन्तिम लक्ष्य एक ही है

७९१. शुद्ध ज्ञान तथा शुद्ध भक्ति दोनों एक ही हैं।

७९२. एक ही ईश्वर को वेदान्तवादी ब्रह्म कहते हैं, योगी आत्मा कहते हैं और भक्त भगवान् कहते हैं। एक ही ब्राह्मण जब पूजा करता है तो पुजारी कहलाता है और जब रसोई बनाता है तो रसोइया।

७९३. सर्वोच्च ज्ञान क्या है? ज्ञानी कहता है, "हे प्रभो, समस्त संसार में तुम्ही एकमात्र कर्ता हो। मैं तुम्हारे हाथों का एक क्षुद्र यन्त्र हूँ। मेरा कुछ भी नहीं – सब कुछ तुम्हारा है। मैं स्वयं, मेरा परिवार, मेरा धन, मेरे गुण – सब कुछ तुम्हारा है।

७९४. एक भक्त – यह कैसे जाना जाए कि संसार-आश्रम में रहते हुए भी अमुक व्यक्ति को ज्ञान प्राप्त हुआ है?

श्रीरामकृष्ण – जब एक बार हरिनाम सुनते ही किसी के नेत्रों से प्रेमाश्रु बहने लगें और देह में रोमांच हो जाए तो अवश्य जानना कि उसे ज्ञान प्राप्त हो गया है।

७९५. एक पौराणिक कथा है जिसमें ज्ञान और भक्ति का सुन्दर समन्वय दिखाई देता है। एक बार भगवान् श्रीरामचन्द्र ने भक्त हनुमान् से पूछा, "हनुमान्, तुम मुझे किस दृष्टि से देखते हो?" हनुमानजी बोले, "राम! जब मुझे 'मैं' का बोध रहता है, तब मैं देखता हूँ कि तुम पूर्ण हो, मैं अंश हूँ, तुम प्रभु हो, मैं दास हूँ; और राम! जब मुझ में तत्त्वज्ञान उदित होता है तब देखता हूँ, तुम्ही 'मैं' हो और मैं ही 'तुम' हूँ।"

७९६. तालाब के जल पर छाई हुई काई को हटा देने पर वे फिर आकर जल पर छा जाती हैं; पर यदि उन्हें हटाकर बाँस के घेरे बाँध दिए जाएँ तो फिर वे नहीं आ सकतीं। इसी प्रकार, माया को हटा देने से वह फिर आ खड़ी होती है; परन्तु यदि उसे हटाकर ज्ञान-भक्ति का घेरा बाँध दिया जाए तो फिर वह नहीं आ पाती। तभी भगवान् प्रकाशित होते हैं।

भक्ति ज्ञान की ओर ले जाती है

७९७. अद्वैतज्ञान श्रेष्ठ है, परन्तु शुरू में ईश्वर की सेव्यसेवक भाव से, उपास्य-उपासक भाव से आराधना करनी चाहिए। यह सब से सहज पथ है, इसी से आगे चलकर सरलता से अद्वैतज्ञान प्राप्त होता है।

७९८. यद्यपि अद्वैतज्ञान ही सर्वोच्च ज्ञान है, तथापि साधक को शुरू में उपास्य-उपासक भाव ("ईश्वर उपास्य हैं और मैं उनका उपासक हूँ" यह भाव) लेकर ही साधना करनी चाहिए। इससे सरलता से ज्ञानलाभ होता है।

७९९. पंचभूतों के फन्दे में पड़कर ब्रह्म को भी रोना पड़ता है। तुम आँख मूंदकर स्वयं को समझाते हुए बार-बार कह सकते हो, 'काँटा नहीं है, काँटा नहीं है।' पर ज्योंही तुम काँटे को हाथ लगाते हो त्योंही वह तुम्हें चुभ जाता है और तुम दर्द से 'उफ' करके हाथ खींच लेते हो। तुम मन को कितना भी क्यों न समझाओ कि तुम्हारे जन्म नहीं, मृत्यु नहीं; पाप नहीं, पुण्य नहीं; शोक नहीं, दुःख नहीं; क्षुधा नहीं, तृष्णा नहीं; तुम जन्मजरारहित, निर्विकार, सच्चिदाननन्दस्वरूप आत्मा हो, परन्तु ज्योंही रोग होकर देह अस्वस्थ हो जाती है, ज्योंही मन संसार में काम-कांचन के आपात

सुख के भुलावे में पड़कर कोई कुकर्म कर बैठता है, त्योंही मोह, यातना, दु:ख आ खड़े होते हैं और वे तुम्हारे सारे विवेक-विचार को भुलाकर तुम्हें बेचैन कर देते हैं।

इसलिए यह जान लो कि ईश्वर की कृपा हुए बिना, माया के द्वार छोड़े बिना किसी को आत्मज्ञान नहीं होता, दु:ख-कष्टों का अन्त नहीं होता। सुना नहीं, दुर्गासप्तशती में कहा है, **''सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये''*** जब तक जगज्जननी महामाया पथ के विघ्नों को हटा न दे तब तक कुछ नहीं हो पाता। ज्योंही महामाया की कृपा होती है त्योंही जीव को ईश्वरदर्शन होते हैं और वह समस्त दु:ख कष्टों के हाथ से छुटकारा पा जाता है। नहीं तो लाख विचार करो, कुछ भी नहीं होता। ऐसा कहते हैं कि अजवायन का एक दाना चावल के सौ दानों को पचा डालता है। पर जब पेट की बीमारी हो जाती है, तब सौ अजवायन के दाने भी एक चावल के दाने को हजम नहीं करा सकते। यह भी ऐसा ही जानना।

८००. ज्ञानयोगी, निर्गुण, निराकार, निर्विशेष ब्रह्म को जानना चाहता है। परन्तु इस युग के लिए भक्तियोग ही सहज मार्ग है। भक्तिभाव से ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिए, उनके पूर्ण शरणागत होना चाहिए। भगवान् भक्त की रक्षा करते हैं। और यदि भक्त चाहे तो भगवान् उसे ब्रह्मज्ञान भी देते हैं। साधारणत: भक्त ईश्वर का सगुण-साकार रूप ही देखना चाहता है। परन्तु इच्छामय ईश्वर यदि चाहें तो भक्त को सब ऐश्वर्यों का अधिकारी बनाते हैं, भक्ति भी देते हैं और ज्ञान भी। उसे भावसमाधि में रूपदर्शन भी होते हैं, और निर्विकल्प समाधि में निर्गुण स्वरूप के दर्शन भी। अगर कोई किसी तरह एक बार कलकत्ता आ पहुँचे तो उसे वहाँ का प्रसिद्ध किले का मैदान, मानुमेण्ट, अजायब घर सभी कुछ दिख सकता है।

८०१. प्रश्न – क्या भक्त को कभी भगवान् के साथ अद्वैतभाव प्राप्त होना सम्भव है? यदि हो तो किस प्रकार?

उत्तर – जीव को ईश्वर के साथ अभेदभाव प्राप्त होना सम्भव है, उस

---

* ''वह वरदानकारिणी देवी प्रसन्न होकर मनुष्यों को मुक्ति प्रदान करती है।''

अवस्था में वह 'सोऽहम्' ('मैं वही हूँ') कह सकता है। जैसे घर का बहुत पुराना नौकर परिवार के सदस्यों में ही गिना जाने लगता है और मालिक किसी दिन उसके किसी कार्य को देख उस पर अत्यन्त प्रसन्न हो उसका हाथ पकड़कर अपनी गद्दी पर बिठाते हुए सब से कह देता है, "आज से इसमें और मुझमें कोई अन्तर नहीं रहा। यह जो है, मैं भी वही हूँ। मेरे हुक्म की तरह इसका भी हुक्म तुम सब माना करो। जो इसके हुक्म को नहीं मानेगा उसे सजा मिलेगी। नौकर के लाज से सकुचाने पर भी मालिक जबरदस्ती उसे बिठाता है। जीव का सोऽहं-भाव भी इसी प्रकार है। बहुत समय तक उसकी सेवा और वन्दना से प्रसन्न हो ईश्वर उसे अपने समान विभूतिसम्पन्न बनाकर अपने आसन पर बैठा लेते हैं।

८०२. साधारणतया भक्त ब्रह्मज्ञान नहीं चाहता; वह ईश्वर के साकार रूप के ही दर्शन करना चाहता है – जगज्जननी काली या श्रीकृष्ण, श्रीचैतन्य आदि अवतारों के रूप ही उसे भाते हैं। वह नहीं चाहता कि समाधि में मैं-पन का पूर्ण नाश हो जाए। इतना मैं-पन वह बनाए रखना चाहता है, जिसके द्वारा भगवान् के साकार रूप के दर्शन का आनन्द लूट सके। वह चीनी खाना चाहता है, स्वयं चीनी नहीं बनना चाहता।

८०३. मेरी माँ (जगन्माता) ने कह दिया है कि वही वेदान्त का ब्रह्म है। जीव के 'कच्चे मैं' को पूरी तरह नष्ट कर उसे ब्रह्मज्ञान देने की शक्ति उसी में है। माँ की इच्छा हुई तो तुम या तो विचारमार्ग से ब्रह्मज्ञान लाभ कर सकते हो या फिर भक्तिमार्ग से उसी ज्ञान को प्राप्त कर सकते हो। भक्तिमार्ग का सार है – ज्ञानभक्ति के लिए व्याकुल होकर निरन्तर प्रार्थना करना, माँ के चरणों में आत्मनिवेदन करना। इस तरह पहले मेरी माँ की शरण आओ। मेरी बात पर विश्वास रखो कि यदि तुम हृदय से पुकारोगे तो माँ अवश्य ही तुम्हारी पुकार सुनेगी – तुम्हारी इच्छा पूरी करेगी। फिर, यदि तुम उसके निर्गुण निराकार स्वरूप का दर्शन करना चाहते हो तो उसी से प्रार्थना करो। सर्वशक्तिस्वरूपिणी जगन्माता की कृपा से तुम समाधि में ब्रह्मज्ञान लाभ कर सकते हो।

ज्ञानी तथा भक्त के स्वभाव में अन्तर

८०४. साधक दो प्रकार के होते हैं – एक प्रकार के साधक का स्वभाव बन्दर के बच्चे की तरह होता है, दूसरे प्रकार के साधक का स्वभाव बिल्ली के बच्चे की तरह है। बन्दर का बच्चा स्वयं अपनी माँ को पकड़े हुए उससे लिपटा रहता है; पर बिल्ली का बच्चा स्वयं माँ को नहीं पकड़ता, माँ उसे जहाँ कहीं छोड़ दे वहीं पड़ा रहकर वह 'म्याऊँ म्याऊँ' करता रहता है। बन्दर का बच्चा खुद अपनी माँ को पकड़े रहता है, इसलिए अगर कभी उसका हाथ छूट जाए तो वह गिर पड़ता है और उसे चोट पहुँचती है। पर बिल्ली के बच्चे को यह भय नहीं है क्योंकि उसे उसकी माँ स्वयं पकड़कर एक जगह से दूसरी जगह ले जाती है। इसी प्रकार, ज्ञानयोगी या कर्मयोगी साधक बन्दर के बच्चे की तरह स्वयं के प्रयत्न से मुक्तिलाभ करने का प्रयास करता है। परन्तु भक्त साधक ईश्वर को ही एकमात्र कर्ता जानते हुए बिल्ली के बच्चे की तरह, उन्हीं के चरणों में निर्भर होकर निश्चिन्त हो पड़ा रहता है।

८०५. ज्ञानी कहता है, "सोऽहम्! मैं ही वह शुद्ध आत्मा हूँ।" परन्तु भक्त कहता है, "अहा, यह सब उनकी महिमा है!"

८०६. 'यह सब कुछ मैं हूँ', 'यह सब कुछ तुम हो', 'तुम स्वामी हो, मैं सेवक' – इन तीन भावों में से किसी भी एक में दृढ़ रूप से प्रतिष्ठित होने पर ही भगवत्प्राप्ती होती है।

८०७. शिव के अंश से जन्म होने पर मनुष्य ज्ञानी होता है, उसका मन सदा 'ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या' इसी बोध की ओर जाता है। विष्णु के अंश से जन्म हो तो प्रेम-भक्ति होती है, वह प्रेमभक्ति कभी नहीं जाती। बहुत ज्ञानविचार करने के बाद यदि किसी समय यह प्रेम-भक्ति कुछ कम भी हो जाए तो फिर और एक समय यह यदुवंश का ध्वंस करनेवाले मूसल की तरह देखते-देखते बढ़ भी जाती है।

८०८. ज्ञानी के भीतर मानो एक ही दिशा में गंगा बहती है। उसके लिए सब कुछ स्वप्नवत् है। वह सदा स्व-स्वरूप में अवस्थित रहता है।

परन्तु भक्त के भीतर गंगा एक दिशा में नहीं बहती, उसमें ज्वार-भाटा होता रहता है। वह कभी हँसता है, कभी रोता है तो कभी नाचता-गाता है। भक्त भगवान् के साथ विलास करना चाहता है। वह उस आनन्दसागर में कभी तैरता है, कभी डूबता है, तो कभी उतराता है, जैसे पानी में बर्फ का टुकड़ा डूबता उतराता रहता है।

८०९. पुराणों के मतानुसार भक्त एक है और भगवान् एक। 'मैं' एक और 'तुम' एक। देह मानो एक घट है, इस देहरूपी घट में मन-बुद्धि-अहंकाररूपी जल रखा है' ब्रह्म मानो सूर्यस्वरूप है। वह इस जल में प्रतिबिम्बित हो रहा है। इसी से भक्त विविध ईश्वरीय रूपों के दर्शन करता है।

वेदान्त के मतानुसार ब्रह्म ही वस्तु है, और सब माया, स्वप्नवत् अवस्तु है। सच्चिदानन्दसागर पर मानो अहंरूपी लाठी पड़ी हुई है। यदि उस अहंरूपी लाठी को उठा लिया जाए तो एक अविभक्त समुद्र रह जाता है, पर उस लाठी के रहते समुद्र के दो भाग दिखाई देने लगते हैं – लाठी के इस ओर एक और उस ओर एक। ब्रह्मज्ञान होने से मनुष्य समाधिस्थ हो जाता है, उस समय यह 'अहं' मिट जाता है।

वेदान्तमत के अनुसार जाग्रत्-अवस्था भी मिथ्या है।

८१०. नारदादि आचार्य ज्ञानलाभ करने के बाद भी लोककल्याण के लिए भक्ति लेकर रहते हैं।

८११. श्रीरामकृष्ण – भक्ति चन्द्र है और ज्ञान सूर्य। सुना है, एकदम उत्तर में और दक्षिण में समुद्र हैं। वहाँ इतनी ठण्ड है कि जगह-जगह पानी जमकर बर्फ की चट्टानें बन जाती हैं। उन पर से जहाज चल नहीं पाते, वहाँ जाकर अटक जाते हैं।

भक्त – क्या भक्तिपथ में मनुष्य अटक जाता है?

श्रीरामकृष्ण – हाँ, अटक जाता है सही, पर उससे हानि नहीं होती; कारण उस सच्चिदानन्दसागर का ही जल जमकर बर्फ बना है। यदि तुम और भी विचार करना चाहो, यदि 'ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या' यह विचार करो, तो उसमें भी नुकसान नहीं। ज्ञानसूर्य के प्रभाव से बर्फ पिघल जाती

है और केवल सच्चिदानन्दसागर रह जाता है।

८१२. ज्ञान मानो पुरुष है और भक्ति नारी। ज्ञान भगवान् के बैठकखाने तक जा सकता है, परन्तु भक्ति उनके अन्त:पुर में प्रवेश कर सकती है।

८१३. एक बार एक ज्ञानी और एक भक्त साधक किसी वन में से होकर गुजर रहे थे। राह में उन्हें एक बाघ दिखाई दिया। ज्ञानी ने कहा, "भागने की कोई जरूरत नहीं, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर अवश्य ही हमारी रक्षा करेंगे।" पर भक्त बोला, "नहीं भाई, चलो, हम भाग जाएँ। जो काम हम स्वयं कर सकते हैं उस के लिए नाहक भगवान् को क्यों कष्ट दें!"

(४) कर्मयोग

कर्मयोग क्या है?

८१४. कर्मयोग यानी कर्म के द्वारा ईश्वर के साथ योग। अनासक्त होकर किया जाने पर प्राणायाम, ध्यानधारणादि अष्टांग योग या राजयोग भी कर्मयोग ही है। संसारी लोग अगर अनासक्त होकर, ईश्वर पर भक्ति रखकर, उन्हें फलसमर्पण करते हुए संसार के कर्म करें तो वह भी कर्मयोग है। फिर ईश्वर को फलसमर्पण करते हुए पूजा, जप आदि करना भी कर्मयोग ही है। ईश्वरलाभ ही कर्मयोग का उद्देश्य है।

८१५. सत्त्वगुणी व्यक्ति का कर्म स्वभावत: ही छूट जाता है – प्रयत्न करने पर भी वह कर्म नहीं कर पाता। जैसे, गृहस्थी में बहू के गर्भवती हो जाने पर सास धीरे-धीरे उसके कामकाज घटाती जाती है, और जब उसके बच्चा पैदा हो जाता है तब तो उसे केवल बच्चे की देखभाल के सिवा और कोई काम नहीं रह जाता। जो सत्त्वगुणी नहीं है, उन्हें संसार के सभी कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। उन्हें ईश्वर के चरणों में अपना सब कुछ समर्पण कर संसार में धनी व्यक्ति के घर की दासी की तरह रहना चाहिए। यही कर्मयोग है। जितना सम्भव हो, ईश्वर का ध्यान तथा नाम-जप करते हुए, उन पर निर्भर रहकर अनासक्त भाव से अपने कर्तव्यों का पालन करना –

यही कर्मयोग का रहस्य है।

८१६. भगवान को तुम एक गुना जो कुछ अर्पित करोंगे, उसका हजार गुना पाओगे। इसीलिए सब कार्य करने के बाद जलांजलि दी जाती है – श्रीकृष्ण को फल-समर्पण किया जाता है।

८१७. युधिष्ठिर जब सब पाप श्रीकृष्ण को अर्पण करने जा रहे थे, तब भीम ने उन्हें सावधान करते हुए कहा, 'ऐसा काम मत करो, – कृष्ण को जो कुछ अर्पण करोगे, उसका हजार गुना तुम्हें प्राप्त होगा।'

कर्ममार्ग में भक्ति का महत्त्व

८१८. विशेषकर इस कलियुग में अनासक्त होकर कर्म करना बहुत ही कठिन है। इसलिए इस युग के लिए कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि की अपेक्षा भक्तियोग ही अच्छा है। परन्तु कर्म कोई छोड़ नहीं सकता। मानसिक क्रियाएँ भी कर्म ही हैं। 'मैं विचार कर रहा हूँ', 'मैं ध्यान कर रहा हूँ' – यह भी कर्म ही है। प्रेम-भक्ति के द्वारा कर्ममार्ग सहज हो जाता है। ईश्वर पर प्रेम-भक्ति बढ़ने से कर्म कम हो जाता है और जो कर्म रहता है उसे उनकी कृपा से अनासक्त होकर किया जा सकता है। भक्तिलाभ होने पर विषयकर्म – धन, मान, यश आदि अच्छे नहीं लगते। मिश्री का शरबत पीने के बाद गुड़ का शरबत भला कौन पीना चाहेगा?

८१९. ईश्वर में भक्ति हुए बिना कर्म बालू की भींत की तरह निराधार है। पहले भक्ति के लिए प्रयत्न करो। फिर तुम चाहो तो ये सब स्कूल, दवाखाने आदि आप ही बन जाएँगे। पहले भक्ति, फिर कर्म। भक्ति के बिना कर्म व्यर्थ है।

८२०. इस कलियुग के लिए नारदीय भक्ति ही श्रेयस्कर है। शास्त्रों में जिन सब कर्मों का विधान है उन्हें करने की आजकल फुरसत ही कहाँ? आजकल के बुखार में 'दशमूल काढ़ा' नहीं चलता। उस काढ़े का असर होने के पहले ही रोगी ठण्डा हो जाता है। अब तो 'फीवर मिक्श्चर' के दिन हैं।

८२१. भक्त – कर्म के भार के कारण भगवान् में मन नहीं लगाया जा सकता।

श्रीरामकृष्ण – हाँ, यह ठीक है। परन्तु ज्ञानी अनासक्त होकर काम कर सकता है, इस कारण उस पर कर्म का परिणाम नहीं होता। यदि तुम हार्दिक भाव से यह चाहो तो भगवान् तुम्हें सहायता करेंगे और धीरे-धीरे तुम्हारा कर्मबन्धन दूर हो जाएगा।

८२२. एक बार श्रीरामकृष्ण ने ईश्वरचन्द्र विद्यासागर से कहा था : "तुम्हारा कर्म सात्त्विक कर्म है। तुम दया से प्रेरित हो परोपकार के कर्म करते हो – यह सत्त्वगुण की प्रेरणा है। अगर यह दया-दाक्षिण्य, दान आदि भक्तिसहित, निष्काम होकर किया जा सके तो इससे ईश्वरलाभ होता है।

८२३. क्या केवल ध्यान के समय ही ईश्वर का चिन्तन करना चाहिए और दूसरे समय उन्हें भूले रहना चाहिए? मन का कुछ अंश सदा ईश्वर में लगाए रखना चाहिए। तुमने देखा होगा, दुर्गापूजन के समय देवी के पास एक दीप जलाना पड़ता है। उसे सदा जलाए रखा जाता है, कभी बुझने नहीं दिया जाता। उसके बुझ जाने पर गृहस्थ का अमंगल होता है। इसी प्रकार, हृदयकमल में इष्टदेवता को प्रतिष्ठित करने के बाद उनके स्मरण-चिन्तनरूपी दीपक को सदा प्रज्वलित रखना चाहिए। संसार के कामकाज करते हुए बीच-बीच में भीतर की ओर दृष्टि डालकर देखते रहना चाहिए कि वह दीपक जल रहा है या नहीं।

सेवाभाव से किया जानेवाला कर्म पूजा के समान है

८२४. एक दिन श्रीचैतन्यदेव द्वारा प्रवर्तित वैष्णवधर्म की चर्चा के प्रसंग में श्रीरामकृष्ण ने कहा – "इस मत में मनुष्य को इन तीन बातों का पालन करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहने का उपदेश दिया जाता है – भगवान् के नाम में रुचि, जीवों पर दया, वैष्णवों का पूजन। जो नाम है, वही ईश्वर है, नाम और नामी अभिन्न है – यह जानकर सदा अनुरागसहित नाम लेते रहना चाहिए। कृष्ण और वैष्णव, भक्त और भगवान् अभिन्न हैं यह जानकर सदा साधु-भक्तजनों की श्रद्धापूर्वक सेवा-वन्दना करनी चाहिए तथा यह जगत्-संसार श्रीकृष्ण का ही है इस बात की हृदय में धारणा कर

सब जीवों पर दया . . .।'' 'सब जीवों पर दया' इतना कहते ही श्रीरामकृष्ण एकाएक समाधि-मग्न हो गए। कुछ देर बाद अर्धबाह्य अवस्था में आकर वे कहने लगे, ''जीवों पर दया? जीवों पर दया? धत् मूर्ख! तू स्वयं कीटानुकीट होकर जीवों पर दया करेगा? दया करनेवाला तू कौन है? नहीं, नहीं 'जीवों पर दया' नहीं – 'शिवबुद्धि से जीवों की सेवा!' ''

कर्म उपाय है, उद्देश्य नहीं

८२५. कुछ उत्साही समाजसुधारकों से श्रीरामकृष्ण ने कहा – ''तुम लोग जगत् का उपकार करने की बात कहते हो। पर जगत् क्या इतनी छोटी चीज है? और फिर जगत् का उपकार करनेवाले भला तुम कौन हो? पहले साधन-भजन के द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार कर लो, उनका लाभ कर लो। वे शक्ति दें तभी तुम लोगों का हित कर सकते हो, अन्यथा नहीं।''

एक भक्त – महाराज, जब तक उनकी प्राप्ति न हो तो तब तक क्या सब कर्म त्याग दें?

श्रीरामकृष्ण – नहीं, कर्म त्याग क्यों दोगे? ईश्वर का चिन्तन, उनका नाम गुणगान, उपासना आदि नित्यकर्म – यह सब करते रहना चाहिए।

भक्त – और सांसरिक कर्म? विषयकर्म?

श्रीरामकृष्ण – हाँ, उन्हें भी किया करो – संसार-यात्रा के लिए जितना आवश्यक हो उतना ही। परन्तु साथ ही निर्जन में रोते हुए प्रभु से प्रार्थना करनी होगी, ताकि कर्म निष्काम भाव से किए जा सकें।

८२६. तुम्हारे लिए कर्म का त्याग करना सम्भव नहीं। तुम्हारी इच्छा हो या न हो, तुम्हारा स्वभाव तुमसे कर्म करवाएगा। इसलिए अनासक्त होकर कर्म करो। अनासक्त होकर कर्म करने से ईश्वरलाभ होता है। अनासक्त होकर कर्म करना अर्थात् कर्मफल की आकांक्षा न रखना। ईश्वरलाभ जीवन का उद्देश्य है और निष्काम कर्म उसका उपाय।

८२७. निष्काम कर्म एक उपाय है – उद्देश्य नहीं, जीवन का उद्देश्य है ईश्वरलाभ। कर्म आदिकाण्ड है – वह उद्देश्य नहीं हो सकता। कर्म को

जीवन का सर्वस्व मत समझो। ईश्वर से भक्ति के लिए प्रार्थना करो। यदि सौभाग्यवश भगवान् तुम्हारे सामने प्रकट हो जाएँ, तो क्या तुम उनसे अस्पताल-दवाखाने, कुएँ-तालाब, रास्ते, धर्मशालाएँ इन्हीं सब के लिए प्रार्थना करोगे? नहीं, ये सब चीजें तभी तक सत्य प्रतीत होती हैं, जब तक भगवान के दर्शन नहीं होते। एक बार उनके दर्शन हो जाएँ तो ये सब स्वप्नवत्, अनित्य असार लगने लगते हैं। तब साधक उनसे केवल ज्ञान और भक्ति की ही प्रार्थना करता है।

८२८. श्रीरामकृष्ण – शम्भु मल्लिक ने लोकहित के लिए अस्पताल, दवाखाने, स्कूल, रास्ते, तालाब आदि बनवाने की बात कही थी। मैंने कहा, सामने जो काम आ पड़े, जिसे किए बिना चल नहीं सकता, ऐसे काम को निष्काम भाव से करना चाहिए। जान-बूझकर स्वयं को बहुत अधिक कामों में उलझाना ठीक नहीं, इससे मनुष्य ईश्वर को भूल जाता है।

कर्म तथा नैष्कर्म्य

८२९. यदि किसी में शुद्ध सत्त्वगुण का उदय हो, तो वह सदा केवल ईश्वरचिन्तन ही करता है, उसे और कुछ भी नहीं भाता। किसी-किसी को प्रारब्धवश जन्म से ही शुद्ध सत्त्वगुण प्राप्त होता है! कामनाशून्य होकर कर्म करने का प्रयत्न करते हुए अन्त में शुद्ध सत्त्वगुण प्राप्त होता है। रजोमिश्रित सत्त्वगुण के रहने पर धीरे-धीरे मन नाना दिशाओं में जाने लगता है। इससे 'मैं जगत् का उपकार करूँगा' इस प्रकार का अभिमान आ जुटता है। इस सामान्य जीव के लिए जगत् का उपकार करने जाना बड़ा कठिन है। पर यदि कोई कामनाशून्य होकर परोपकार के लिए कर्म करे तो उसमें दोष नहीं; इसे निष्काम कर्म कहते हैं। इस प्रकार के कर्म करने का प्रयत्न करना बहुत अच्छा है। पर सब लोग यह नहीं कर पाते। यह बड़ा कठिन है।

८३०. सभी को कर्म करना पड़ता है। एक-दो जन ही कर्मत्याग कर सकते हैं। एक-दो लोगों में ही शुद्ध सत्त्वगुण देखने को मिलता है। निष्काम कर्म करते करते रजोमिश्रित सत्त्वगुण धीरे-धीरे शुद्ध सत्त्वगुण में परिणत

होता है। शुद्ध सत्त्व के आते ही उनकी कृपा से ईश्वरलाभ होता है। साधारण आदमी शुद्ध सत्त्व की अवस्था को नहीं समझ पाते।

८३१. ईश्वर के प्रति प्रेम उत्पन्न होने पर कर्मत्याग अपने आप हो जाता है। ईश्वर जिन लोगों से कर्म करवा रहे हैं, उन्हें करने दो। जिनका समय आ गया है, वे सब छोड़कर कहें, – 'मन, हृदय में विराजमान माँ को तू देख और मैं देखूँ, और कोई न देखे।'

८३२. सन्ध्या गायत्री में लीन होती है; गायत्री प्रणव में लीन होती है; प्रणव समाधि में लीन होता है। इस प्रकार सन्ध्यादि कर्म का समाधि में लय होता है।

८३३. जब तक सच्चिदानन्द में मन लीन न हो जाए, तब तक उन्हें पुकारना और संसार के काम-काज करना, दोनों बातें चल सकती हैं। उनमें मन तल्लीन हो जाने पर कोई काम करने की आवश्यकता नहीं रहती। जैसे, मानो कोई कीर्तन गा रहा है – 'निताई आमार माता हाथी।'* पहले जब वह गाना शुरू करता है तब गीत के शब्द, राग, ताल, मान, लय, सभी बातों पर ध्यान रखते हुए सही ढंग से गाता है। फिर जब गीत के भाव में उसका मन थोड़ा मग्न होता है तब वह सिर्फ 'माता हाथी, माता हाथी' ही कहता है। फिर जब उस भाव में मन और भी तल्लीन हुआ तब वह सिर्फ 'हाथी, हाथी' ही कहता है। अन्त में जब मन पूरी तरह तल्लीन हो जाता है तब वह 'हा' कहकर ही भावमग्न होकर चुप हो जाता है।

८३४. इसीलिए कहता हूँ, शुरू-शुरू में कर्म की बड़ी चहल-पहल रहती है। परन्तु तुम ईश्वर की ओर जितना ही अग्रसर होओगे, उतना ही तुम्हारा कर्म कम होता जाएगा। अन्त में सर्व-कर्मत्याग होकर समाधि होगी। समाधि होने के बाद प्राय: देह नहीं टिका करती। किसी-किसी की देह लोकशिक्षा के लिए रह जाती है – जैसे नारदादि ऋषि और चैतन्यदेवादि अवतारों का हुआ। कुआँ खोद चुकने के बाद कोई कोई कुदाल, टोकरी,

---

* 'मेरा नित्यानंद मतवाला हाथी है।'

आदि की बिदाई कर देते हैं, पर कोई-कोई उन्हें रख देते हैं – सोचते हैं, रहने दो, मुहल्लेवालों में से किसी के काम आएगा। ऐसे महापुरुष लोग जीवों के दुःख देखकर कातर होते हैं। ये ऐसे स्वार्थी नहीं होते कि सोचें, हमें ज्ञानलाभ हुआ कि सब हो गया।

□□□

अध्याय १७

ईश्वर

ब्रह्म

८३५. ब्रह्म क्या है यह मुख से कहा नहीं जा सकता। जिसने कभी समुद्र नहीं देखा ऐसे व्यक्ति को यदि समुद्र कैसा होता है यह समझाना पड़े तो इतना ही कहा जा सकता है, 'ओह! वह बहुत ही विशाल जलाशय है, चारों ओर पानी ही पानी है!'

८३६. वेद, तन्त्र, पुराण आदि सभी शास्त्र जूठे हो चुके हैं, क्योंकि उनका मुख से उच्चारण किया गया है, उन्हें पढ़ा गया है। केवल एक वस्तु जूठी नहीं हो पाई, वह है ब्रह्म। ब्रह्म क्या है, यह आज तक कोई बता नहीं पाया।

८३७. ब्रह्म कैसा है? ब्रह्म निर्गुण, निष्क्रिय, अचल, अटल सुमेरुवत् है।

८३८. ब्रह्म भला-बुरा दोनों से निर्लिप्त है। वह दीपक की ज्योति की तरह है। दीपक के प्रकाश में कोई भागवत पढ़ता है, तो कोई जाली नोट बनाता है, पर दीपक निर्लिप्त रहता है। ब्रह्म मानो साँप के जैसा है। साँप के दाँतों में विष होता है, उसके काटने पर दूसरे लोग मर जाते हैं, पर उससे स्वयं साँप को कुछ नहीं होता। इसी तरह, जगत् में दुःख, पाप, अशान्ति आदि जो कुछ है, वह सब जीव के लिए है। ब्रह्म इस सब से निर्लिप्त है। भला, बुरा, सत्, असत् सब जीव के लिए है, ब्रह्म के लिए यह सब कुछ भी नहीं, वह इस सब के परे है।

८३९. ब्रह्म ज्ञान-अज्ञान, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म सब के परे है। वह सब प्रकार के द्वैत से अतीत है।

८४०. ब्रह्म मन-वाणी, ध्यान-धारणा, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, सत्-असत् सब के परे है। वह सब प्रकार की सापेक्षता के परे है।

८४१. ब्रह्म वायु की तरह है, जो सुगन्ध और दुर्गन्ध दोनों को ले जाती है, पर स्वयं दोनों से निर्लिप्त रहती है।

८४२. ब्रह्म सब गुणों से, सभी मायिक सम्बन्धों से अतीत है।

ब्रह्म ही द्वैतप्रपंच की सत्ता है

८४३. ब्रह्म ही सत्य, नित्य है, उसकी जीव-जगत् के रूप में लीला असत्, अनित्य है।

८४४. 'जगत् मिथ्या है' कहना आसान है। पर वास्तव में इसका अर्थ क्या है जानते हो? जैसे, कपूर के जलने पर कुछ भी नहीं बचता। लकड़ी के जलने पर कम से कम राख तो बच रहती है। विचार के अन्त में समाधि होती है, तब 'मैं' 'तुम' 'जगत्' इस सब का पता ही नहीं रहता।

८४५. शिष्य को उपदेश देने के लिए गुरु ने दो अँगुलियाँ उठाकर संकेत किया – 'ब्रह्म और माया।' फिर एक अंगुली नीचे कर संकेत किया – 'माया के दूर हो जाने पर ब्रह्म ही रह जाता है, जगत् ब्रह्ममय हो जाता है।'

८४६. समाधि अवस्था में ब्रह्मज्ञान होता है। उस अवस्था में सब विचार – सत्-असत्, जीव-जगत्, ज्ञान-अज्ञान आदि – बन्द हो जाता है, सब शान्त हो जाता है, तब केवल 'अस्ति' मात्र रह जाता है। नमक की पुतली समुद्र की गहराई नापने जल में उतरी पर उतरते ही समुद्र के साथ एक हो गई, फिर गहराई की खबर कौन दे! यही ब्रह्मज्ञान है।

८४७. प्रश्न – अखण्डस्वरूप आत्मा खण्डित जीवात्माओं में कैसे विभक्त हुआ?

उत्तर – अद्वैतवादी तार्किक अपनी विचार-बुद्धि के बल पर इसका उत्तर नहीं दे सकता। उसे यही कहना पड़ता है कि 'मैं नहीं जानता।' ब्रह्मज्ञान

होने पर ही इसका योग्य उत्तर मिल सकता है। जब तक मनुष्य कहता है, 'मैं जानता हूँ' या 'मैं नहीं जानता' तब तक वह स्वयं को एक व्यक्ति समझता है। तब तक उसे इस विविधता को सत्य ही मानना पड़ता है – वह इसे भ्रम नहीं कह सकता। परन्तु जब व्यक्तित्व-बोध का – 'मैं'-पन का सम्पूर्ण विनाश हो जाता है, तब समाधि होकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है। तब सत्-असत्, वास्तव-भ्रम आदि सम्बन्धी सब प्रश्नों का सदा के लिए विराम हो जाता है।

८४८. जब तक 'मैं'-बोध है, तब तक निरुपाधिक भी है और सोपाधिक भी, नित्य भी है और लीला भी, निर्गुण भी है और सगुण भी, निराकार भी है और साकार भी, एक भी है और बहु भी।

८४९. समाधि अवस्था में उपलब्ध ब्रह्म मानो दूध है, साकार-निराकार ईश्वर मानो माखन है, और चौबीस तत्त्वों से बना जगत् मानो छाछ। जब तक तुम माया के राज्य में हो तब तक तुम्हें माखन और छाछ – ईश्वर और जगत – दोनों को स्वीकार करना होगा।

८५०. अद्वैतवादी को ऐसा नहीं कहना चाहिए कि मेरा ही मत ठीक है, सगुण-साकार ईश्वर के माननेवालों का मत ठीक नहीं। ईश्वर के साकार रूप भी कम सत्य नहीं, देह, मन या बाह्य जगत की अपेक्षा वे अनन्तगुना सत्य हैं।

८५१. अद्वैत के बारे में कुछ कहने जाओ तो द्वैत आ ही जाता है। निरुपाधिक सत्ता का वर्णन करते समय सोपाधिक की सत्यता माननी ही पड़ती है। कारण, जब तक समाधि न प्राप्त हो, तब तक तुम्हारी अद्वैत की धारणा द्वैतात्मक ही रहती है। तुम उसका निरपेक्ष वर्णन नहीं कर सकते, उसमें तुम्हारे स्वयं के व्यक्तित्व का रंग चढ़ ही जाता है।

८५२. जब तक 'अहं' है, तब तक साकार ईश्वर भी सत्य हैं; जीव-जगत् के रूप में उनकी लीला भी सत्य है।

ईश्वर, माया, शक्ति

८५३. भगवान् जब निष्क्रिय अवस्था में होते हैं, सृष्टि, स्थिति, प्रलय आदि कार्य नहीं करते, तब उन्हें मैं ब्रह्म या पुरुष कहता हूँ। और जब क्रियाशील रूप में – सृष्टि, स्थिति, प्रलय आदि कार्यों के कर्ता के रूप में उनका विचार करता हूँ, तब उन्हें शक्ति, माया या प्रकृति कहता हूँ।

८५४. सांख्यदर्शन के अनुसार किस प्रकार पुरुष और प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति हुई इस बात को समझाते हुए श्रीरामकृष्ण ने एक बार कहा था – "वे कहते हैं, पुरुष अकर्ता है, वह कुछ नहीं करता; प्रकृति ही सब कार्य करती है। पुरुष प्रकृति के सब कार्यों को साक्षी के रूप में देखा करता है। प्रकृति भी पुरुष को छोड़कर अकेली कोई कार्य नहीं कर सकती। घर में विवाह के समय देखा नहीं? घर का मालिक तो कामकाज का हुक्म देकर स्वयं आराम से बैठकर हुक्का पीता है। परन्तु गृहिणी कपड़े में हल्दी के दाग लगाकर घर भर में एक बार इधर, एक बार उधर, दौड़ लगाती हुई देखती रहती है कि यह काम हुआ या नहीं, वह काम किया जा रहा है या नहीं; घर में जो आते हैं उनका स्वागत-सत्कार करती है; और बीच-बीच में मालिक के पास आकर हाथ-मुँह हिलाते हुए खबर देती जाती है – 'यह ऐसा हुआ, वह वैसा हुआ; यह करना होगा, वह नहीं किया जाएगा' – आदि। मालिक तमाखू पीते पीते सब कुछ सुनता जाता है और सिर हिलाते हुए 'हूँ, हूँ' करके अपनी सम्मति देता जाता है। प्रकृति-पुरुष का काम भी ऐसा ही होता है।"

८५५. वस्तुतः ब्रह्म और शक्ति अभिन्न हैं। जो सच्चिदानन्द हैं वे ही सच्चिदानन्दमयी हैं। जैसे मणि और उसकी प्रभा। 'मणि' कहते ही उसकी प्रभा का बोध होता है और 'मणि की प्रभा' कहते ही मणि का बोध होता है। मणि को सोचे बिना उसकी प्रभा को नहीं सोचा जा सकता है और मणि की प्रभा को सोचे बिना मणि को नहीं।

८५६. ब्रह्म और शक्ति अभिन्न हैं। एक को मानने से दूसरे को भी मानना पड़ता है। जैसे अग्नि और दहनशक्ति – दहन-शक्ति के सिवा अग्नि

को सोचा नहीं जा सकता, फिर अग्नि को छोड़कर उसकी दहनशक्ति को नहीं सोचा जा सकता। वैसे ही, सूर्य को छोड़ सूर्य की किरणों को सोचा नहीं जा सकता और सूर्य-किरणों को छोड़ सूर्य को नहीं सोचा जा सकता। दूध को छोड़ दूध के धवलत्व का विचार नहीं किया जा सकता; फिर दूध के धवलत्व के बिना दूध का विचार नहीं हो सकता। इसी प्रकार, ब्रह्म को छोड़ शक्ति को और शक्ति को छोड़ ब्रह्म को नहीं सोचा जा सकता।

८५७. ब्रह्म और शक्ति अभिन्न हैं – जैसे अग्नि और दहनशक्ति। ब्रह्म और शक्ति अभेद हैं – जैसे दूध और उसका धवलत्व। ब्रह्म और शक्ति अभेद हैं – जैसे मणि और उसकी प्रभा। तुम इनमें से एक को छोड़ दूसरे को सोच ही नहीं सकते।

८५८. जहाँ कहीं कार्य है – सृष्टि, स्थिति, प्रलय है – वहीं शक्ति है! परन्तु जल स्थिर रहने पर भी जल है और तरंगपूर्ण होने पर भी जल ही है। वह सच्चिदानन्द ही आद्याशक्ति है, जो सृष्टि, स्थिति, प्रलय किया करती है। जैसे कप्तान* जब कोई काम नहीं करता तब भी वही है और जब पूजा करता या लाट साहब से मिलने जाता है तब भी वही – वह एक ही है। भेद केवल उपाधि में है।

८५९. जैसे, मैं कभी वस्त्र पहने रहता हूँ तो कभी वस्त्रहीन, वैसे ही ब्रह्म भी कभी सगुण है, तो कभी निर्गुण। ब्रह्म जब शक्ति के साथ संयुक्त होता है तब उसे सगुण ब्रह्म कहते हैं, वही ईश्वर है।

८६०. यह जान रखो कि मेरी जगज्जननी माँ एक है और अनेक भी, फिर वह एक और अनेक के परे भी है।

८६१. मेरी ब्रह्ममयी माँ ही सब कुछ बनी है। वह आद्याशक्ति ही जीव-जगत् बनी है। वही अनन्तशक्तिस्वरूपिणी जगत् में दैहिक, बौद्धिक, नैतिक, आध्यात्मिक आदि विविध शक्तियों के रूप में प्रकाशित है। मेरी माँ ही वेदान्त का ब्रह्म है। वह ब्रह्म का व्यक्त रूप है।

---

* विश्वनाथ उपाध्याय, जो कलकत्ते में नेपाल सरकार के प्रतिनिधि थे। इन्हें श्रीरामकृष्ण 'कप्तान' कहा करते थे।

ईश्वर मन में विराजमान है

८६२. विचार दो प्रकार का है – अनुलोम और विलोम। पहले के द्वारा मनुष्य जीव-जगत् से नित्य ब्रह्म में जाता है और दूसरे के द्वारा देखता है कि ब्रह्म ही जीव-जगत् के रूप में लेलायित है।

८६३. समाधि में ब्रह्म का साक्षात्कार करने के बाद भी साधक 'अहं' के सहारे द्वैतभूमि में उतर आता है। वह इतना ही 'अहं' रख छोड़ता है, जिसके द्वारा वह सगुण ईश्वर की लीला का आस्वादन कर सके। सा, रे, ग, म, प, ध, नि – नि पर अधिक देर ठहरना कठिन है। इसीलिए साकार ईश्वर में भक्ति आवश्यक है।

८६४. समाधि से साधारण भावभूमि में उतर आने पर साधक के भीतर 'अहं' की एक पतली रेखा मात्र रह जाती है – उसके द्वारा वह दिव्य दर्शनादि का आस्वादन कर सकता है। इसके द्वारा वह देखता है कि एकमात्र ब्रह्म ही जीव, जगत् के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। जड़ या निर्विकल्प समाधि में निराकार-निर्गुण ब्रह्म का और चेतन या सविकल्प समाधि में साकार-सगुण ब्रह्म का साक्षात्कार करने के बाद विज्ञानी को ईश्वर की इस महिमा का अनुभव होता है। जब तक तुममें स्वयं के व्यक्तित्व का बोध है, 'अहं' बोध है, तब तक तुम ईश्वर का भी 'व्यक्ति' के सिवा अन्य किसी रूप में विचार-चिन्तन नहीं कर सकते। निर्गुण-निराकार ब्रह्म तुम्हारे निकट सगुण-साकार ईश्वर के ही रूप में प्रकट होता है। ये विभिन्न ईश्वरीय रूप सत्य हैं – वे तुम्हारी देह, मन या बाह्य जगत् से कहीं अनन्तगुना अधिक सत्य हैं।

८६५. अनुलोम और विलोम। 'नेति नेति' करते हुए समाधि में पहुँचकर तुम्हारा 'अहं' ब्रह्म में विलीन हो जाता है। फिर जब तुम समाधि से उतरकर नीचे आते हो तब तुम्हें दिखाई देता है कि ब्रह्म ही तुम्हारे 'अहं' के रूप में तथा सारे जगत् के रूप में व्यक्त हो रहा है।

८६६. जिसका नित्य (स्वरूप) है, उसी की लीला भी है। फिर जो नित्य (अवस्था) में है वही लीला में भी है। साधक लीला में से होते हुए नित्य में पहुँचता है; फिर नित्य में से उतरकर लीला में आता है। तब उसे

लीला मिथ्या नहीं प्रतीत होती, वह नित्य की ही अभिव्यक्ति प्रतीत होती है।

८६७. जिस प्रकार एक ही फल से छिलका, गूदा और बीज आते हैं, उसी प्रकार जीव, जगत्, जड़ और चेतन सभी पदार्थ एक ही ईश्वर से आते हैं।

८६८. श्रीरामकृष्ण कहा करते थे – "मैं सभी को स्वीकार करता हूँ। तुरीय और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति सभी अवस्थाओं को मैं ग्रहण करता हूँ। फिर ब्रह्म और माया, जीव, जगत् सब कुछ ग्रहण करता हूँ। सब का ग्रहण न करने से वजन में कुछ कमी रह जाती है। इसीलिए मैं नित्य और लीला दोनों को लेता हूँ।

८६९. 'यदि ईश्वर स्वयं ही सब कुछ बने हैं, तो फिर जगत् में इतनी सारी विविधता, 'अहं' का इतना तारतम्य क्यों है?' इस प्रश्न का हल करते हुए श्रीरामकृष्ण ने कहा था : "यह उनका खेल है – उनकी लीला है! एक राजा के चार बेटे हैं। हैं तो वे राजा के बेटे, पर खेल में कोई मन्त्री बना है तो कोई कोतवाल, तो कोई और कुछ बना है। राजा का बेटा होकर भी वह 'कोतवाल-कोतवाल' खेल रहा है।"

साकार और निराकार

८७०. एक व्यक्ति ने श्रीरामकृष्ण से पूछा, "महाराज, साकार बड़ा है या निराकार?" श्रीरामकृष्ण ने कहा, "निराकार दो प्रकार का है – पक्का और कच्चा। पक्का निराकार अवश्य ही एक उच्च भाव है। साकार के सहारे उस निराकार में पहुँचना पड़ता है। ब्राह्म समाजवालों का कच्चा निराकार है – जैसे आँख मूँदने पर अँधेरा ही दिखाई देता है।"

८७१. ईश्वर साकार भी हैं, और निराकार भी। फिर वे साकार, निराकार के परे भी हैं। वे क्या हैं, यह वे ही जानते हैं।

८७२. साकार रूप क्या है, जानते हो? जैसे जलराशि के भीतर से बुलबुले उठते हैं, वैसे ही महाकाश चिदाकाश में से एक एक रूप प्रकट होते दिखाई देते हैं। अवतार भी एक रूप है।

८७३. ईश्वर का साक्षात्कार न होने पर यह सब समझ में नहीं आता। साधकों के लिए वे नाना भाव से नाना रूप धारण कर दर्शन देते हैं। एक रँगरेज के पास एक घमेला भर रंग था। उसके पास कई लोग कपड़ा रँगवाने आते। वह उनसे पूछता, 'तुम किस रंग में कपड़ा रँगवाना चाहते हो?' कोई शायद कहता, 'मुझे लाल रंग में रँगवाना है।' वह रँगरेज तुरन्त उसके कपड़े को अपने घमेले में डुबोकर निकालते हुए कहता, 'यह लो तुम्हारा लाल रंग में रँगा कपड़ा।' शायद कोई दूसरा आदमी कहता, 'मुझे पीले रंग में रँगवाना है।' वह रँगरेज झट उसके कपड़े को उसी घमेले में डुबोकर लौटाते हुए कहता, 'यह लो तुम्हारा पीले रंग में रँगा कपड़ा।' इस प्रकार जिसे जिस रंग में कपड़ा रँगवाना होता – नीला, हरा, नारंगी – वह उसके कपड़े को उस एक ही घमेले में डुबोकर उस रंग में रँग दिया करता। एक दिन एक व्यक्ति उसका यह अद्भुत कार्य देख रहा था। रँगरेज ने उससे पूछा, 'क्यों जी, तुम्हें किस रंग में रँगवाना है?' तब वह बोला, 'भैया! तुम जिस रंग में रँगे हो, मुझे वही रंग चाहिए!''

८७४. एक संन्यासी जगन्नाथजी के दर्शन करने गया। जगन्नाथजी के दर्शन कर उसके मन में सन्देह उठा कि भगवान् साकार हैं या निराकार। उसके हाथ में डण्डा था, उस डण्डे को घुमाकर वह देखने लगा कि वह जगन्नाथजी की देह को लगता है या नहीं। पहली बार एक ओर से दूसरी ओर तक डण्डा ले जाते समय उसने देखा, जगन्नाथजी की देह में डण्डे का स्पर्श नहीं हुआ – उसे वहाँ ठाकुरजी की मूर्ति नहीं दिखाई दी। पर फिर दूसरी बार वह डण्डे को उस ओर से इस ओर ले आने लगा तो उस समय वह ठाकुरजी की मूर्ति को छू गया। तब संन्यासी समझ गया, ईश्वर साकार भी हैं, और निराकार भी।

८७५. घण्टी बजाते समय हरएक टोले के साथ 'टन्' 'टन्' की आवाज अलग अलग और स्पष्ट सुनाई पड़ती है – यह मानो साकार है। पर बजाना बन्द करते ही आखिरी टोले की आवाज थोड़ी देर तक गूँजती हुई शान्त हो जाती है – यह मानो निराकार है। घण्टी की ध्वनि की तरह

ईश्वर की भी साकार और निराकार दोनों अवस्थाएँ हैं।

८७६. साकार रूप में ईश्वर के दर्शन किए जा सकते हैं, उनका स्पर्श किया जा सकता है; जैसें मित्र के साथ बातचीत की जाती है वैसे ही उनके साथ प्रत्यक्ष सम्भाषण किया जा सकता है।

८७७. ईश्वर को निराकार मानते हुए उसी स्वरूप में उनका चिन्तन-मनन करना ठीक है। परन्तु ऐसी बुद्धि मत रखो कि केवल यही मत सही है और बाकी सब गलत। निराकार भी सत्य है और साकार भी सत्य है। तुम्हारा जिस पर विश्वास है उसी को पकड़े रहो। उनका साक्षात्कार हो जाने के बाद उनका यथार्थ स्वरूप समझ में आ जाएगा।

८७८. ईश्वर नित्य भी है और लीलामय विश्वपिता भी। अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्म की धारणा नहीं की जा सकती। वह मानो अनन्त, असीम समुद्र की तरह है, उसमें पड़कर मनुष्य मानो किनारा न पाकर डूबने लगता है। परन्तु साकार लीलामय ईश्वर को पाकर उसे मानो किनारा मिल जाता है।

८७९. भक्तिपथ में साधक को एक अवस्था में साकार अच्छा लगता है, फिर एक अवस्था में निराकार अच्छा लगता है।

८८०. भक्त के सम्मुख ईश्वर नाना रूपों में प्रकट होता है। परन्तु ज्ञानी को समाधि में निर्गुण, निराकार, निरुपाधिक ब्रह्म का ज्ञान होता है। ज्ञान और भक्ति में यही अन्तर है।

८८१. जिस प्रकार पानी जमकर बर्फ बन जाता है, उसी प्रकार निराकार, अखण्ड, सच्चिदानन्द ब्रह्म ही साकार रूप धारण करता है। जैसे बर्फ पानी से ही पैदा होती है, पानी में ही रहती है और पानी में ही मिल जाती है, वैसे ही ईश्वर का साकार रूप भी निराकार ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है, उसी में अवस्थित रहता है तथा उसी में विलीन हो जाता है।

८८२. अग्नि के कोई आकार नहीं होता पर उसके जलते समय भिन्न-भिन्न आकार दिखाई देते हैं। इसी तरह निराकार ब्रह्म के भी नाना आकार दिखाई देते हैं।

कुछ ईश्वरीय रूप

८८३. ईश्वर विभिन्न रूपों में प्रकट होते हैं – कभी मानव रूप में, तो कभी चिन्मय रूप में। ईश्वरीय रूपों पर विश्वास रखना चाहिए।

८८४. सच्चिदानन्द कैसे हैं, कोई नहीं बता सकता। इसीलिए वे पहले अर्धनारीश्वर बने। जानते हो, उन्होंने ऐसा क्यों किया? – यह दिखाने कि लिए कि वे स्वयं ही प्रकृति, पुरुष दोनों हैं। फिर एक सीढ़ी नीचे उतर आकर वे अलग-अलग पुरुष और प्रकृति बने।

८८५. समुद्र का जल दूर से नीला दिखाई देता है, परन्तु पास जाकर हाथ में लेकर देखने से स्वच्छ, रंगहीन दिखाई देता है। श्रीकृष्ण भी दूर हैं, इसलिए, नीले मालूम होते हैं, पर वास्तव में वे नीले नहीं। वे वर्णरहित, उपाधिरहित, नित्य हैं।

८८६. श्रीकृष्ण त्रिभंग (तीन स्थानों में टेढ़े) क्यों हुए हैं? श्रीमती राधा के प्रेम में पसीजकर वे त्रिभंग हुए हैं।

८८७. एक भक्त – कालीमाता को योगमाया क्यों कहते हैं?

श्रीरामकृष्ण – योगमाया अर्थात् पुरुष और प्रकृति का योग। तुम जो कुछ देख रहे हो वह सभी कुछ पुरुष-प्रकृति का योग है। देखा नहीं, शिव-काली की मूर्ति में शिव के ऊपर काली खड़ी हुई है। शिव शव जैसे पड़े हैं; काली शिव की ओर देख रही है। यह सभी पुरुष-प्रकृति का योग है। पुरुष निष्क्रिय है, इसीलिए शिव शव जैसे पड़े हैं। पुरुष के साथ युक्त होकर प्रकृति सृष्टि-स्थिति-प्रलय आदि सभी कार्य कर रही है। राधा-कृष्ण की युगल-मूर्ति का भी यही अर्थ है।

८८८. ईश्वर की ओर तुम जितना ही अधिक अग्रसर होओगे, उतना ही उनके ऐश्वर्य का भान कम होता जाएगा। साधक को पहले दर्शन होते हैं दशभुजाधारिणी ईश्वरी (दुर्गा) के रूप के। उस रूप में ऐश्वर्य का अधिक प्रकाश है। फिर दर्शन होते हैं द्विभूज रूप के – तब दस भुजाएँ नहीं रहतीं, उतने अस्त्र-शस्त्र नहीं रहते। फिर गोपाल रूप के दर्शन होते हैं – कोई ऐश्वर्य नहीं, केवल एक कोमल बालक का रूप है। इसके बाद भी दर्शन होते हैं – केवल ज्योति के दर्शन!

ईश्वर की सर्वव्यापकता

८८९. ईश्वर सब के भीतर हैं, परन्तु सब जन ईश्वर के भीतर नहीं है, इसीलिए उन्हें इतना दुःख भोगना पड़ता है।

८९०. प्रत्येक वस्तु नारायण है। मनुष्य नारायण है, पशु नारायण है, साधु नारायण है, लम्पट भी नारायण है। जो कुछ है, सब नारायण ही है। नारायण विभिन्न रूपों में लीला करते हैं। सब उन्हीं के भिन्न-भिन्न रूप हैं, उन्हीं की महिमा का प्रकाश हैं।

८९१. ईश्वर कहते हैं, "मैं साँप बनकर काटता हूँ और मैं ही ओझा बनकर झाड़ता हूँ; हाकिम बनकर हुक्म देता हूँ और मैं ही प्यादा बनकर मारता हूँ।"

८९२. ईश्वरीय शक्ति का प्रकाश विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार का है, क्योंकि विविधता ही प्रकृति का नियम है। ईश्वर सभी प्राणियों में विराजमान हैं, वे एक चींटी में भी विद्यमान हैं, परन्तु प्रकाश में तारतम्य है।

८९३. जिन्हें कई लोग जानते, मानते और आदर करते हैं उनके भीतर भगवान् की विभूति परिमाण में विद्यमान है।

८९४. प्रश्न – ईश्वर इस देह में किस तरह रहते हैं?

ईश्वर तथा मनुष्य का नैतिक दायित्व

८९५. प्रश्न – यदि ईश्वर स्वयं ही सब कुछ बने हैं, तब क्या पाप-पुण्य नहीं हैं?

उत्तर – हैं भी और नहीं भी हैं। वे जब तक हममें अहंभाव रख देते हैं, तब तक भेदबुद्धि भी रख देते हैं, पाप-पुण्य का बोध भी रख देते हैं। वे एक जनों का अहंकार बिलकुल मिटा डालते हैं – ऐसे लोग पाप-पुण्य, भले-बुरे के पार चले जाते हैं। जब तक ईश्वर के दर्शन हो जाएँ तब तक भेदबुद्धि, भले-बुरे का ज्ञान अवश्य ही रहेगा। तुम मुँह से कह सकते हो, 'मेरे लिए पाप-पुण्य समान हो गए हैं; वे जैसा करवा रहे हैं वैसा ही मैं कर रहा हूँ।' परन्तु हृदय के भीतर तुम जानते हो कि ये सब निरी बातें

हैं। कोई बुराम काम किया कि मन में धक-धक शुरू हो जाती है।

८९६. प्रश्न – यदि ईश्वर ही सब कुछ करवा रहे हैं, तो मेरे पापों के लिए मैं जबाबदार नहीं !

उत्तर – दुर्योधन ने ऐसा ही कहा था; कहा था, "त्वया हृषीकेश हृदिस्थितेन तथा नियुक्तोऽस्मि तता करोमि।"* परन्तु जिसमें यथार्थ विश्वास है कि 'ईश्वर ही कर्ता हैं, मैं अकर्ता, यन्त्रस्वरूप हूँ' उसके द्वारा कभी पाप कर्म नहीं हो सकता। जो ठीक नाचना जानता है उसके पैर कभी बेताल नहीं पड़ते। चित्त शुद्ध हुए बिना तो 'ईश्वर है' इसी पर विश्वास नहीं होता।

८९७. एक भक्त – महाराज ! मुझे एक सन्देह है। लोग यह जो free will यानी स्वाधीन इच्छा की बात कहा करते हैं – हम चाहें तो अच्छे काम कर सकते हैं, और चाहें तो बुरे काम भी – क्या यह सच है ? क्या हम सचमुच ही स्वाधीन हैं ?

श्रीरामकृष्ण – सब कुछ ईश्वराधीन है! सब उन्हीं की लीला है। उन्होंने नाना वस्तुएँ बनाई हैं। छोटा, बड़ा; बलवान्, दुर्बल; अच्छा, बुरा; सज्जन, दुर्जन – सब उनकी माया है, उनका खेल है। देखो न, बगीचे में सभी पेड़ समान नहीं होते।

"जब तक ईश्वर का लाभ नहीं होता, तब तक लगता है कि 'हम स्वाधीन है।' यह भ्रम वे ही रख दिया करते हैं। ऐसा न होता तो पाप की वृद्धि होती, पाप का भय नहीं रह जाता, पाप की सजा नहीं होती।

"परन्तु जिन्होंने ईश्वर का लाभ किया है उनका भाव कैसा होता है, जानते हो? उनका भाव होता है 'मै यन्त्र हूँ, तुम यन्त्री; मैं घर हूँ, तुम गृहिणी; मैं रथ हूँ, तुम रथी; तुम जैसा चलाते हो, वैसा ही चलता हूँ; जैसा बोलने लगाते हो, वैसा ही बोलता हूँ।' "

८९८. ईश्वर चोर को चोरी करने को कहते हैं, और गृहस्थ को सावधान होने। अर्थात् ईश्वर सभी कुछ करते हैं।

□□□

* "हे हृषीकेश, तुम मेरे हृदय में स्थित हो, तुम मुझसे जैसा करवाओगे, मैं वैसा ही करूँगा।"

अध्याय १८

ईश्वरदर्शन

ईश्वरदर्शन के लिए आवश्यक मनोभूमि

८९९. पंचभूतों से बना यह शरीर स्थूलशरीर है। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार – इनसे बना शरीर सूक्ष्मशरीर है। जिस शरीर के द्वारा ईश्वरीय आनन्द का अनुभव और उपभोग होता है, वह कारणशरीर है। तन्त्रशास्त्र में इसे कहते हैं, 'भागवती तनु।' इन सब से अतीत है 'महाकारण' (तुरीय)।

९००. बहिर्मुख अवस्था में मन स्थूल वस्तुओं को देखता है, उस समय वह अन्नमय कोश में रहता है। अन्तर्मुख अवस्था मानो बाहरी दरवाजे बन्द कर घर के भीतर प्रवेश करने जैसा है। उस समय मन सूक्ष्मशरीर से कारणशरीर में, फिर कारणशरीर से महाकारण में आ पहुँचता है। इस अवस्था में मन लीन हो जाता है, फिर उसके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता।

९०१. चैतन्यदेव की तीन अवस्थाएँ होती थीं –

(१) बाह्य दशा – इस समय उनका मन स्थूलशरीर तथा सूक्ष्मशरीर में रहता,

(२) अर्धबाह्य दशा – इस समय उनका मन कारणशरीर में कारणानन्द का उपभोग करता,

(३) अन्तर्दशा – इस समय उनका मन, महाकारण में विलीन हो जाता था।

वेदान्त के पंचकोशों के साथ इनका सुन्दर मेल है। स्थूल शरीर अर्थात् अन्नमय और प्राणमय कोश। सूक्ष्मशरीर अर्थात् मनोमय और विज्ञानमय कोश।

कारणशरीर अर्थात् आनन्दमय कोश। महाकारण पंचकोशों के अतीत है। जिस समय (चैतन्यदेव का) मन महाकारण में लीन हो जाता, उस समय वे समाधिमग्न हो जाते। इसी का नाम निर्विकल्प या जड़ समाधि है।

कुण्डलिनी तथा आध्यात्मिक जागृति

९०२. बिना कुण्डलिनी के जागे चैतन्य प्राप्त नहीं होता। मूलाधार में कुण्डलिनी सुप्त रहती है। जाग जाने पर वह स्वाधिष्ठान, मणिपुर आदि चक्रों को भेदती हुई अन्त में मस्तक में जा पहुँचती है, तभी समाधि होती है। यह सब मैंने प्रत्यक्ष देखा है।

९०३. ईश्वरदर्शन का एक लक्षण यह है, – भीतर से महावायु घरघराकर उठती हुई मस्तक पर जा पहुँचती है। तब समाधि होकर भगवान् के दर्शन प्राप्त होते हैं।

९०४. कुण्डलिनी-जागरण के समय होनेवाली अनुभूति का वर्णन करते हुए श्रीरामकृष्ण ने कहा था : "वह सर सर करती हुई पैर से सिर की ओर उठती है। जब तक वह सिर तक नहीं पहुँचती तब तक मेरे होश रहते हैं; पर ज्योंही वह सिर पर चढ़ जाती है त्योंही मैं बिलकुल बेसुध हो जाता हूँ। तब देखना-सुनना तक बन्द हो जाता है, फिर बातचीत करने का सवाल कहाँ! बातचीत करे कौन? – 'मैं' 'तुम' यह बुद्धि ही चली जाती है। मैं सोचा करता हूँ कि तुम लोगों को सब बताऊँ – उसके उपर उठते समय क्या-क्या दर्शन-वर्शन होते हैं सब बताऊँ। जब तक वह (क्रमशः हृदय और कण्ठ को दिखाते हुए) यहाँ तक या ज्यादा से ज्यादा यहाँ तक उठ आती है, तब तक बताया जा सकता है और मैं बताता भी हूँ; पर जैसे ही वह (कण्ठ को दिखाते हुए) इस जगह को पार कर ऊपर उठती है, वैसे ही मानो कोई मेरा मुहँ पकड़ दबाता हैं – तब सब गड़बड़ा जाता है, मैं कुछ सम्हाल नहीं पाता। (कण्ठ दिखाकर) इसके ऊपर चढने से जो दर्शन होते हैं उन्हें बताने के लिए जैसे ही मैं उनका विचार करता हूँ, वैसे ही मेरा मन झट से ऊपर चला जाता है – फिर मैं कुछ बता नहीं पाता।"

कण्ठ से ऊपरवाले चक्रों में मन के पहुँचने पर जो दर्शन होते हैं, उन्हे बतलाने के लिए श्रीरामकृष्ण ने कितनी बार प्रयत्न किया, पर उन्हें हर बार असफल होना पड़ा। एक दिन उन्होंने बड़े निश्चय के साथ उन बातों को बतलाना आरम्भ किया। मन को कण्ठ तक के चक्रों तक पहुँचने पर जो दर्शनादि होते हैं उनका उन्होंने भलीभाँति वर्णन किया। फिर भौंहों के मध्यस्थल का निर्देश करते हुए वे बोले, "मन के इस स्थान पर पहुँचते ही जीव को परमात्मा के दर्शन होते हैं और वह समाधिमग्न हो जाता है। तब परमात्मा और जीवात्मा के बीच केवल एक स्वच्छ, पतला-सा परदा ही आड़ रह जाता है। उस समय वह ऐसा देखता है कि –" इस प्रकार ज्योंही वे परमात्मा के दर्शन का विशेष रूप से वर्णन करने गए त्योंही वे समाधिस्थ हो गए! समाधि टूटने के बाद उन्होंने फिर बतलाने की कोशिश की, पर फिर वे समाधिस्थ हो गए! इस तरह बार-बार प्रयत्न करने के बावजूद असफल होकर उन्होंने अश्रुपूर्ण नेत्रों से कहा, "अरे, मैं तो सचमुच चाहता हूँ कि तुम लोगों को सब बातें बताऊँ, थोड़ा भी न छिपाऊँ, पर माँ किसी हालत में बताने नहीं देती – मुँह पकड़ लेती है।"

९०५. कुण्डलिनीशक्ति के सुषुम्नामार्ग से ऊपर उठते समय जो विभिन्न प्रकार के अनुभव होते हैं, उनके बारे में श्रीरामकृष्ण कहा करते – "वह जो सर सर करती हुई मस्तक पर चढ़ती है, वह हमेशा एक ही प्रकार से नहीं चढ़ती। शास्त्रों में उसकी पाँच प्रकार की गति का उल्लेख किया गया है। (१) पिपीलिकागति – जैसे चीटियाँ मुँह में खाने की चीज लेकर एक कतार में सुरसुराती हुई चली जाती हैं,, वैसे ही पैरों में एक किस्म की सुरसुराहट-सी शुरू होकर वह क्रमशः धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठने लगती हैं; जब वह सिर तक जा पहुँचती है तब समाधि लग जाती है। (२) भेक-गति – जिस प्रकार मेढक दो-तीन बार उछलकर थोड़ा रुक जाता है, फिर दो-तीन बार उछलकर थोड़ी देर रुक जाता है, ठीक उसी प्रकार कोई वस्तु पैरों की ओर से चलकर मस्तक पर चढ़ती हुई-सी प्रतीत होती है; उसके मस्तक पर चढते ही समाधि लग जाती है। (३) सर्पगति – जिस प्रकार

साँप लम्बे होकर या कुण्डली के आकार में चुपचाप पड़े रहते हैं, परन्तु जैसे ही सामने कोई शिकार देख लेते हैं या भयभीत हो जाते हैं, वैसे ही सरसराकर टेढ़ी-मेढ़ी गति से भागने लगते हैं, उसी प्रकार वह भी सरसराती हुई एकदम मस्तक पर जा पहुँचती है और तत्काल समाधि लग जाती है। (४) पक्षी-गति – पक्षी जिस प्रकार एक जगह से दुसरी जगह जाकर बैठते समय भुर्र से उड़कर कभी कुछ ऊँचे चढ़ते तो कभी कुछ नीचे उतर आते हैं, किन्तु कहीं विश्राम नहीं लेते, जहाँ बैठने की ठानी है एकदम वहीं जाकर बैठते हैं, उसी प्रकार वह सीधे मस्तक पर चढ़ जाती है और साधक को समाधि लग जाती है। (५) वानरगति– लंगूर जैसे एक पेड़से दुसरे पर जाते समय 'हूप' करते हुए एक डाली से दूसरी डाली पर जा पहुँचते हैं, वहाँ से फिर 'हूप' करके और एक डाली पर कूद जाते हैं, इस तरह दो-तीन छलाँगों में जहाँ जाने का विचार है वहाँ पहुँच जाते हैं, वैसे ही वह भी दो-तीन छलाँगों में मस्तक पर जा पहुँचती है और तत्काल समाधि लग जाती है।''

९०६. इन दर्शनों की वेदान्त के दृष्टिकोण से व्याख्या करते हुए वे कहते – ''वेदान्त में सप्तभूमिकाओं का उल्लेख है। प्रत्येक भूमि में भिन्न-भिन्न प्रकार के दर्शन होते हैं। मन स्वभावतः गुदा, लिंग और नाभि, इन तीन निम्न स्तर की भूमियों में ही चढ़ता-उतरता रहता है, उसकी दृष्टि इन्हीं में – खाना, पीना, मैथुन आदि में ही – निबद्ध रहती है। इन तीन भूमियों को पार कर यदि मन चौथी भूमि हृदय तक जा पहुँचे तो साधक को ज्योति के दर्शन होते हैं। किन्तु हृदय तक उठने के बाद भी कभी-कभी मन पुनः नीचे की तीन भूमियों में – गुदा, लिंग, नाभि में उतर आता है। हृदय का अतिक्रमण कर यदि किसी का मन पाँचवी भूमि कण्ठ तक जा पहुँचे तो फिर वह ईश्वरीय चर्चा छोड़कर अन्य किसी भी प्रकार की बातें – विषयसम्बन्धी बातें इत्यादि – नहीं कर सकता। उस अवस्था में मुझे ऐसा ही हुआ करता – यदि कोई विषयसम्बन्धी चर्चा करने लगता तो मुझे ऐसा लगता कि मानो मेरे सर पर कोई लाठी मार रहा हो; मैं दूर पंचवटी की ओर भाग जाता

ताकि वह सब सुनना न पड़े। विषयासक्त लोगों को देखते ही मारे डर के छिप जाता। आत्मीय-स्वजन मानो कुएँ जैसे प्रतीत होते, ऐसा लगता, मानो वे मुझे घसीट कर कुएँ में गिराने का प्रयत्न कर रहे हैं; एक बार गिर पड़ने से फिर उठ न सकूँगा। दम घुटने लगता, ऐसा लगता कि प्राण अब गए, तब गए। वहाँ से भाग आने पर तब कहीं शान्ति मिलती! कण्ठ में पहुँचने के बाद भी मन पुनः गुदा, लिंग, नाभि में उतर सकता है, इसलिए तब भी सावधान रहना चाहिए। फिर कण्ठ का अतिक्रमण कर यदि किसी का मन भौंहों के मध्यस्थल तक जा पहुँचे तो फिर उसके पतन की आशंका नहीं रहती। उस समय वह परमात्मा के दर्शन प्राप्त कर निरन्तर समाधिमग्न रहता है। इसके तथा सहस्रार के बीच केवल एक काँच की तरह स्वच्छ परदे भर की आड़ है। इस समय परमात्मा इतने निकट होते हैं कि साधक को ऐसा प्रतीत होता है, मानो मैं उनमें मिल गया हूँ, उनके साथ एक हो गया हूँ; परन्तु तब भी वह एक नहीं हुआ है। यहाँ से मन यदि कभी नीचे उतरे तो अधिक से अधिक कण्ठ या हृदय तक ही उतरता है – उसके नीचे नहीं उतर सकता। जीवकोटी के साधक यहाँ से फिर नहीं उतरते – उनके इक्कीस दिन तक निरन्तर समाधि में लीन रहने के बाद वह व्यवधान या परदा छिन्न हो जाता है तथा वे परमात्मा के साथ पूर्णतया मिलकर एक हो जाते हैं। सहस्रार में परमात्मा के साथ सम्पूर्ण एक हो जाना ही सप्तम भूमि में चढ़ना है।''

नकली भावावस्था

१०७. किसी व्यक्ति को संकीर्तन आदि में अत्यधिक भावोच्छ्वास के कारण एक प्रकार का आवेश होता था जो बाहर से भावसमाधि की तरह दिखाई देता था। श्रीरामकृष्ण ने उसे देखकर कहा था – ''ठीक-ठीक भावावस्था होने पर क्या कभी ऐसा होता है? उसमें तो मनुष्य डूब जाता है, स्थिर हो जाता है। यह क्या? स्थिर हो, शान्त हो! (दुसरे श्रोताओं से) ये सब किस प्रकार के भाव हैं जानते हो? जैसे, कड़ाही में छटाँक भर दूध डालकर

उसे चूल्हे पर औटाया जा रहा हो। उफान उठकर ऐसा दिखाई देता है मानो कितना दूध है, कड़ाही भरी हुई है। फिर उतारकर देखो तो दूध बिलकुल ही नहीं है; जो थोड़ासा था वह भी सूखकर कड़ाही से ही लिपट गया है।''

ईश्वरीय रूपदर्शन तथा ध्वनिश्रवण

९०८. ईश्वर का साक्षात्कार दो प्रकार का होता है-- एक में जीवात्मा तथा परमात्मा का योग होता है, दूसरे में ईश्वरीय रूपों के दर्शन होते हैं। पहला ज्ञान है और दूसरी भक्ति।

९०९. सचमुच ही ईश्वर को देखा जा सकता है, जैसे इस समय हम-तुम बैठकर बातचीत कर रहे हैं, इसी तरह उनके दर्शन तथा उनसे सम्भाषण हो सकते हैं। मैं सच कहता हूँ, शपथपूर्वक कहता हूँ।

९१०. ईश्वर विभिन्न रूपों में प्रकाशित होते हैं। शुद्धहृदय भक्त इन ईश्वरीय रूपों को देख सकते हैं। ईश्वर की कृपा से भीतर दिव्य भागवती तनु निर्मित होती है, उसमें दिव्य इन्द्रियाँ होती हैं; उन्हीं के द्वारा इन रूपों के दर्शन होते हैं। केवल सिद्ध पुरुष ही इन्हें देख सकते हैं।

९११. 'क्या ईश्वर के दर्शन इन चर्मचक्षुओं से ही होते हैं?' इस प्रश्न के उत्तर में श्रीरामकृष्ण ने कहा, ''नहीं, उन्हें इन चर्मचक्षुओं से नहीं देखा जा सकता। साधना करते करते साधक के भीतर एक प्रेम की देह उत्पन्न होती है, उसमें प्रेम के नेत्र, प्रेम के कर्ण होते हैं। उन्हीं प्रेमनेत्रों से उनके दर्शन होते हैं, उन्हीं प्रेमकर्णों से उनकी वाणी सुनाई देती है।''

९१२. अनाहत ध्वनि सदा अपने आप उठ रही है। यह प्रणव ध्वनि है। यह परब्रह्म से आ रही है। योगी इसे सुन पाते हैं। विषयासक्त जीव इसे नहीं सुन पाते। योगी समझ सकते हैं कि यह ध्वनि एक ओर नाभि में से उठती है तथा दूसरी ओर उस क्षीरोद-शायी परब्रह्म से।

समाधि तथा ब्रह्मज्ञान

९१३. समाधि-अवस्था में मन में किस प्रकार का अनुभव होता है? मछली को कुछ देर तक पानी के बाहर निकाल रखने के बाद फिर पानी

में छोड़ देने पर उसे जिस प्रकार का आनन्द होता है, समाधि में मन में उसी प्रकार का अनुभव होता है।

९१४. 'वह अत्यन्त दुर्गम स्थान है, वहाँ गुरु और शिष्य की भेंट नहीं होती।' ब्रह्मज्ञान की अवस्था ऐसी गूढ़ है कि उसके होने पर गुरु-शिष्य-भेदबुद्धि नहीं रह जाती।

९१५. जिस प्रकार दीपक के जलाते ही हजार वर्षों की अँधेरी कोठरी भी तुरन्त आलोकित हो जाती है, उसी प्रकार ज्ञान का प्रकाश जीव के हृदय से जन्मजन्मान्तर के अज्ञानान्धकार को दूर कर उसे प्रकाशित कर देता है।

९१६. 'क्या समाधि-अवस्था में आपको बाह्य जगत् का बोध रहता है?' इस प्रश्न के उत्तर में श्रीरामकृष्ण ने कहा था – "समुद्र में जल के नीचे पहाड़-पर्वत, घाटियाँ और दर्रे होते हैं, पर वे ऊपर से नहीं दिखाई देते। समाधि में भी अखण्ड सच्चिदानन्दसमुद्र के ही दर्शन होते हैं, अहं-बोध जाने कहाँ छिप जाता है!"

९१७. यथार्थ ज्ञान होने पर अहंकार नहीं रहता । समाधि हुए बिना ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता। भरे दोपहर के समय सूरज ठीक माथे के ऊपर रहता है। उस समय मनुष्य चारों ओर देखता है, पर उसे अपनी छाया नहीं दिखाई देती। वैसे ही, यथार्थ ज्ञान होने पर, समाधि होने पर अहंकाररूपी छाया नहीं रहती। यदि ठीक-ठीक ज्ञान होने के पश्चात् भी किसी में 'अहं' दिखाई पड़े तो ऐसा जानना कि वह 'विद्या का अहं' है, 'अविद्या का अहं' नहीं।

९१८. बुद्धदेव नास्तिक थे या नहीं इस प्रश्न के उत्तर में श्रीरामकृष्ण ने कहा था–"वे नास्तिक नहीं थे; वे अपनी उपलब्धियों के विषय में मुँह से कुछ कह नहीं सकें। 'बुद्ध' माने क्या है जानते हो? – 'बोध'स्वरूप का चिन्तन करते हुए वही बन जाना – बोधस्वरूप बन जाना। जिस अवस्था में स्वरूप का ज्ञान होता है वह 'अस्ति' तथा 'नास्ति' के बीच की अवस्था है। 'अस्ति' तथा 'नास्ति' प्रकृति के गुणधर्म हैं। यथार्थ सत्य 'अस्ति' 'नास्ति' के परे है।"

९१९. "ज्ञान अज्ञान दोनों के पार हो जाओ, तभी उन्हें जान पाओगे। नानात्व का ज्ञान ही अज्ञान है। पाण्डित्य का अहंकार भी अज्ञानजन्य ही है। एक ईश्वर सर्वभूतों में विराजमान हैं – इस निश्चयात्मक बुद्धि का नाम ज्ञान है। उन्हें विशेष रूप से जानना ही विज्ञान है।

"मान लो कि पैर में काँटा चुभा है। उस काँटे को निकालने के लिए और एक काँटे की जरूरत पडती है। फिर उस काँटे के निकल जाने पर दोनों काँटों को फेंक दिया जाता है। इसी प्रकार, अज्ञानरूपी काँटे को निकालने के लिए पहले ज्ञानरूपी काँटे को लाना पड़ता है। फिर उन्हें पाने के लिए ज्ञान-अज्ञान दोनों को फेंक देना पडता है; वे ज्ञान-अज्ञान के परे जो हैं!

"लक्ष्मण ने कहा था, 'राम! कितना आश्चर्य है! इतने बड़े ज्ञानी वसिष्ठदेव भी पुत्रशोक से अधीर होकर रो पड़े!' राम ने कहा, 'भाई! जिसमें ज्ञान है, उसमें अज्ञान भी है; जिसे एक का ज्ञान है, उसे अनेक का भी ज्ञान है। जिसे प्रकाश का अनुभव है, उसे अन्धकार का भी अनुभव है। ब्रह्म ज्ञान-अज्ञान के पार है, पाप-पुण्य के पार है, धर्म-अधर्म के पार है, शुचि-अशुचि के पार है।' "

एक व्यक्ति– "दोनों काँटों को फेंक देने के बाद क्या रह जाता है?"

श्रीरामकृष्ण– "नित्य शुद्ध बोधरूपम्। वह तुम्हें कैसे समझाऊँ? अगर तुमसे कोई पूछे, 'कहो घी कैसा लगा?' तो तुम उसे घी का स्वाद कैसे समझाओगे? ज्यादा से ज्यादा तुम उससे इतना ही कह सकते हो कि 'घी घी के ही जैसा लगा।' एक नववधू से उसकी सखी ने पूछा था, 'तेरे पति आए हुए हैं। अच्छा बहन, पति के आने पर किस तरह का आनन्द होता है? ' वह नववधू बोली, – 'बहन, तेरा विवाह होने के बाद जब तेरे पति आएँगे, तब तू यह समझ पाएगी; अभी तुझे मैं कैसे समझाऊँ?' "

समाधि-अवस्था का मनोभाव

९२०. चिड़िया के घोंसले को यदि नष्ट कर दिया जाए तो वह उड़ती हुई आकाश का आश्रय लेती है। इसी प्रकार, यदि देह और जगत् का बोध

चला जाए तो जीवात्मा मानो परमात्मा-रूपी आकाश में उड़ जाता है – समाधिमग्न हो जाता है।

९२१. जीव के मरे बिना शिव नहीं आता (अर्थात् जीवत्व के नष्ट हुए बिना शिवत्व प्राप्त नहीं होता)। फिर, शिव के शव बने सिवा माँ आनन्दमयी उसके वक्षःस्थल पर नृत्य नहीं करती (अर्थात् इस शिवत्व-अभिमान का भी अतिक्रमण करने के बाद ही सर्वोच्च आनन्द की अवस्था प्राप्त होती है)।

९२२. कपूर को जलाने पर कुछ भी नहीं बचता। विचार का अन्त हो जाने पर समाधि होती है; उस समय 'मैं' 'तुम' 'जगत्' इन सब का चिह्नमात्र नहीं रहता, मन परब्रह्म में लीन हो जाता है।

९२३. अहंकार के दूर हो जाने पर जीवत्व का नाश हो जाता है। इस अवस्था में समाधि में ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। जीव नहीं, ब्रह्म ही ब्रह्म का साक्षात्कार करता है।

९२४. किसी भक्त के यह कहने पर कि 'ईश्वर अवाङ्मनसगोचर हैं– मन, बुद्धि तथा वाणी के अगोचर हैं', श्रीरामकृष्ण ने कहा, "नहीं; यद्यपि वे इस मन के गोचर नहीं हैं, तथापि वे शुद्ध मन के गोचर हैं; इस बुद्धि के गोचर नहीं हैं, परन्तु शुद्ध बुद्धि के गोचर हैं। कामिनी-कांचन की आसक्ति के दूर होते ही शुद्ध मन और शुद्ध बुद्धि का उदय होता है। शुद्ध मन, बुद्धि और शुद्ध आत्मा एक ही हैं। वे इस शुद्ध बुद्धि के गोचर हैं। क्या ऋषि-मुनियों ने उनके दर्शन नहीं किए? उन्होंने शुद्ध बुद्धि के द्वारा शुद्ध आत्मा का साक्षात्कार किया था।"

९२५. ईश्वर विषयासक्त मन और बुद्धि के अगोचर हैं, परन्तु शुद्ध मन और शुद्ध बुद्धि के गोचर हैं। कामिनी-कांचन के ही कारण मन अशुद्ध होता है। जब तक भीतर अविद्या है तब तक मन और बुद्धि कभी शुद्ध नहीं हो सकते। वैसे तो मन और बुद्धि अलग अलग माने जाते हैं, परन्तु शुद्ध मन और शुद्ध बुद्धि एक हैं – दोनों चैतन्यस्वरूप शुद्ध आत्मा हैं। इसी चैतन्य-स्वरूप (शुद्ध आत्मा) में चैतन्य-स्वरूप (परमात्मा) का

साक्षात्कार होता है।

समाधि के पश्चात् होनेवाला विज्ञान

९२६. 'नेति नेति' करते हुए आत्मा की उपलब्धि करने का नाम ज्ञान है। 'नेति नेति' करते हुए समाधि-अवस्था प्राप्त होने पर आत्मा की उपलब्धि होती है।

विज्ञान यानी विशेष रूप से जानना। किसी ने दूध के बारे में सुना भर है, किसी ने दूध देखा है और किसी ने दूध पीया है। जिसने केवल सुना ही है वह अज्ञानी है; जिसने देखा है वह ज्ञानी है, जिसने पीया है उसे विज्ञान अर्थात् विशेष रूप से ज्ञान हुआ है। ईश्वर के दर्शन प्राप्त होने के पश्चात् उनके साथ परम आत्मीय की तरह वार्तालाप आदि होना – इसी का नाम विज्ञान है।

पहले 'नेति नेति' विचार करना पडता है। ईश्वर पंचभूत नहीं हैं; इन्द्रियाँ नहीं हैं; मन, बुद्धि, अहंकार नहीं हैं; वे सभी तत्त्वों के अतीत हैं। छत पर चढ़ने के लिए एक एक कर सब सीढियों का त्याग करते हुए जाना होता है। सीढियाँ छत नहीं हैं। किन्तु छत पर जा पहुँचने के बाद दिखाई देता है कि जिन ईंट, चूना, सुर्खी आदि वस्तुओं से छत बनी है, उन्ही से सीढियाँ भी बनी हैं। जो परब्रह्म है, वही यह जीव-जगत् बना है, चौबीस तत्त्व बना है। जो आत्मा है, वही पंचभूत बना है। तुम कहोगे, मिट्टी अगर आत्मा से ही बनी है तो वह इतनी कड़ी कैसे है? उनकी इच्छा से सब कुछ सम्भव हो सकता है। क्या रज-वीर्य से हड्डी और मांस का निर्माण नहीं होता है? समुद्र के झाग से बना पत्थर कितना कड़ा होता है!

विज्ञान लाभ होने के बाद संसार में भी रहा जा सकता है। उस समय स्पष्ट अनुभव होता है कि ईश्वर ही जीव-जगत् बने हैं, वे संसार से अलग नहीं हैं। ज्ञानलाभ करने के पश्चात् जब रामचन्द्र ने कहा कि वे संसार में नहीं रहेंगे तब दशरथ ने उन्हें समझाने के लिए वसिष्ठ को उनके पास भेज दिया। वसिष्ठ ने कहा 'राम! यदि संसार ईश्वर से रहित हो, तो तुम उसका

त्याग कर सकते हो।’ रामचन्द्र चुप्पी साधे रहे, क्योंकि वे भलीभाँति जानते थे कि ईश्वर को छोड़कर कुछ भी नहीं है।

९२७. जिस प्रकार संगीत में आरोह-अवरोह होते हैं – सा रे ग म प ध नि सा कहते हुए स्वर को ऊपर तक चढाकर फिर सा नि ध प म ग रे सा कहते हुए नीचे उतारा जाता है, उसी प्रकार समाधि में अद्वैतबोध का अनुभव करने के पश्चात् पुनः नीचे उतरकर ‘अहं’बोध का अवलम्बन कर रहा जाता है।

जैसे केले के स्तम्भ की परतों को छीलते छीलते माँझे तक पहुँचकर उसी को सार समझा। फिर विचार आया कि छिलकों का ही माँझा है, माँझे के ही छिलके हैं – दोनों मिलकर ही स्तम्भ बना है।

९२८. बेल को हाथ में लेकर विचार किया – खोपड़ा, बीज और गूदा उनमें से बेल कौनसा है? पहले खोपड़े को असार कहकर फेंक दिया, फिर उसी प्रकार बीजों को भी फेंक दिया; और केवल गूदे को अलग निकालकर कहा, यही बेल का सार है, यही असल में बेल है। फिर बाद में विचार आया कि जिसका गूदा है, उसी का खोपड़ा और बीज हैं, खोपड़ा, बीज और गूदा ये तीनों मिलकर ही बेल बना है। इसी प्रकार नित्य ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन करने के पश्चात् विचार आया – जो नित्य हैं, वे ही लीला में जगत् बने हैं।

९२९. एक बार श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्रनाथ* से पूछा, “तेरे जीवन का ध्येय क्या है?” नरेन्द्रनाथ ने कहा, “सदा समाधि में मग्न रहना।” तब श्रीरामकृष्ण ने कहा, “क्या तू इतना क्षुद्रबुद्धि है! समाधि के भी पार चला जा। समाधि तो तेरे लिए कुछ भी नहीं। उससे भी ऊँची अवस्था है।”

किसी दुसरे व्यक्ति से उन्होंने कहा था, “भाव और भक्ति ही सब कुछ नहीं है।”

९३०. और एक समय श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्रनाथ से यही प्रश्न पूछा।

---

* स्वामी विवेकानन्द का पूर्वनाम।

उस समय भी नरेन्द्रनाथ ने एक ही उत्तर दिया। सुनकर श्रीरामकृष्ण बोले, "छी, छी! तेरा इतना उच्च आधार है और तेरे मुँह में यह बात! मैंने तो सोचा था कि तू एक विशाल वटवृक्ष के समान होगा, तेरी छाया में हजारों लोगों को आश्रय मिलेगा; परन्तु वैसा न होकर तू केवल अपनी ही मुक्ति चाहता है! यह तो बहुत ही तुच्छ बात है! मुझे तो सभी भाव अच्छे लगते हैं। मैं एक ही सब्जी को कभी उबालकर, कभी तलकर, कभी उसकी चटनी बनाकर तो कभी रसेदार तरकारी बनाकर खाना पसन्द करता हूँ। मैं समाधि में निर्गुण भाव से ईश्वर का अनुभव ग्रहण करता हूँ, फिर उनके विभिन्न रूपों के साथ विभिन्न भावसम्बन्ध स्थापित कर आनन्द का उपभोग करता हूँ। तू भी ऐसा ही करना। तू एक ही आधार में ज्ञानी और भक्त दोनों बन।"

□□□

अध्याय १९

ईश्वरसाक्षात्कारी पुरुष

विभिन्न प्रकार के सिद्ध पुरुष

९३१. लोग नहीं समझते कि विज्ञान केवल इन्द्रियग्राह्य वस्तुओं के ही बारे में ज्ञान प्रदान करता है, इन्द्रियातीत राज्य की कोई खबर वह नहीं देता। प्राचीन ऋषियों ने ईश्वर का साक्षात्कार किया था। वे ही यह खबर दे सके थे; वे कह सके थे, 'ईश्वर का स्वरूप इस प्रकार है।'

९३२. जग में पाँच प्रकार के सिद्ध पुरुष दिखाई देते हैं :– (१) स्वप्नसिद्ध – ये स्वप्न में दर्शन प्राप्त कर सिद्ध हो जाते हैं। (२) मन्त्रसिद्ध – ये मन्त्र जपते हुए सिद्ध हो जाते हैं। (३) हटात्-सिद्ध – जैसे कोई गरीब आदमी जमीन के नीचे गड़ा खजाना पाकर या किसी धनी व्यक्ति की लड़की से विवाह कर एकाएक धनवान बन जाता है, उसी प्रकार कई पापी लोग अचानक स्वयं को बदलकर ईश्वरीय राज्य में पहुँच जाते हैं। इन्हें हटात्-सिद्ध कहा जाता है। (४) कृपासिद्ध – केवल ईश्वर की कृपा से ही जो सिद्ध हो गये हैं, वे कृपासिद्ध कहलाते हैं। जिस प्रकार किसी को जंगल की सफाई करते करते पुराने तालाब, मकान आदि मिल जाते हैं, फिर उसे स्वयं कष्ट उठाकर यह सब तैयार नहीं करना पड़ता, उसी प्रकार कई जन मामूली-सी साधना करते ही सिद्ध हो जाते हैं। (५) नित्यसिद्ध – ये जन्मतः सिद्ध होते हैं। जैसे लौकी या कुम्हड़े की बेल में पहले फल आते हैं, पीछे फूल, वैसे ही नित्य सिद्ध लोग पहले से सिद्ध होते हैं, बाद में वे लोकशिक्षा के लिए साधना करते हैं।

९३३. शाक्तमतानुसार सिद्ध पुरुष को 'कौल', वेदान्त-मतानुसार 'परमहंस' और 'बाउल' नामक वैष्णवमतानुसार 'साँई' कहते हैं।

९३४. कुछ लोग होते हैं जो आम खाकर मुँह पोंछकर बैठे रहते हैं, ताकि कोई जान न पाए। पर कोई-कोई ऐसे भी होते हैं कि उन्हें यदि एक भी आम मिल जाए तो वे उसे काटकर सब को थोड़ा-थोड़ा बाँटने के बाद स्वयं खाते हैं। इसी प्रकार कुछ सांधक होते हैं, जो ईश्वरदर्शन का आनन्द प्राप्त करने के बाद दूसरों को भी वह आनन्द चखाने का प्रयत्न करते हैं।

ईश्वरोपलब्धि के बाद की अवस्था

९३५. ईश्वरदर्शन कर लेने के बाद मनुष्य पूर्ण रूप से परिवर्तित हो जाता है।

९३६. किसी-किसी का चैतन्य जाग जाता है। परन्तु इसके कुछ लक्षण हैं। ऐसे व्यक्ति को ईश्वरीय प्रसंग छोड़ दूसरा कुछ भी सुनना या बोलना अच्छा नहीं लगता। जैसे चातक पक्षी। सात समुद्र, गंगा, यमुना आदि नदियाँ ये सभी जल से पूर्ण हैं, परन्तु चातक वृष्टि का ही जल चाहता है। मारे प्यास के छाती फटी जा रही है, फिर भी वह दूसरा जल नहीं पीता।

९३७. हृदय में ईश्वर के आगमन का लक्षण क्या है? जिस प्रकार उषा की लाली सूर्य के उदित होने की सूचना देती है उसी प्रकार निःस्वार्थता, पवित्रता तथा सज्जनता ईश्वर के आगमन की सूचना देती है।

९३८. जिस प्रकार मालिक किसी नौकर के घर जाने से पहले अपने भण्डार से साज-सामान, अंपने बैठने लायक आसन, भोजनसामग्री आदि भिजवा देता है, उसी प्रकार हरि भी साधक के हृदयभवन में आविर्भूत होने से पहले उसमें प्रेम, भक्ति, विश्वास, व्याकुलता आदि जगा देते हैं।

९३९. ईश्वरदर्शन होने का एक लक्षण है आनन्द। जैसे समुद्र में ऊपर तो तरंगों का खूब हिल्लोल-कल्लोल रहता है; परन्तु नीचे शान्त गम्भीर जल होता है।

९४०. ईश्वरीय आनन्द की प्राप्ति होने पर मनुष्य उस नशे में मस्त हो जाता है। शराब न पीते हुए भी वह पूरे शराबी के जैसा प्रतीत होता है। जब मैं अपनी जगज्जननी माँ के चरणों के दर्शन पाता हूँ तब मैं इतना मत्त हो जाता हूँ कि मानो मैंने पाँच बोतल शराब पी ली हो। ऐसी अवस्था में बिना विचार किए, चाहे जिसके हाथ का भोजन नहीं लिया जा सकता।

९४१. मनुष्य के सिद्ध होने पर उसकी अवस्था किस प्रकार की होती है? जैसे आलू, बैंगन आदि सिद्ध होकर* नरम हो जाते हैं, वैसे ही मनुष्य सिद्ध होने पर नरम हो जाता है, निरहंकार हो जाता है।

सिद्धिप्राप्ति के कुछ लक्षण

९४२. यथार्थ आत्मज्ञानी तो वही है जो जीवित रहते हुए भी मृत के समान है, अर्थात् जो मृतदेह की भाँति कामना-वासना से रहित हो गया है।

९४३. श्रीरामकृष्ण ने एक बार केशव सेन से कहा था–"यदि तुम और थोड़े उन्नत होकर उच्च तत्त्वों का प्रचार करने लगो तो तुम्हारा दल-बल कुछ नहीं टिक पाएगा। ज्ञान की अवस्था में दल-बल स्वप्नवत् मिथ्या प्रतीत होते हैं।"

९४४. ज्ञानलाभ होने पर ईश्वर दूर के नहीं प्रतीत होते। तब फिर 'वे' नहीं रह जाते, 'ये' बन जाते हैं। हृदय में ही उनके दर्शन होते हैं। वे सब के भीतर हैं, जो उन्हें खोजता है, वही पाता हैं।

९४५. जिस प्रकार जल में डुबोया हुआ कुम्भ भीतर-बाहर जल से पूर्ण रहता है, उसी प्रकार ईश्वर में मग्न हुआ व्यक्ति भीतर-बाहर सर्वत्र सर्वव्यापी ईश्वर को ही देखता है।

९४६. ईश्वरलाभ हो जाने के बाद सर्वत्र सभी वस्तु में वे ही विराजमान दिखाई देते हैं। परन्तु मनुष्यों में उनका अधिक प्रकाश है। फिर मनुष्यों में जो सत्त्वगुणी भक्त हैं, जिनमें कामिनी-कांचन के भोग की बिलकुल इच्छा नहीं, उनके भीतर और भी अधिक प्रकाश है।

---

* सीझकर

९४७. ईश्वरदर्शन के बाद भक्त को उनकी लीला देखने की अभिलाषा होती है। रावणवध के बाद जब रामचन्द्रजी राक्षसपुरी में प्रवेश करने लगे तो बूढ़ी निकषा* दौड़ती हुई भागने लगी। तब लक्ष्मण बोले, "राम! कैसे अचरज की बात है, देखो। यह निकषा कितनी बूढ़ी है, इसने कितना अधिक पुत्रशोक भोगा है, फिर भी इसे प्राणों का इतना भय है कि भाग रही है!" रामचन्द्रजी ने निकषा को अभय प्रदान करते हुए पास बुलवाकर उसके भागने का कारण पूछा। तब निकषा बोली, "राम, मैं इतने दिन जीवित हूँ इसीलिए तुम्हारी इतनी लीलाएँ देख पा रही हूँ। मुझे और भी जीने की इच्छा है, ताकि मैं तुम्हारी और भी लीलाएँ देख सकूँ।"

९४८. क्या मुक्त पुरुष के भीतर माया रहती है? शुद्ध सोने से गहने नहीं गढ़े जा सकते, उसमें थोड़ी-सी खोट मिलानी पड़ती है। इसी प्रकार पूर्ण रूप से मायारहित होने पर देह नहीं टिकती। देह के रहते थोड़ी माया रहती है।

९४९. जिस प्रकार बकरे का गला काटने के बाद भी वह थोडी देर तक छटपटाता रहता है, उसी प्रकार जीवन्मुक्त पुरुष जिस अहंभाव को लेकर संसार में विचरण करता है वह निर्जीव होता है, वह उसे काम-कांचन में आबद्ध नहीं कर सकता।

९५०. देह का जन्म हुआ है इसलिए मृत्यु भी होगी। किन्तु आत्मा के मृत्यु नहीं है। सुपारी पक जाने पर छिलके से अलग हो जाती है, परन्तु कच्ची सुपारी को छिलके से अलग करना बड़ी टेढ़ी खीर है। ईश्वर के दर्शन होने पर देहात्मबुद्धि चली जाती है, तब देह और आत्मा अलग अलग हैं यह अनुभव हो जाता है।

९५१. यहूदियों ने ईसा मसीह को क्रूस पर चढ़ा उनकी देह में कीलें ठोकीं, पर तब भी उन्होंने उनके कल्याण के लिए प्रार्थना की। यह कैसे सम्भव है? – गीले नारियल में कील ठोंकने से वह भीतरी गरी तक जा चुभती है; परन्तु नारियल के सूख जाने पर गरी खोपड़े से अलग हो जाती है, तब बाहर कील ठोंकने पर वह गरी को नहीं लगती। ईसा मसीह सूखे

* रावण की माता।

खोपड़े की तरह थे, वे देह से अलग थे। इसलिए देह के कष्ट से उन्हें पीड़ा नहीं पहुँच सकी। देह में कीलें ठोकने पर भी उन्होंने आनन्दित चित्त से वैरियों के कल्याण के लिए प्रार्थना की थी।

सिद्ध पुरुष की निर्विकारता

९५२. जब नारियल के पेड़ की टहनी झड़ जाती है तो उसकी जगह सिर्फ उसका निशान रह जाता है, जिससे पता चलता है कि इस स्थान पर किसी समय एक टहनी थी। इसी प्रकार जिसे ईश्वरलाभ हो जाता है उसमें अहंकार का केवल चिह्न भर रह जाता है, काम-क्रोधादि का केवल आकार मात्र रह जाता है। उसकी अवस्था बालक की सी हो जाती है। बालक का सत्त्व, रज, तम में से किसी भी गुण से लगाव नहीं होता। बालक के मन में किसी वस्तु के प्रति खिंचाव पैदा होने में जितना समय लगता है, उस वस्तु को छोड़ देने में भी उसे उतना ही समय लगता है। तुम चाहे तो उससे एक पाँच रुपए कीमत की धोती अधेली की गुड़िया दे फुसलाकर ले सकते हो – भले ही पहले वह बड़े जोर के साथ कहे, 'नहीं, मैं नहीं दूँगा, मेरे बाबूजी ने मोल ले दी है।' फिर, बालक के लिए सब समान हैं – ये बड़े हैं, वह छोटा है, यह ज्ञान उसे नहीं है। इसीलिए उसे जाति-पाँति का विचार नहीं है। माँ ने कह दिया, 'वह तेरा दादा है' फिर चाहे वह लुहार ही हो, वह उसके साथ बैठकर एक ही थाली में से रोटी खाएगा। बालक को घृणा नहीं, शुचि-अशुचि का ज्ञान नहीं। शौच के बाद हाथ नहीं मटियाता!

९५३. मुक्त पुरुष संसार में किस तरह रहते हैं, जानते हो? – पनडुब्बी चिड़िया की तरह; जो पानी में रहती तो है पर उसके बदन पर पानी नहीं लगता; अगर कभी थोड़ा-सा लग भी जाए तो एक बार बदन को झाड़ लेने से तुरन्त सब पानी झर जाता है।

९५४. साँप को पकड़ने जाओ तो तुरन्त काट खाता है, पर कोई अगर मन्त्र जान ले तो कई साँपों को अपने गले में लपेट कर खेल दिखला सकता है। उसी प्रकार, ज्ञानलाभ कर लेने के पश्चात् मनुष्य पर कामिनी-

कांचन का परिणाम नहीं होता।

९५५. मेढ़क के बच्चे की जब दुम झड़ जाती है तब वह पानी में भी रह सकता है और जमीन पर भी। अविद्यारूपी दुम के झड़ जाने पर मनुष्य मुक्त हो जाता है। तब वह सच्चिदानन्द भगवान् में भी मग्न रह सकता है और संसार में भी विचरण कर सकता है।

९५६. हवा चन्दन की सुगन्ध और विष्ठा की दुर्गन्ध दोनों को लेकर बहती है, परन्तु उनमें से किसी के भी साथ मिल नहीं जाती। इसी प्रकार, मुक्त पुरुष भी संसार में रहते तो हैं परन्तु वे संसार के साथ मिलकर एक नहीं हो जाते।

९५७. लोहा यदि एक बार पारस पत्थर को छूकर सोना बन जाए, तो फिर उसे चाहे मिट्टी के भीतर गाड रखो, चाहे कूड़े में फेंक दो, वह सोना ही बना रहेगा, फिर लोहा नहीं बनेगा। जिन्होंने भगवान् का लाभ कर लिया है उनकी अवस्था भी इसी प्रकार होती है। वे चाहे संसार में रहें चाहे वन में, उन्हें किसी प्रकार का दोष छू नहीं सकता।

९५८. दूध को पानी में छोड़ दो तो वह पानी के साथ मिलकर एक हो जाता है, परन्तु यदि उसका मक्खन बना लिया जाए तो फिर वह पानी में नहीं मिलता, तब वह पानी पर तैरने लगता है। इसी तरह, ईश्वरलाभ कर लेने के पश्चात् मनुष्य हजारों संसारासक्त बद्ध जीवों के बीच रहकर भी स्वयं बद्ध नहीं होता।

९५९. जिसने जीव, जगत् तथा ब्रह्म इन तीनों के एकत्व की उपलब्धि कर ली है, उसे अच्छे और बुरे का बन्धन बाँध नहीं सकता।

सिद्ध पुरुष अच्छे और बुरे के पार होते हैं

९६०. पहाड़ पर चढ़ने के पहले पठार पर, छोटी-छोटी घास और बड़े-बड़े पेड़ देखकर मनुष्य सोचता है, 'यह घास कितनी छोटी है और ये पेड़ कितने बड़े हैं!' परन्तु जब वह पहाड़ पर चढकर देखता है तो उसे घास और बड़े पेड़ सब एक से दिखाई देते हैं। इसी प्रकार, सांसारिक दृष्टि

से देखने पर छोटे-बड़े का कितना भेद दिखाई पडता है! कहाँ राजा और कहाँ भिखारी! कहाँ माता-पिता और कहाँ सन्तान! परन्तु ईश्वर की ओर दृष्टि पड़ते ही सब समान हो जाते हैं। तब उन्हीं की सेवा परमकर्तव्य बन बैठती है।

९६१. रानी रासमणि के कालीमन्दिर में एक बार एक पागल-सा साधु आया था। एक दिन उसे कुछ खाने नहीं मिला, पर उसने किसी से कुछ नहीं माँगा। एक जगह एक कुत्ते को जूठी पत्तलों में से जूठन खाते देख वह उसका कान पकड़कर बोला, 'तुम खाते हो, हमको नहीं देते?' और उसी के साथ खाने लग गया। फिर काली-माता के मन्दिर में जाकर उसने ऐसी अपूर्व स्तवस्तुति की कि मन्दिर मानो कम्पित हो उठा। बाद में जब वह जाने लगा तब श्रीरामकृष्ण ने अपने भानजे हृदय को उसके साथ जाकर देखने कहा। हृदय के उसके पीछे-पीछे थोड़ी दूर जाते ही उस साधु ने पलटकर कहा, ' तू क्यों आ रहा है?' हृदय ने कहा, 'मैं कुछ उपदेश चाहता हूँ।' तब साधु ने कहा, 'जिस समय तुझे यह नाले का पानी और वह गंगा का पानी दोनों एक प्रतीत होंगे; जिस समय यह शहनाई की आवाज और कोलाहल की आवाज एक ही मालूम होंगी, उस समय तुझे ठीक-ठीक ज्ञानलाभ होगा।' श्रीरामकृष्ण कहा करते, "उस व्यक्ति की ज्ञानोन्माद-अवस्था थी। सिद्ध पुरुष संसार में बालकवत्, पिशाचवत् या उन्मत्तवत् विचरण किया करते हैं।"

९६२. परमहंस की अवस्था बालक जैसी होती है। पाँच वर्ष के बालक की तरह उसे स्त्री और पुरुष में भेद नहीं मालूम होता। परन्तु फिर भी संसार के सामने आदर्श रखने के लिए उसे कामिनी से सावधानी बरतनी चाहिए।

९६३. एक बार जनक राजा की सभा में एक संन्यासिनी आई। उसे देख जनक ने सिर नीचा कर लिया, आँखें झुका लीं। यह देख संन्यासिनी बोलीं, 'हे जनक! तुम्हें अब भी स्त्रियों को देख इतना भय लगता है!' पूर्णज्ञान हो जाने पर पाँच साल के बच्चे का सा स्वभाव हो जाता है – तब 'यह स्त्री है और यह पुरुष' इस प्रकार भेदबुद्धि नहीं रहती।

९६४. यद्यपि संसार में रहनेवाले ज्ञानी में कुछ दाग लग सकता है, परन्तु उस दाग के कारण कोई हानि नहीं होती। चन्द्रमा में कालिमा है तो

सही, पर उससे उसके प्रकाश में कोई बाधा नहीं आती।

९६५. लोहे की तलवार को पारस पत्थर का स्पर्श करवाने से वह सोने की बन जाती है। उसका आकार पहले जैसा ही रह जाता है, परन्तु उससे फिर हिंसा के कार्य नहीं हो सकते। इसी प्रकार, ईश्वर के पादपद्मों का स्पर्श कर लेने पर यद्यपि मनुष्य के आकार में कोई बदल नहीं होता, तथापि उसके द्वारा फिर किसी प्रकार का दोषयुक्त काम नहीं हो सकता।

९६६. अद्वैतज्ञान को आँचल में बाँधकर जो चाहो करो, तुम्हें कोई दोष नहीं लगेगा।

९६७. एक बार भीड़ में से चलते हुए एक साधु का पैर एक दुष्ट आदमी को लग गया। इस पर उस आदमी ने मारे क्रोध के आगबबूला हो उस साधु को इतनी बुरी तरह पीटा कि साधु बेहोश होकर गिर पड़ा। शिष्यों के काफी देर तक सेवा-शुश्रूषा करने के बाद जब उसमें कुछ होश आया तब एक शिष्य ने पूछा, 'महाराज, बताइए तो भला कौन आपकी सेवा कर रहा है?' साधु ने कहा 'जिसने मुझे मारा था।' यथार्थ साधु को शत्रु और मित्र में भेद नहीं दिखाई देता।

सिद्ध पुरुष तथा कर्म

९६८. जिसे भगवान् के दर्शन हुए हैं वह कभी पागल की तरह तो कभी पिशाच की तरह घूमता है – उसे शुचि-अशुचि का भेदभाव नहीं रहता। कभी तो वह जड़ की तरह हो जाता है – अन्दर-बाहर ईश्वर के दर्शन कर निर्वाक्, निःस्तब्ध बन जाता है। कभी वह बालक जैसा रहता है – किसी चीज पर लगाव नहीं, बालक की तरह धोती को बगल में दबाए घूमता है। इस अवस्था में वह कभी बालभाव में रहता है, कभी किशोरभाव में हँसी-दिल्लगी करता है, तो कभी युवकभाव में रहता है। किन्तु जब वह लोकहित के लिए कर्म करता है, लोकशिक्षा देता है, उस समय उसमें सिंह के समान बल आ जाता है।

९६९. समाधि होने पर सब कर्मों का त्याग हो जाता है। पूजा-जप

आदि कर्म, वैषयिक कर्म – सब का त्याग हो जाता है। शुरू-शुरू में कर्म की बड़ी चहल-पहल रहती है। पर मनुष्य ईश्वर की ओर जितना अधिक अग्रसर होता है उतना ही कर्म का आडम्बर कम होता जाता है। यहाँ तक कि धीरे-धीरे उनका नाम-गुणगान तक बन्द हो जाता है। (साधारण ब्राह्मसमाज के सदस्य शिवनाथ शास्त्री के प्रति–) जब तक तुम सभा में नहीं आते तब तक तुम्हारे नाम, गुण आदि की काफी चर्चा होती रहती है; ज्योंही तुम आ पहुँचते हो त्योंही वे सब बातें बन्द हो जाती हैं। तब तुम्हारे दर्शन में ही आनन्द मिलता है। तब लोग कहने लगते हैं, 'ये शिवनाथबाबू आ रहे हैं।' तुम्हारे बारे में अन्य सब बातें बन्द हो जाती हैं।

९७०. बहू गृहस्थी के तरह-तरह के कामों में सदा उलझी रहती है। पर जब उसके गर्भ में सन्तान आ जाती है तो उसके सारे काम छूट जाते हैं। बच्चा पैदा हो जाने के बाद तो उसे दूसरे काम-काज अच्छे ही नहीं लगते, तब वह दिन भर अपने बच्चे की ही देखभाल करती रहती है, उसे चूमती-पुचकारती हुई आनन्द में डूबी रहती है। मनुष्य अज्ञान-अवस्था में नाना प्रकार के कर्म करता है, किन्तु ईश्वर के दर्शन पा जाने पर फिर उसे वे कर्म अच्छे नहीं लगते, तब उसे ईश्वर की सेवा छोड़ दूसरे काम करने में रुचि नहीं आती, वह ईश्वर को क्षण भर के लिए भी छोड़ना नहीं चाहता।

९७१. यदि तुम्हें ईश्वर का लाभ हो जाए तो फिर संसार असार नहीं प्रतीत होगा। जिसने उन्हें प्राप्त कर लिया है वह देखता है कि वे ही यह जीव-जगत् बने हैं! वह जब बच्चों को खिलाता है तो समझता है कि वह गोपाल को खिला रहा है; पिता-माता को ईश्वर-ईश्वरी की दृष्टि से देखता और उनकी सेवा करता है। ईश्वर को जानकर संसार में रहने से अपनी ब्याहता पत्नी के साथ प्रायः सांसारिक सम्बन्ध नहीं रहता। दोनों भक्त बन जाते हैं और सदा ईश्वरसम्बन्धी वार्तालाप करते हैं, ईश्वरीय प्रसंग में ही मग्न रहते हैं। वे दोनों भक्तों की सेवा करते हैं। सर्वभूतों में ईश्वर विद्यमान हैं, वे उन्हीं की सेवा करते हैं।

□□□

अध्याय २०

श्रीरामकृष्ण के दिव्य अनुभवों का निजमुखकथित विवरण

पूर्वायुष्य के अनुभव

९७२. किशोर वय में अध्ययन में मन न लगाने के कारण अपने बड़े भाई द्वारा किए गए तिरस्कार के उत्तर में श्रीरामकृष्ण ने कहा था – "मैं दालरोटी प्राप्त करानेवाली विद्या नहीं सीखना चाहता; मैं तो ऐसी विद्या सीखना चाहता हूँ जिससे ज्ञान का उदय होकर मनुष्य वास्तव में कृतार्थ हो जाता है।"

९७३. श्रीरामकृष्ण की साधना की प्रारम्भिक अवस्था में एक दिन उनके भानजे हृदय ने उन्हें रात्रि के समय निर्जन जंगल में वस्त्र तथा यज्ञोपवीत उतारकर नग्न हो ध्यान करते हुए देखा। उसके पूछने पर कि वस्त्र तथा यज्ञोपवीत को उतार डालने का क्या कारण है, श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया– "इस तरह पाशमुक्त होकर ध्यान करना चाहिए। जन्म से ही मनुष्य घृणा, लज्जा, कुल, शील, भय, मान, जाति तथा अभिमान – इन अष्टपाशों द्वारा आबद्ध रहता है। यज्ञोपवीत भी 'मैं ब्राह्मण हूँ, सब से श्रेष्ठ हूँ' इस प्रकार के अभिमान का चिह्न है, यह भी एक पाश ही है। माँ को पुकारना हो तो इन सब पाशों को त्यागकर एकाग्र चित्त से पुकारना चाहिए।"

९७४. उस समय जगज्जननी के दर्शन के लिए श्रीरामकृष्ण इतने व्याकुल हो गए थे कि उसके बिना उनका जीवन असह्य हो उठा था। एक दिन वे इस जीवन का अन्त करने ही जा रहे थे कि उसी समय सहसा

उन्हें जगज्जननी के दर्शन हुए। इस दर्शन का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है – "घर, द्वार, मन्दिर सब जाने कहाँ विलुप्त हो गए – मानो कहीं कुछ भी नहीं रहा! एक असीम, अनन्त, चेतन ज्योतिःसमुद्र दिखाई देने लगा! जिधर जहाँ तक देखता उधर ही चारों ओर से उसकी उज्जवल तरंगराशियाँ जोरों से गरजती हुई मुझे ग्रस्त करने के लिए प्रचण्ड वेग के साथ बढ़ी आती दिखाई देतीं। देखते ही देखते वे मेरे उपर आ पड़ीं और क्षणभर में उन्होंने मुझे न जाने कहाँ डुबो दिया! मैं हाँफता तथा गोते खाता हुआ अचेत होकर गिर पड़ा।" इसी प्रसंग का वर्णन करते हुए किसी दूसरे समय उन्होंने कहा था – "सहसा माँ का अद्भुत दर्शन पाकर मैं बेसुध होकर गिर पड़ा। उसके बाद क्या हुआ, वह दिन तथा दूसरा दिन किस तरह बीता, मैं कुछ भी नहीं जान पाया! किन्तु मेरे हृदय में ऐसा एक घनीभूत आनन्द का स्रोत प्रवाहित हो रहा था जिसका मुझे पहले कभी अनुभव नहीं हुआ था। मुझे माँ के प्रकाश की साक्षात् उपलब्धि हो रही थी।"

९७५. इस दर्शन के पश्चात् श्रीजगदम्बा के चिन्मयी रूप के सतत अबाधित अविरत दर्शन पाने के निमित्त श्रीरामकृष्ण के मन में निरन्तर व्याकुल क्रन्दन का प्रादुर्भाव हुआ। समय-समय पर जब यह भाव अत्यधिक तीव्र हो उठता तब वे यातना से छटपटाते हुए धरती पर लोटकर इस तरह जोरों से रोने लगते कि चारों ओर लोगों की भीड़ लग जाती। अपनी उस समय की मानसिक स्थिति का वर्णन करते हुए श्रीरामकृष्ण ने कहा है – "चारों ओर लोगों के खड़े रहने पर भी मुझे वे छाया या चित्र में अंकित मूर्ति की भाँति अवास्तविक प्रतीत होते थे तथा इसलिए मेरे मन में तनिक भी लज्जा या संकोच उत्पन्न नहीं होता था! इस प्रकार की असहनीय यातना से कभी-कभी मैं बाह्यज्ञानरहित हो जाता तथा उसके बाद ही मुझे माँ की वर-अभयदायिनी चिन्मयी मूर्ति के दर्शन होते! मैं देखता कि वह मूर्ति हँस रही है, बातचीत कर रही है तथा तरह-तरह से मुझे सान्त्वना और शिक्षा दे रही है!"

९७६. स्वयं की उस समय की अवस्था का वर्णन करते हुए श्रीरामकृष्ण

ने कहा है – "शरीर के संस्कार की ओर बिलकुल ध्यान न रहने के कारण उस समय सिर के केश बढ़कर, धूल-मिट्टी लगकर अपने आप उनकी जटा बन गई थी। ध्यान करने के लिए बैठने पर मन की एकाग्रता के कारण देह स्थाणु की भाँति इस प्रकार अचल हो जाती थी कि चिड़ियाँ उसे जड़ वस्तु समझकर निःसंकोच सिर पर बैठी रहतीं तथा केशों में लिपटी धूल को चोंच से कुरेद-कुरेदकर उसमें अनाज के दाने ढूँढ़ा करतीं। फिर कभी-कभी भगवद्वीरह में अधीर होकर मैं धरती पर मुँह को इस तरह रगड़ने लगता कि मुँह छिलकर जगह-जगह खून निकलने लगता। इस प्रकार उस समय ध्यान, भजन, प्रार्थना, आत्मनिवेदन आदि में मेरा सारा दिन किस तरह से निकल जाता, इसका मुझे होश ही नहीं रहता था। फिर जब सन्ध्या हो जाती और चारों ओर से शंख-घण्टों की ध्वनि होने लगती तब ध्यान में आता – दिन डूब गया, और एक दिन व्यर्थ चला गया, माँ के दर्शन नहीं मिले। तब तीव्र क्षोभ से मेरे प्राण ऐसे व्याकुल हो उठते कि फिर मुझसे शान्त नहीं रहा जाता; मैं पछाड़ खाकर धरती पर गिर पड़ता और 'माँ, अब भी दर्शन नहीं दिए' कहकर आर्तनाद कर रोते हुए यातना से छटपटाने लगता। मेरा रुदन चारों ओर गूँजा करता। लोग कहते, 'पेट में शूल का दर्द उठ रहा है, इसीलिए इतना रो रहा है।' "

९७७. विवाह के पश्चात् दक्षिणेश्वर लौट आने के बाद शीघ्र ही श्रीरामकृष्ण की पहले की दिव्योन्माद अवस्था फिर लौट आई। तत्कालीन दिव्योन्माद अवस्था के बारे में उन्होंने कहा है – "साधारण जीवों के शरीर-मन में आध्यात्मिक भावों की प्रबलता के कारण – वैसा तो दूर रहे – यदि उसका चतुर्थांश भी उथल-पुथल उत्पन्न हो जाए तो शरीर तत्काल नष्ट हो जाता है। दिनरात में अधिकांश समय माँ के किसी न किसी प्रकार के दर्शनादि पाकर मैं उसी में भूला रहता था, इसी से मेरी रक्षा हो सकी, अन्यथा (अपनी ओर दिखाते हुए) इस चोले का टिका रहना असम्भव था। इस समय से लेकर लगातार छह वर्ष तक रंचमात्र भी नींद नहीं हुई। नेत्र पलकशून्य बन गए थे, बीच-बीच में प्रयत्न करने पर भी पलक बन्द नहीं कर पाता था।

कितना समय बीता इसकी सुध नहीं रहती थी तथा अपनी शरीर-रक्षा की बात प्राय: भूल ही गया था। शरीर की ओर जब कभी थोड़ा-बहुत ध्यान जाता, तब उसकी दशा देख अत्यन्त भय उत्पन्न होता; सोचता, क्या मैं पागल तो नहीं हो चला हूँ! दर्पण के सामने खड़ा हो आँख में अँगुली डालकर देखा करता कि ऐसा करने पर पलकें गिरती हैं या नहीं। किन्तु इतने पर भी आँखें पूर्ववत् पलकशून्य ही बनी रहतीं। मैं भय से रो पड़ता और माँ से कहता, 'माँ, तुझे पुकारने और तुझ पर एकान्त विश्वास के साथ निर्भर होने का यही फल निकला? तूने मेरे शरीर में यह भयंकर रोग दे दिया?' फिर दूसरे ही क्षण कहता, 'जो होना है हो, शरीर चाहे तो छूट जाए, परन्तु तू मुझे न छोड़ना। मुझे दर्शन दे, मुझ पर कृपा कर; माँ, मैंने तेरे चरणकमलों में एकान्त शरण ली है, तेरे बिना मेरी दूसरी कोई भी गति नहीं है!' इस प्रकार रोते रोते मन फिर अद्भुत उत्साह से पूर्ण हो उठता, तब शरीर अत्यन्त तुच्छ, हेय प्रतीत होता तथा माँ के दर्शन पाकर और अभयवाणी सुनकर मैं आश्वस्त हो जाता।''

९७८. प्रथम अवस्था में श्रीरामकृष्ण का शुद्ध मन ही उनका प्रथम गुरु था। इस विषय में श्रीरामकृष्ण ने कहा है – ''देखने में मेरे ही जैसा एक युवक संन्यासी मेरे भीतर से जब चाहे तब बाहर निकलकर मुझे सब विषय में उपदेश दिया करता था। उसके इस प्रकार बाहर निकलने पर मुझमें कभी तो किंचित् बाह्यज्ञान बना रहता, फिर कभी वह पूर्ण रूप से विलुप्त हो जाता और मैं जड़ की तरह निश्चेष्ट पड़ा रहकर केवल उसी की गतिविधियों को देखता तथा बातों को सुनता रहता। उसके मुख से जो कुछ सुना था, ब्राह्मणी, तोतापुरी आदि ने आकर मुझे पुन: उन्हीं तत्त्वों का उपदेश दिया। उसके निकट मैंने जो जाना था, वही उन्होंने फिर बताया।''

तान्त्रिक तथा अन्य साधनाएँ

९७९. भैरवी ब्राह्मणी के निर्देशानुसार की गई अपनी तन्त्रसाधना के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण ने कहा है – ''ब्राह्मणी दिन में दूर-दूर के नाना स्थानों

में घूम-घूमकर तन्त्रसाधना के लिए आवश्यक दुर्लभ वस्तुओं का संग्रह करती तथा रात्रि में बिल्ववृक्ष के नीचे या पंचवटी में सारी व्यवस्था करके मुझे बुलाती तथा मेरे द्वारा उन वस्तुओं की सहायता से श्रीजगदम्बा का विधिवत् पूजन करवाने के पश्चात् मुझे जप-ध्यान में निमग्न होने कहती। किन्तु पूजन समाप्त कर मैं प्राय: जप नहीं कर पाता था; मन इतना तल्लीन हो जाता कि माला फेरना आरम्भ करते ही मैं समाधिमग्न हो जाता तथा मुझे उस अनुष्ठान के शास्त्रनिर्दिष्ट फल का प्रत्यक्ष अनुभव होता। इस प्रकार, उस समय मुझे एक के बाद एक इतने दर्शन, इतने अनुभव और इतनी अद्भुत-अद्भुत उपलब्धियाँ हुई कि उनकी सीमा नहीं की जा सकती। विष्णुक्रान्ता में प्रचलित चौंसठ तन्त्रों में जितने प्रकार की साधनाओं का उल्लेख है, ब्राह्मणी ने उन सभी का एक एक करके अनुष्ठान करवाया था। उनमें ऐसी कठिन-कठिन साधनाएँ थी, जिन्हें करने में प्रवृत्त होकर अधिकांश साधक पथभ्रष्ट हो जाया करते हैं; परन्तु माँ की कृपा से मैं उन सभी में उत्तीर्ण हो गया।"

९८०. कुण्डलिनी-जागरण के अनुभव का वर्णन करते हुए श्रीरामकृष्ण ने कहा है – "जब मेरी वह अवस्था हुई तब मेरे ही जैसा एक व्यक्ति आकर मेरी इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना सभी नाड़ियों को झाड़ गया। वह षट्चक्रों के एक-एक कमल में अपनी जिह्वा को प्रविष्ट करता और वे अधोमुख कमल खिलकर ऊर्ध्वमुख हो उठते। अन्त में सहस्रार कमल प्रस्फुटित हो गया।"

९८१. अपनी इस्लामधर्म-साधना के समय के मनोभाव का वर्णन करते हुए श्रीरामकृष्ण ने कहा है – "उस समय मैं 'अल्लाह' मन्त्र जपा करता, मुसलमानों की तरह कच्छ न लगाते हुए धोती पहनता, त्रिसन्ध्या नमाज पढ़ता। मन में से हिन्दू भाव के पूरी तरह विलुप्त हो जाने के कारण हिन्दू देवदेवियों को प्रणाम करने की बात तो दूर रही, उनके दर्शन तक करने की इच्छा नहीं होती थी। इस तरह तीन दिन व्यतीत होने के बाद उस मत की साधना का फल सम्यक् रूप से हस्तगत हुआ।"

९८२. एक समय मैंने हिन्दू, मुसलिम, ईसाई आदि विभिन्न धर्मों की साधना की है; फिर मैं हिन्दू धर्म के अन्तर्गत शाक्त, वैष्णव, वेदान्त

आदि विभिन्न मतों के अनुसार साधनाएँ कर चुका हूँ। मैंने देख लिया है कि विभिन्न मार्गों से होते हुए सभी उस एक ही ईश्वर की ओर अग्रसर हो रहे हैं।

९८३. अपने भतीजे अक्षय की मृत्यु देखकर श्रीरामकृष्ण को मनुष्य कैसे मरता इसका अनुभव हुआ। इसका वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है – "अक्षय मर गया – उस समय मुझे कुछ नहीं हुआ। मनुष्य कैसे मरता है यह खड़े खड़े अच्छी तरह देखा। देखा – मानो म्यान के अन्दर जो तलवार थी उसे म्यान से बाहर निकाल लिया गया; तलवार को कुछ नहीं हुआ, वह जैसी थी वैसी ही रही – म्यान पड़ी रह गई! देखकर मुझे बहुत आनन्द हुआ – मैं खूब हँसा, गाया, नाचा! फिर लोग उसकी देह को जला-वला आए। इसके दूसरे दिन (कमरे के पूर्व की ओर कालीमन्दिर के प्रांगण के सामनेवाले बरामदे की ओर संकेत करते हुए) वहाँ पर खड़ा था। अचानक अक्षय के लिए प्राणों में ऐसी पीड़ा होने लगी कि लगा, कोई मानो मेरे प्राणों को भीतर से अँगोछे की तरह निचोड़ रहा है। मैंने सोचा, 'माँ, मेरा अपने पहनने के वस्त्र से ही सम्बन्ध नहीं रहता, फिर भतीजे के साथ ऐसा कौनसा सम्बन्ध था! ऐसा होते हुए भी जब मुझीको इतना कष्ट हो रहा है तो गृहस्थों को शोक के मारे कितना कष्ट होता होगा! सचमुच, तू मुझे यही दिखा रही है!' "

निर्विकल्प समाधि का अनुभव

९८४. अपने निर्विकल्प समाधि के अनुभव का वर्णन करते हुए श्रीरामकृष्ण ने कहा है – "दीक्षा प्रदान करने के पश्चात् न्यांगटा* मुझे नाना सिद्धान्तवचनों का उपदेश देने लगा। उसने मुझसे मन को सर्वतोभावेन विकल्परहित कर आत्मस्वरूप के ध्यान में निमग्न हो जाने के लिए कहा। किन्तु मेरी ऐसी दशा हुई कि ध्यान करने बैठकर बार-बार प्रयत्न करने पर भी मैं मन को विकल्परहित नहीं कर सका; नामरूप की सीमा को लाँघ

* श्रीरामकृष्ण की अद्वैतमतसाधना के गुरु तोतापुरीजी।

न सका। अन्य सभी विषयों से मन सहज ही में सिमट आने लगा, परन्तु मन के इस प्रकार सिमट आते ही उसमें श्रीजगदम्बा की चिरपरिचित चिद्घन उज्ज्वल मूर्ति ज्वलन्त-जीवन्त रूप से उदित होकर मुझे सब प्रकार के नाम-रूपों का त्याग करना होगा यह बात एकदम भुला देने लगी। सिद्धान्तवचनों के श्रवणपूर्वक ध्यान में बैठने के बाद जब बारम्बार ऐसा होने लगा, तब मैं निर्विकल्प समाधि के विषय में एक प्रकार से निराश हो गया तथा आँखें खोलकर न्यांगटा से बोला, 'नहीं' बना; मन को सम्पूर्ण रूप से विकल्परहित कर आत्मस्वरूप के ध्यान में मग्न नहीं हो पाया।' तब न्यांगटा ने अत्यन्त रुष्ट होकर तीव्र तिरस्कार करते हुए कहा, 'क्यों! नहीं होगा?' अर्थात – क्या! 'नहीं होगा' इतनी बड़ी बात! ऐसा कहकर उसने कुटिया के भीतर इधर-उधर देखा। उसे एक टूटे काँच का टुकड़ा दिखाई पड़ा। उसे उठाकर उसकी सुई की तरह तीक्ष्ण नोंक को मेरी भौंहों के बीच में जोर से चुभाते हुए वह बोला, 'इस बिन्दु पर मन को एकाग्र करो।' तब मैं पुनः दृढ़ संकल्पपूर्वक ध्यान करने लगा और पूर्ववत् मन में श्रीजगदम्बा की श्रीमूर्ति के उदित होते ही ज्ञान को खड्ग मानते हुए उसके द्वारा मैंने मन ही मन उस मूर्ति के दो टुकड़े कर डाले! तब फिर मन में किसी प्रकार का विकल्प नहीं रहा; मन एकदम तीव्र वेग के साथ समस्त नाम-रूप के राज्य के ऊपर उठ गया तथा मैं समाधिनिमग्न हो गया।''

९८५. ''जिस अवस्था में पहुँचकर साधारण जीव वापस नहीं लौटते, जिसमें केवल इक्कीस दिन तक रहने के बाद उनका शरीर सूखे पत्ते की तरह झड़ जाता है, उस अवस्था में मैं छह महीने था। कब किधर से दिन आता, रात गुजरती – पता ही नहीं चलता था। मृत व्यक्ति के नाक-मुँह में जिस प्रकार मक्खियाँ घुसा करती हैं उसी प्रकार मेरे भी मुहँ में घुसा करतीं, किन्तु मुझे सुध नहीं रहती। धूल में लिपटकर केशों की जटा बन गई थी। उस बेहोशी में ही कब शौच आदि हो जाता, इसकी भी सुध नहीं रहती। यह देह क्या टिकी रहती? – उसी समय चली जाती। पर उस समय एक साधु आया था। उसके हाथ में एक लठिया थी। उसने मेरी अवस्था को देखते

ही पहचान लिया था, और वह समझ गया था कि इस देह के सहारे माँ के अनेक कार्य होनेवाले हैं; इसे बनाए रख सकने पर बहुत लोगों का कल्याण होगा। इसीलिए वह समय पर कुछ भोजन ले आता और मुझे मार-मारकर होश में लाने की कोशिश करता। मुझमें थोड़ासा होश आते ही वह मेरे मुहँ में भोजन ठूँस देता। इस तरह किसी दिन तो थोड़ासा भोजन पेट में चला जाता, पर किसी दिन बिलकुल नहीं जा पाता। इस प्रकार छह महीने बीते। फिर इस अवस्था के गुजरने के कुछ दिनों बाद माँ की वाणी सुनाई दी – 'तू भावमुख में रह, लोकशिक्षा के लिए तू भावमुख में रह।' इसके बाद मुझे रक्तातिसार की बीमारी हुई। पेट खूब मरोड़ता, बड़ी पीड़ा होती। प्राय: छह महीने ऐसी पीड़ा भोगते रहने के बाद तब कहीं धीरे-धीरे मन थोड़ा देह के ऊपर उतरा – साधारण लोगों की तरह होश आया! नहीं तो मन देखते ही देखते अपने आप दौड़कर निर्विकल्प अवस्था में पहुँच जाता था!''

९८६. ''इस मन की स्वाभाविक गति ऊर्ध्व (निर्विकल्प समाधि) की ही ओर है। समाधिमग्न होने पर फिर नीचे नहीं उतरना चाहता। तुम लोगों के लिए जबरदस्ती नीचे ले आता हूँ। किसी एक इच्छा का सहारा लिये बिना मन को नीचे उतरने के लिए जोर नहीं मिलता; इसीलिए मैं 'तमाखू पीऊँगा', 'पानी पीऊँगा', 'अमुक वस्तु खाऊँगा', 'अमुक को देखूँगा', 'बातचीत करूँगा' – इस प्रकार की कोई छोटी-मोटी इच्छा मन में उठाकर, उसे मुँह में बार-बार दुहराता जाता हूँ, तब कहीं मन धीरे-धीरे नीचे (देह पर) उतरता है। फिर कभी-कभी तो उतरते उतरते पुन: ऊपर की ओर दौड़ने लगता है। तब फिर उसे इस तरह की कामना के सहारे पकड़कर नीचे उतारना पड़ता है!''

९८७. 'ॐ तत् सत्' मन्त्र में से केवल 'तत्' का उच्चारण करते ही श्रीरामकृष्ण उच्च निर्विकल्प समाधि की अवस्था में पहुँच जाते थे। 'सत्' कहने पर उसके सापेक्ष 'असत्' की भी कहीं सुप्त चेतना रह सकती है तथा परम पवित्र प्रतीक 'ॐ' में भी कुछ न्यूनता रह सकती है; किन्तु 'तत्'

का उच्चारण करते ही उनकी चेतना से सापेक्षता की सभी कल्पनाएँ सम्पूर्ण रूप से विलुप्त हो जातीं, सत् और असत् के बीच के सभी भेद विलीन हो जाते, तथा वे उस सर्वातीत, निरपेक्ष एकत्व की अनुभूति में निमग्न हो जाया करते।

९८८. प्रश्न – महाराज, समाधि-अवस्था में आपके भीतर क्या तनिक भी अहं-भाव नहीं रहता?

उत्तर – प्राय: थोड़ासा 'अहं' रहता है। सोने के कण को सोने के टुकड़े पर कितना भी क्यों न रगड़ो, उसका कुछ अंश बच ही जाता है। मेरा बाह्य ज्ञान चला जाता है, किन्तु प्राय: वे ईश्वर मुझमें किंचित् 'अहं' रख देते हैं – अपने साथ विलास करने के लिए। मैं-तुम के रहने पर ही प्रेम का आस्वादन होना सम्भव है। फिर कभी-कभी वे उस 'मैं' को भी मिटा डालते हैं। इस अवस्था का नाम है 'जड़ समाधि' – 'निर्विकल्प समाधि'। उस अवस्था में क्या होता है, मुँह से बताया नहीं जा सकता। नमक का एक पुतला समुद्र की गहराई नापने गया था, ज्योंही वह जल में उतरा त्योंही उसमें घुल गया – 'तदाकाराकारित' बन गया। अब कौन ऊपर आकर खबर दे कि समुद्र कितना गहरा है!

श्रीरामकृष्ण का अखण्ड भगवद्भाव

९८९. श्रीरामकृष्ण से पूछा गया, "क्या आप ईश्वर में विश्वास रखते हैं?"

श्रीरामकृष्ण ने कहा, "हाँ।"

– "क्या आप ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित कर सकते हैं?" –"हाँ।" – "कैसे?"

– "क्योंकि मैं जिस प्रकार तुम्हें देख रहा हूँ उसी प्रकार, बल्कि उससे भी कई गुना अधिक स्पष्ट रूप से, ईश्वर को देखता हूँ।"

९९०. एक बार किसी तार्किक ने श्रीरामकृष्ण से पूछा, "ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान क्या हैं?"

श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया, "भाई, मैं ये सारी पाण्डित्य की बातें नहीं जानता; केवल अपनी अन्तरात्मा और अपनी ब्रह्ममयी माँ को जानता हूँ।"

९९१. उस समय मेरी अवस्था को देखकर हृदय कहा करता–"ऐसा भाव भी कभी नहीं देखा, और ऐसा रोग भी कभी नहीं देखा।" उस समय मैं बहुत बीमार था। देह में बहुत पीड़ा होती। किन्तु ईश्वरीय चर्चा रात-दिन चलती थी। देह में केवल हड्डियाँ भर रह गई थीं, परन्तु उस स्थिती में भी देहबोध को भूलकर मैं घण्टों आध्यात्मिक विषयों पर चर्चा किया करता।

श्रीरामकृष्ण की प्रार्थना

९९२. मैं जगदम्बा से इस प्रकार प्रार्थना किया करता – "हे माँ आनन्दमयी, मुझे दर्शन दे!" कभी-कभी मैं इस प्रकार प्रार्थना करता – "हे दीनानाथ! हे दीनबन्धो, मैं तुम्हारे जगत् के बाहर नहीं हूँ, प्रभो! मुझमें न ज्ञान है, न भक्ति, न साधन-भजन। मैं कुछ भी नहीं जानता। हे प्रभो, अपनी अहेतुक करुणा से तुम मुझे दर्शन दो।"

९९३. "हे माँ! मैं लोकमान्यता नहीं चाहता, देहसुख नहीं चाहता। मेरा मन गंगा-यमुना के प्रवाह की तरह तुझमें प्रविष्ट हो। माँ, मैं भक्तिहीन हूँ, मैं योगसाधना नहीं जानता, मैं दीनहीन हूँ; मैं किसी की प्रशंसा नहीं चाहता; कृपा करके मेरे मन को सदा अपने चरणकमलों में निमग्न रख।"

९९४. "हे माँ! मैं यन्त्र हूँ, तू यन्त्री; मैं गृह हूँ, तू गृहिणी; मैं म्यान हूँ, तू तलवार; मैं रथ हूँ, तू रथी। तू जैसा करवाती है, वैसा ही करता हूँ; जैसा कहलाती है, वैसा ही कहता हूँ; जैसा चलाती है, वैसा ही चलता हूँ। 'नाहं नाहं'–'तुहूँ तूहूँ'।"

९९५. सत्य को दृढ़ता के साथ पकड़े रहने पर भगवान् का लाभ होता है। सत्य पर निष्ठा न रहे तो धीरे-धीरे सब नष्ट हो जाता है। उस (भगवत्प्राप्ति की) अवस्था के बाद मैंने हाथ में फूल लेकर माँ से कहा था, 'माँ, यह ले तेरा ज्ञान, यह ले तेरा अज्ञान; मुझे शुद्ध भक्ति दे। यह ले तेरी शुचिता, यह ले तेरी अशुचिता; मुझे शुद्ध भक्ति दे। यह ले तेरा भला,

यह ले तेरा बुरा; मुझे शुद्ध भक्ति दे। यह ले तेरा पुण्य, यह ले तेरा पाप; मुझे शुद्ध भक्ति दे।' परन्तु जिस समय यह सब कहा था उस समय यह नहीं कह सका कि 'माँ, यह ले तेरा सत्य, यह ले तेरा असत्य।' माँ को सब कुछ दे सका, पर 'सत्य' न दे सका।

भला और बुरा सब में भगवान् हैं

९९६. ईश्वरदर्शन होने पर कर्मत्याग हो जाता है। इसी तरह मेरी पूजा बन्द हुई। मैं कालीमन्दिर में पूजा करता था। एक दिन अकस्मात् दर्शन हुआ – सब कुछ चेतन है – पूजा का अर्घ्यपात्र, वेदी, पूजागृह की चौखट – सब चेतन है! मनुष्य, जीव, जन्तु – सब चेतन है। तब उन्मत्त की तरह चारों ओर पुष्पवृष्टि करने लगा! – जो कुछ दिखाई पड़ा उसी की पूजा करने लगा!

एक दिन पूजा के समय शिवलिंग पर वज्र चढ़ा रहा था, ऐसे समय दर्शन हुआ – यह विराट् ब्रह्माण्ड ही शिव है। तब से मेरा शिवलिंग गढ़कर पूजा करना बन्द हो गया। एक दिन फूल तोड़ रहा था। एकाएक दर्शन हुआ – विचार या कल्पना के द्वारा नहीं देखा, प्रत्यक्ष दर्शन हुआ – एक-एक फूल का पौधा मानो एक-एक पुष्पगुच्छ है, जो उस विराट् मूर्ति पर शोभायमान हो रहा है। उस दिन से मेरा फूल तोड़ना बन्द हो गया।

९९७. एक बार मुझे दर्शन हुआ था – देखा सारा ब्रह्माण्ड और सभी जीव-जन्तु आदि एक ही पदार्थ से बने हुए हैं; मानो मोम का बना घर हो, उसमे बगीचा, रास्ते, आदमी, जानवर सब कुछ एक ही मोम से बने हों।

९९८. मैं क्या देख रहा हूँ, जानते हो? देख रहा हूँ, वे ही सब कुछ बने हैं! मनुष्य तथा अन्य जितने भी जीव देख रहा हूँ, सब मानो चमड़े के बने हुए हैं – उनके भीतर से वे ही हाथ, पैर, सिर हिला-डुला रहे हैं!

९९९. माँ ने मुझे भक्त की अवस्था – विज्ञानी की अवस्था – में रखा है। इसीलिए राखाल आदि के साथ हँसी-मजाक किया करता हूँ। यदि

वह मुझे ज्ञानी की अवस्था में रखती तो यह सम्भव न होता। इस अवस्था में देखता हूँ माँ स्वयं ही सब कुछ बनी है! सर्वत्र उसी को देखता हूँ! कालीमन्दिर में देखा माँ ही दुष्ट व्यक्ति भी बनी है – यहाँ तक कि भावगतपण्डित का भाई भी वही बनी है। रामलाल की माँ को डाँटने गया पर डाँट न सका। देखा, वह माँ का ही एक रूप है! कुमारियों के भीतर माँ को देखता हूँ, इसलिए कुमारियों की पूजा करता हूँ। मेरी घरवाली पैरों को सहला देती है तो बाद में मैं उसे नमस्कार करता हूँ। मुझे इस अवस्था में रखा है, इसलिए कोई नमस्कार करे तो मुझे उसे प्रति-नमस्कार करना पड़ता है। देखो, दुष्ट लोगों तक को टाल नहीं पाता। – तुलसी की पत्ती भले ही सूखी हो, छोटी हो,– फिर भी वह ठाकुरजी की ही सेवा में लगती है।

१०००. मैं दैखता हूँ मानो पेड़-पौधे, मनुष्य, पशु, घास, पानी – सब तरह-तरह के तकिए के गिलाफ हैं। जैसे, तकिए के गिलाफ भिन्न-भिन्न होते हैं – कोई मोटे कपड़े का, कोई छींट का, तो कोई किसी और कपड़े का; कोई चौकोना, तो कोई गोल; – पर सभी गिलाफों के भीतर एक ही पदार्थ – कपास – भरा होता है, वैसे मनुष्य, पशु, घास, पानी, पहाड़-पर्वत – सभी रूपों के भीतर वही एक अखण्ड सच्चिदानन्द विद्यमान है। मैं बिलकुल स्पष्ट देखता हूँ, माँ मानो किस्म-किस्म की चादरें ओढ़कर विभिन्न रूपों में सजकर भीतर से झाँक रही है। एक ऐसी अवस्था हुई थी जब सदा-सर्वदा ऐसा ही दिखाई देता था। मेरी उस अवस्था को देख, समझ न सकने के कारण सब लोग मुझे समझाने-बुझाने, शान्त करने आए। रामलाल की माँ और अन्य महिलाएँ कितनी ही बातें कहती हुई रोने लगीं। उनकी ओर देखकर मुझे यही दिखने लगा कि माँ जगदम्बा स्वयं ही इन रूपों को धारण कर ऐसा कर रही है। माँ का यह ढोंग देखकर मैं हँसते हँसते लोटने और कहने लगा, 'वाह, बढ़िया सजी हो!' एक दिन कालीमन्दिर में आसन पर बैठकर माँ का ध्यान कर रहा था, पर बहुत प्रयत्न करके भी मन में माँ की मूर्ति को नहीं ला सका। फिर देखा – रमणी नाम की एक वेश्या जो घाट पर स्नान करने आया करती थी, उसी का रूप धारण कर माँ पूजा

के घट की ओट से झाँक रही है। देखकर मैं हँसते हुए कहने लगा, 'वाह वाह, आज तुझे रमणी बनने की इच्छा हुई? बहुत अच्छा, आज इसी रूप में पूजा ग्रहण कर।' इस तरह माँ ने मुझे समझा दिया – 'वेश्या भी मैं ही हूँ; मेरे सिवा कुछ नहीं है।' और एक दिन गाड़ी में बैठकर मछुआबाजार की सड़क पर से जाते जाते देखा – माँ सज-धजकर, जूड़ा बाँधे, बिन्दी लगाए बरामदे में खड़ी-खड़ी हुक्के में तमाखू पी रही है और मोहिनी बनकर लोगों का मन मोह रही है। देखकर मैंने विस्मित होकर 'माँ, तू यहाँ इस रूप में है' कहकर प्रणाम किया।

१००१. मैं उस ब्रह्म को प्रत्यक्ष देख रहा हूँ – फिर और क्या विचार करूँ! देख रहा हूँ, वही यह सब कुछ बना है। वही जीव और जगत् बना है। किन्तु चैतन्य के जागृत हुए बिना चैतन्यस्वरूप को जाना नहीं जा सकता। विचार कब तक किया जाता है? जब तक उसका लाभ नहीं हो जाता। केवल मुँह से कहने से नहीं होगा; मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ कि वही सब कुछ हुआ है। उसकी कृपा से चैतन्य जागृत हो जाना चाहिए। चैतन्य के जागृत होने पर समाधि प्राप्त होती है। तब देह का विस्मरण हो जाता है, कामिनी-कांचन पर आसक्ति नहीं रहती, ईश्वरीय चर्चा के सिवा कुछ अच्छा नहीं लगता; वैषयिक चर्चा सुनने से अत्यन्त कष्ट होता है। चैतन्य के जागृत होने पर ही चैतन्यस्वरूप को जाना जा सकता है।

१००२. बहुत दिन हुए, वैष्णवचरण ने कहा था, जब मनुष्य के भीतर ईश्वर के दर्शन होंगे, तभी पूर्ण ज्ञान होगा। अब देख रहा हूँ कि वे ही भिन्न-भिन्न रूपों में घूम रहे हैं। कभी साधु के रूप में, कभी ठग के रूप में, तो कभी शठ के रूप में। इसीलिए मैं कहता हूँ, 'साधुरूपी नारायण, ठगरूपी नारायण, शठरूपी नारायण, लुच्चारूपी नारायण।' अब चिन्ता होती है, सब को खिलाया कैसे जाए! सभी को खिलाने की इच्छा होती है। इसीलिए एक जन को यहाँ रखकर खिलाया करता हूँ।

१००३. भले घर की स्त्रियों को देखते समय लगता है कि मेरी सच्चिदानन्दमयी माँ घूँघट काढ़े सती सजी हुई है; फिर जब मछुआबाजार

की कसबिनों को निर्लज्ज की तरह सज-धजकर बरामदे में खड़े-खड़े हुक्का पीते हुए देखता हूँ तब भी यही लगता है कि सच्चिदानन्दमयी माँ ही छिनाल बनकर और एक किस्म का खेल खेल रही है।

१००४. ईश्वर के भीतर विद्या-अविद्या दोनों हैं। विद्या-माया मनुष्य को ईश्वर की ओर ले जाती है, अविद्या-माया उसे ईश्वर से दूर ले जाती है। ज्ञान, भक्ति, दया, वैराग्य – यह सब विद्या का खेल है। इनका सहारा लेने पर ईश्वर तक पहुँचा जा सकता है।

एक सीढ़ी और चढ़ते ही ईश्वरलाभ – ब्रह्मज्ञान – होता है। इस अवस्था में मुझे वास्तव में अनुभव होता है, प्रत्यक्ष दिखाई देता है-- वे ही सब कुछ बने हैं। तब त्याज्य-ग्राह्य नहीं रह जाता। किसी के ऊपर क्रोध नहीं करते बनता।

गाड़ी में बैठकर जा रहा था – एक जगह में दो वेश्याएँ खड़ी थीं। देखा, साक्षात् भगवती हैं; देखकर प्रणाम किया।

जब पहली बार मेरी यह अवस्था हुई तब मुझसे मन्दिर में कालीमाता का पूजन या भोग-निवेदन नहीं करते बना। इस पर खजांची मेरे नाम से गालियाँ देने लगा। परन्तु सुनकर मैं हँसने लगा, तनिक भी गुस्सा नहीं आया।

१००५. संसार के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करनेवाले अपने एक दिव्य दर्शन का वर्णन करते हुए श्रीरामकृष्ण ने कहा है – "क्या देखा था जानते हो? ईश्वरीय रूप था। भगवती की मूर्ति थी; – पेट में बच्चा था। उसे बाहर निकालती फिर निगल लेती। जितना भाग उसके भीतर प्रवेश करता उतना शून्य बन जाता। मुझे दिखा दिया कि सब शून्य है। मानो कह रही हो, 'छू मन्तर, जादू जन्तर!' "

श्रीरामकृष्ण की व्याधि

१००६. श्रीरामकृष्ण को गले की बीमारी से पीड़ित देखकर पण्डित शशधर तर्कचूड़ामणि ने कहा – "आप यदि एक बार 'पीड़ा दूर हो जाए' इस इच्छा से मन को पीड़ा के स्थान पर एकाग्र करें तो सब ठीक हो जाए।

आप ऐसा क्यों नहीं करते?''

श्रीरामकृष्ण ने कहा – ''जो मन मैंने सच्चिदानन्द को समर्पित कर दिया है, उसे वहाँ से हटाकर इस हाड़-माँस के ढाँचे पर कैसे एकाग्र करूँ?''

शशधर – ''आप अपनी माँ से व्याधि दूर करने के लिए प्रार्थना क्यों नहीं करते?''

श्रीरामकृष्ण – ''जब मैं जगज्जननी माँ का चिन्तन करता हूँ तब मेरी देहबुद्धि सम्पूर्णतः दूर हो जाती है। मै मानो देह से बिलकुल भिन्न हो जाता हूँ। इसलिए देह के बारे में कुछ कहना असम्भव हो जाता है।''

१००७. जिस समय श्रीरामकृष्ण गले के रोग से इतने पीड़ित थे कि बड़ी कठिनाई से कुछ बोल पाते या कुछ भोजन कर पाते थे, उस समय उन्होंने कहा था – ''मैं इतने सारे मुख से बातचीत कर रहा हूँ, भोजन कर रहा हूँ। मेरे भीतर अखण्ड सच्चिदानन्द विराजमान हैं। मैं सब की अन्तरात्मा हूँ, मेरे अनन्त मुख हैं। मैं चमड़े के आवरण से ढका हुआ अखण्ड चैतन्यस्वरूप हूँ, इस आवरण में एक ओर गले की बीमारी है। देह को रोग होने पर ऐसा लगता है कि मुझ को ही रोग हुआ है। गरम पानी से हाथ जल जाने पर लोग कहते हैं, पानी से हाथ जल गया। किन्तु वास्तव में हाथ ताप से जला, पानी से नहीं। व्याधि, पीड़ा – सब देह को हुआ है, आत्मा इन सब के अतीत है।''

१००८. मैंने माँ से कहा, ''(गले की पीड़ा की ओर अँगुली दिखाते हुए) इसके कारण कुछ खाते नहीं बनता, ऐसा कर दे कि थोड़ा खा सकूँ।'' इस पर तुम सब को दिखाते हुए माँ बोली, ''क्यों, इतने सारे मुँह से खा जो रहा हैं।'' लाज के मारे मैं कुछ कह नहीं सका।

१००९. माँ ने मुझे यह व्याधि इसलिए दी है कि लोग देखकर सीख सकें कि देह में तीव्र पीड़ा के होते हुए भी किस प्रकार आत्मचिन्तन में, भगवद्भाव में मग्न रहा जा सकता है। जिस समय देह में असह्य पीड़ा हो रही है, खाना-पीना बन्द हो गया है। किसी प्रकार आराम मिलना सम्भव नहीं है, ऐसे समय में भी माँ मुझे यही दिखा रही है कि आत्मा ही देह

का स्वामी है। मेरी ब्रह्ममयी माँ ने मेरी देह में इसीलिए व्याधि दी है कि जिससे नास्तिकों को विश्वास हो कि आत्मा ही सत्य है, ईश्वरीय बोध ही यथार्थ बोध है, तथा यह कि पूर्णत्व-प्राप्ति होने पर सभी बन्धनों से छुटकारा मिल जाता है।

१०१०. श्रीरामकृष्ण की अन्तिम व्याधि के समय उनके भक्त उनसे व्याकुल होकर कहने लगे – "आप जगदम्बा से प्रार्थना कीजिए कि आपकी व्याधि दूर हो जाए, और कम से कम हम लोगों के लिए आपकी देह कुछ दिन और बनी रहे।" इस पर श्रीरामकृष्ण ने कहा – "मेरे कहने से क्या होगा! ईश्वर की इच्छा से सब कुछ होगा। अब मैं देख रहा हूँ, माँ और मैं दोनों एक बन गए हैं। ननद के डर से राधा ने कृष्ण से कहा, 'तुम मेरे हृदय में रहो। बाहर न जाओ।' फिर वह कृष्ण के दर्शन के लिए व्याकुल हुई – इतनी व्याकुल कि हृदय में तीव्र यातना होने लगी। परन्तु अब कृष्ण किसी दशा में बाहर आने का नाम ही न लेते थे!"

श्रीरामकृष्ण का देवमानव भाव

१०११. कोई यदि मुझे गुरु, कर्ता (मालिक) या बाबा (पिता) कहकर पुकारे तो मेरे शरीर में काँटा चुभ जाता है। ईश्वर ही गुरु हैं। वे ही कर्ता हैं, मैं अकर्ता हूँ; वे यन्त्री हैं, मैं यन्त्र हूँ। मैं सदा स्वयं को उनकी सन्तान मानता हूँ, मैं बाबा कैसे बन सकता हूँ!

१०१२. प्रसिद्ध पण्डित शशधर तर्कचूड़ामणि से अपनी मुलाकात के प्रसंग का वर्णन करते हुए श्रीरामकृष्ण ने कहा था –"पण्डित मुझसे मिलने आ रहा है यह सुनकर मुझे बड़ा भय हुआ। तुम लोग तो देख ही रहे हो, मुझे अपने कपड़े का ही होश नहीं रहता। फिर उससे न जाने क्या कहने जाकर क्या कह बैठूँ, यह सोचकर मैं भय-संकोच से अत्यन्त विह्वल हो गया। माँ से बोला – 'देखना माँ, मैं तो तुझे छोड़ शास्त्र-वास्त्र कुछ भी नहीं जानता; तू ही सँभालना।' फिर अमुक से कहता, 'तू उस समय रहना', तमुक से कहता, 'तू उस समय आना – तुम लोगों को देखने से फिर भी

कुछ साहस होगा।' पण्डित जब आकर बैठा उस समय भी मुझमें भय हो रहा था – चुपचाप बैठकर उसी की ओर देख रहा था, उसी की बातें सुन रहा था; इतने में देखा, माँ मानो उसके भीतर का सब कुछ दिखा दे रही है। शास्त्र-वास्त्र पढ़ने से क्या होगा, विवेक-वैराग्य न हो तो सब निरर्थक है! साथ ही साथ सर-सर करती हुई कोई वस्तु (अपने शरीर की ओर दिखाकर) माथे की ओर चढ़ गई और भय-संकोच सब जाने कहाँ चला गया! एकदम विभोर हो गया! ऐसा लगने लगा कि मुँह ऊँचा उठकर उसमें से मानो फव्वारे की तरह बातों का स्रोत निकल रहा है। जितनी बातें बाहर निकलतीं उतनी ही मानो कोई भीतर से ढकेलता जाता। उस ओर (कामारपुकुर की ओर) धान नापते समय जैसे एक आदमी 'एक, दो, ...' कहते हुए नापता जाता है और दूसरा एक आदमी उसके पीछे बैठकर धान की ढेरी से उसके पास धान ढकेलता जाता है, वैसे ही। जब थोड़ा होश आया तब देखा कि पण्डित रो रहा है, रोते रोते बिलकुल तर हो गया है! मेरी इस प्रकार की अवस्था बीच-बीच में हुआ करती है। जिस दिन केशव ने खबर भेजी कि वह मुझे जहाज में बिठाकर गंगाजी में सैर कराने ले जाने के लिए एक साहब (भारतभ्रमण के लिए आए हुए पादरी कुक साहब) को साथ लेकर आ रहा है, उस दिन भी मैं मारे डर के बारम्बार झाऊ की झाड़ी की ओर (शौच) जाने लगा। परन्तु जब वे लोग आए और मैं जहाज पर चढ़ा तब इसी प्रकार की अवस्था हो गई। न जाने मैंने कितनी ही बातें कही थीं! बाद में (भक्तों की ओर दिखाकर) इन लोगों ने कहा, 'आपने खूब उपदेश दिया।' किन्तु भाई, मुझे तो उसका कुछ भी पता नहीं था।''

१०१३. इस देह के भीतर एक जन है। वही मुझसे इस प्रकार करा रहा है। बीच-बीच में देवभाव आ उपस्थित होता था, – उस समय अपनी पूजा किए बिना मैं शान्त नहीं होता था। मैं यन्त्र हूँ, वे यन्त्री। वे जैसा कराते हैं, वैसा मैं करता हूँ, जैसा कहाते हैं, वैसा ही कहता हूँ।

१०१४. श्रीरामकृष्ण को 'आममुखतारी' देने के पश्चात् भी गिरीशचन्द्र घोष अपने पूर्व जीवन में किए हुए कुकर्मों के प्रबल संस्कार के बारे में सोचते

हुए चिन्तित हो उठे। इस पर श्रीरामकृष्ण ने कहा, ''मूर्ख, तुझे क्या असढ़िया साँप ने पकड़ा है! तुझे असली नाग ने पकड़ा है। तू यदि घर भाग जाए तो भी मरेगा ही। देखा नहीं है? जब असढ़िया साँप मेढ़क को पकड़ता है तो वह काफी देर तक बार-बार पुकारने के बाद ही मरता है। कभी-कभी तो वह उसके मुँह से छूट भी जाता है। किन्तु यदि असली नाग से पाला पड़े तो दो या तीन पुकार में ही मेढ़क सदा के लिए शान्त हो जाता है। यदि वह किसी प्रकार छूट भी जाए, तो अपने गड्ढे में जाकर मर जाता है। यहाँ जो आते हैं उनका भी यही हाल होता है।''

१०१५. एक दिन एक भक्त श्रीरामकृष्ण के चरणों को सहला रहा था। श्रीरामकृष्ण ने कहा, ''इसमें (चरणसेवा में) बहुत अर्थ भरा हुआ है।''

फिर वे अपने हृदय पर हाथ रखकर बोले, ''इसके भीतर यदि कुछ हो तो (चरणसेवा करने से) अज्ञान-अविद्या एकदम दूर हो जाएगी।''

फिर एकाएक गम्भीर होकर कहने लगे – ''इस समय यहाँ कोई बाहर का आदमी नहीं है। एक गुप्त बात बतलाता हूँ, सुनो। उस दिन हरीश मेरे पास ही था, मुझे एक दिव्य दर्शन हुआ। देखा – इस आवरण (देह) के भीतर से सच्चिदानन्द बाहर निकल आए और बोले, 'मैं ही युग-युग में अवतार लेता हूँ!' उस समय मैंने सोचा कि शायद मैं स्वयं अपने ही ख्यालों में ये सब बातें कह रहा हूँ। फिर चुपचाप देखने लगा, तब देखा कि वे ही और भी कह रहे हैं – 'चैतन्य ने भी शक्ति की आराधना की थी।'

१०१६. अन्तिम व्याधि के समय श्रीरामकृष्ण ने एक दिन अपने भक्तों से कहा था :– ''इसके (मेरे) भीतर दो जन हैं। एक वे हैं, और दूसरा उनका भक्त बना हुआ है। दूसरे ही का हाथ टूटा था, उसी को अब बीमारी हुई है। ... वे ही मनुष्य बनकर, अवतार बनकर – भक्तों के साथ आते हैं। भक्त लोग फिर उन्हीं के साथ वापस लौट जाते हैं। बाउलों* का दल अचानक आया – नाचा, गाया – फिर अचानक चला गया। वे आए-गए, कोई उन्हें पहचान नहीं पाया।''

---

* एक प्रकार के वैष्णव फकीर।

१०१७. देख रहा हूँ कि वे स्वयं ही बलिदान की वेदी, बलि का पशु और बलि देनेवाला व्यक्ति – तीनों बने हैं।

१०१८. अन्तिम व्याधि के समय एक दिन श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्रनाथ से पूछा, "अच्छा, मेरा भाव कौनसा है?"

नरेन्द्रनाथ – "आपमें वीरभाव, सखीभाव, – सभी भाव हैं।"

यह सुनकर मानो श्रीरामकृष्ण भावविह्वल हो गए। उन्होंने अपने हृदय पर हाथ रखकर नरेन्द्र आदि भक्तों से कहा – "मैं देख रहा हूँ, जो कुछ है सब इसी के भीतर से आ रहा है।"

१०१९. श्रीरामकृष्ण के देहत्याग के दो दिन पहले, जब छह महीने भयंकर कैन्सर रोग की असह्य यातना को भोगते हुए उनकी देह केवल हड्डियों के ढाँचे में परिणत हो गई थी, उस समय नरेन्द्रनाथ के मन में विचार उठा कि 'इस असह्य पीड़ा की अवस्था में यदि ये कहें कि मैं ईश्वर का अवतार हूँ, तो मैं उस पर विश्वास करूँ।' और आश्चर्य की बात है, ठीक उसी क्षण श्रीरामकृष्ण एकाएक बोल उठे, "जो राम (बना था), जो कृष्ण (बना था), वही इस बार रामकृष्ण बनकर इस देह में प्रत्यक्ष अवतीर्ण हुआ है – तेरे वेदान्त की दृष्टि से नहीं।"

□□□

खण्ड ४

सूक्तियाँ तथा बोधकथाएँ

यो नः पिता जनिता यो विधाता

धामानि वेद भुवनानि विश्वा।

यो देवानां नामधा एक एव

तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या।।३।।

"जो हमारे पालक हैं, जो हमारे तथा सभी सृष्ट पदार्थों के जनक तथा विधाता हैं, जो समस्त लोकों को अपने धाम के रूप में जानते हैं, जिन्होंने विभिन्न देवताओं को उत्पन्न कर उनकी भिन्न-भिन्न पदों पर स्थापना की है, उन एकमात्र परमेश्वर के विषय में सभी प्राणी प्रश्न किया करते हैं कि वे कौन हैं।"

न तं विदाथ य इमा जजाना-

न्यद्युष्माकमन्तरंबभूव।

नीहारेण प्रावृता जल्प्या

चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति।।७।।

"हे मनुष्यों, जिसने यह समस्त विश्व उत्पन्न किया है, उसे तुम नहीं जानते। वह तुम्हारे अहंप्रत्यय के अतीत रहकर तुम्हारे भीतर विराजमान है। कुहरे के सदृश अज्ञान-आवरण से आच्छन्न होने के कारण तुम मिथ्या कल्पनाओं में मग्न रहते हो तथा भौतिक सुखेच्छा की तृप्ति करते हुए इहलोक और परलोक के भोगों को प्राप्त करानेवाले अनेकविध यज्ञयागों का अनुष्ठान करते हो।"

(ऋग्वेद, मण्डल १०, अध्याय ६, सूक्त ८२)

अध्याय २१

कुछ सूक्तियाँ

नैतिक सूक्तियाँ

१०२०. धोबी दूसरों के मैले कपड़ों से अपना भण्डार भरता है, उन कपड़ों के स्वच्छ होते ही उसका भण्डार खाली हो जाता है। धोबी की तरह दूसरों के दोष-दुर्गुण और कुविचारों के द्वारा अपना भण्डार मत भरो।

१०२१. तुम दूसरों से जिस काम की अपेक्षा रखते हो वह तुम स्वयं करो।

१०२२. माँगने से आदमी छोटा हो जाता है। स्वयं भगवान् – जिनसे बढ़कर कोई नहीं है – जब बलिराज के यहाँ भिक्षा माँगने गए तो उन्हें भी वामन का बौना रूप धारण करना पड़ा। किसी के पास कुछ माँगना हो तो ओछा बनना पड़ता है।

१०२३. लोगों को किसी की प्रशंसा करने में भी समय नहीं लगता और फिर उसकी निन्दा करने में भी देर नहीं लगती। इसलिए तुम्हें लोगों की निन्दा-स्तुति की ओर ध्यान न देना ही उचित है।

१०२४. शान्तिपूर्ण साधुजीवन बिताना हो तो लोगों की निन्दा-स्तुति दोनों के बारे में समान रूप से उदासीन रहो।

१०२५. कुछ लोगों से सावधान रहना पड़ता है। पहला, बड़े आदमी। वे चाहें तो तुम्हें नुकसान पहुँचा सकते हैं क्योंकि उनके हाथ में बहुत धन, जन और सामर्थ्य है। इसलिए कभी-कभी वे जो कुछ कहें उसी में हामी भरते जाना पड़ता है। दूसरा, साँड़। सींग मारने आए तो मुँह से आवाज

करते हुए उसे ठण्डा करना पड़ता है। तीसरा, कुत्ता। जब भौंकता हुआ काटने दौड़ता है, तो उसे भी ठहरकर मुँह से आवाज करते हुए शान्त करना पड़ता है। चौथा, शराबी। उसे अगर छेड़ दो तो 'तेरी ऐसी की तैसी' वगैरह कहते हुए तुम्हारी चौदह पीढ़ियों को गालियाँ देगा। पर उससे अगर प्रेम से कहो, 'क्यों चाचा, कैसे हो?' तो एकदम खुश होकर तुम्हारे पास बैठकर खूब बातचीत करने लगेगा, तमाखू खाएगा।

१०२६. मूली खाने पर मूली की डकार आती है और ककड़ी खाने पर ककड़ी की। अर्थात् मनुष्य के भीतर जो भाव होता है वही बाहर आता है।

१०२७. मनुष्य जिस प्रकार की संगति में रहता है, उसमें उसी प्रकार के संस्कार आ जाते हैं; फिर, जिसमें जैसे संस्कार होते हैं वह वैसी ही संगति खोज लेता है।

१०२८. किसी-किसी का स्वभाव साँप के जैसा होता है वह तुम्हारे अनजाने में तुम्हें ऐसा काट खाता है कि उसकी ज्वाला को सम्हालने के लिए बहुत विचार-विवेक करना पड़ता है। नहीं तो सम्भव है कि तुम क्रोधित हो बदला लेने जाकर उसका नुकसान कर बैठो।

१०२९. क्रोध तमोगुण का लक्षण है। क्रोध होने पर विवेकबुद्धि नष्ट हो जाती है। हनुमान् ने क्रुद्ध होकर लंका जला दी, – यह ज्ञान नहीं रहा कि इससे सीताजी की कुटिया भी जल जाएगी।

१०३०. 'गुरु मिले लाख-लाख, चेला मिले न एक।' उपदेश देनेवाले बहुत मिलते हैं, किन्तु उपदेशों का पालन करनेवाले बहुत कम।

१०३१. धर्म में विकृति क्यों आ जाती है? आकाश से बरसनेवाला जल निर्मल और स्वच्छ होता है, परन्तु जब वह छत और नालियों से होता हुआ जमीन तक पहुँचता है तो उनकी गन्दगी के कारण गँदला हो जाता है। (इसी प्रकार धर्म भी धर्मप्रचारकों के दोषों के कारण दूषित हो जाता है।)

१०३२. पाप और पारा – दोनों को पचानां कठिन है।

१०३३. किसी साधु या देवता के दर्शन के लिए जाते समय खाली हाथ नहीं जाना चाहिए। साथ में कुछ न कुछ भेंट – वह कितनी भी सामान्य

क्यों न हो –अवश्य ले जाना चाहिए।

१०३४. घर के लोग यदि जागते हों तो उस घर में चोर कभी नहीं घुस सकता; वैसे ही, यदि तुम सदा जागृत रहो तो तुममें किसी प्रकार के बुरे विचार आकर तुम्हारे सद्भावों का हरण नहीं कर पाएँगे।

१०३५. माता, पिता, भाई, बहन, स्त्री, पुत्र आदि स्वजन-कुटुम्बियों के प्रति जो प्रेम-आकर्षण होता है, वह माया है। और सभी जीवों के प्रति समान रूप से जो प्रेमभाव उठता है, वह दया है।

१०३६. जब तक जीऊँ, तब तक सीखूँ।

१०३७. जब तक जीवित रहो तब तक प्रतिदिन प्रेम-भक्ति के रहस्य को सीखने का प्रयत्न करो। इससे तुम्हारा कल्याण होगा।

१०३८. जहाँ दस आदमी सिर नवाते हैं वहाँ तुम भी सिर नवाया करो, इससे भला ही होगा।

१०३९. स्वयं के मत में दृढ़ विश्वास और निष्ठा रखो, किन्तु साथ ही दूसरों के मत के प्रति द्वेष या असहिष्णुता का भाव मत रखो।

१०४०. भरत, प्रह्लाद, शुकदेव, विभीषण, परशुराम, बलि तथा गोपीगण – इन्होंने भगवान् के लिए अपने गुरुजनों की आज्ञा का उल्लंघन किया था।

१०४१. वासनाओं का त्याग कर अनासक्त भाव से कर्म करो – यही तुम्हारे लिए सब से अच्छा मार्ग है।

आध्यात्मिक सूक्तियाँ

१०४२. कई बार पागल, शराबी और बच्चों के मुँह से दैववाणी प्रकट होती है।

१०४३. जिस घर में सदा हरिगुण-संकीर्तन होता है, उसमें कलि प्रवेश नहीं कर पाता।

१०४४. जो गंगाजी के किनारे निवास करते हैं वे धन्य हैं।

१०४५. गंगाजल का लेखा जल में नहीं होता, श्रीवृन्दावन की रज

की गणना धूलि में नहीं होती, तथा श्रीजगन्नाथजी के महाप्रसाद को अन्न में नहीं गिना जाता। ये तीनों ब्रह्मस्वरूप हैं।

१०४६. ईश्वर यदि चाहें तो सुई के छेद के भीतर से हाथी को पार करा सकते हैं। वे सब कुछ करने में समर्थ हैं।

१०४७. जिसने ईश्वर की शरण ली है उसका कदम कभी नहीं चूकता।

१०४८. हरि यानी वह जो हमारे हृदय को हर लेता है (हरति); हरिबल यानी हरि ही हमारा बल है।

१०४९. जब तक मनुष्य का चैतन्य जाग न जाए तब तक वह ईश्वर को नहीं जान सकता।

१०५०. भगवान् की शरण लो, और सारी लज्जा और भय छोड़ दो। 'यदि मैं भगवान् का नाम लेते हुए नाचूँ तो लोग क्या कहेंगे!'– इस प्रकार के विचारों को दूर भगा दो।

१०५१. श्रीरामकृष्ण ने किसी व्यक्ति से कहा था – "पहले संसार करने के बाद तुम भगवान् को प्राप्त करने आए हो; ऐसा न करके अगर तुम पहले भगवान् का लाभ कर लेते और बाद में संसार करते तो तुम्हें कितना आनन्द मिलता!"

१०५२. यदि तुममें विश्वास हो तो तुम जो चाहो वही पाओगे।

१०५३. पहले राम, फिर राम का ऐश्वर्य – जगत्। इसलिए वाल्मीकि को 'मरा' मन्त्र जप करने कहा गया था। 'म' अर्थात् ईश्वर और 'रा' अर्थात् जगत् – उसका ऐश्वर्य!

१०५४. अत्यधिक ईश्वरतन्मयता से हानि होती है ऐसा कहना निरर्थक है। मणि की ज्योति प्रकाश देती है, जलाती नहीं – वह शीतल है।

१०५५. लीला का अवलम्बन कर नित्य वस्तु का लाभ करने का प्रयत्न करना चाहिए।

१०५६. 'सत्' को चाहते हो तो 'चित्' का आश्रय लो।

१०५७. अनित्य के सहारे नित्य को, असत् के सहारे सत्स्वरूप को, लीला के सहारे ब्रह्म को प्राप्त करना होगा।

१०५८. चिन्मय नाम, चिन्मय धाम, चिन्मय श्याम। – प्रभु का नाम चैतन्यमय है, उनका धाम चैतन्यमय है, वे स्वयं चैतन्यस्वरूप हैं।

□□□

अध्याय २२

बोधकथाएँ

संसारासक्तों की दुर्गति

१०५९. भगवान् कल्पतरु हैं। कल्पतरु के नीचे बैठकर जो जिस वस्तु की इच्छा करता है उसे वही प्राप्त होती है। इसलिए साधन-भजन करते हुए जब मन शुद्ध हो जाता है तब अत्यन्त सावधानी के साथ कामनाओं का त्याग करना चाहिए। क्यों, जानते हो? – किसी समय एक बटोही घूमते घूमते एक विस्तीर्ण मैदान में जा पहुँचा। राह में कड़क धूप की ताप और चलने के श्रम से अत्यधिक श्रान्त और पसीने से तर होकर वह थकावट दूर करने के लिए एक पेड़ के नीचे बैठ गया। बैठे बैठे उसने मन ही मन सोचा, 'इस समय अगर एक अच्छासा बिछौना मिल जाए तो मैं चैन से सो जाऊँ।' बटोही नहीं जानता था कि वह कल्पतरु के नीचे बैठा हुआ है। उसके मन में ज्योंही यह वासना उठी त्योंही वहाँ पर एक बढ़िया बिछौना आ पहुँचा। बटोही अत्यन्त आश्चर्यचकित होकर उस बिछौने पर लेट गया और आराम करते हुए सोचने लगा, 'इस वक्त अगर कोई स्त्री आकर मेरे पाँव दबा दे तो मैं सुख से सो जाऊँ।' उसके मन में इस विचार के उठते ही तत्काल एक युवती आ पहुँची और वह उसकी पदसेवा करने लगी। यह देखकर उस बटोही के आनन्द की सीमा न रही। फिर उसे भूख लगने लगी। तब उसने सोचा, 'मन की ये इच्छाएँ तो पूरी हुईं, अब क्या कुछ खाने नहीं मिलेगा?' ऐसा सोचते ही उसके सम्मुख नाना प्रकार की भोजन-सामग्रियाँ आ जुटीं। तब उन वस्तुओं से पेट भर भोजन कर वह बिछौने पर लेटे लेटे

उस दिन की सभी बातों का स्मरण करने लगा। ऐसे समय उसके मन में आया कि 'इस समय यदि अचानक एक बाघ आ जाए तो क्या हो?' ज्योंही उसका यह सोचना था कि कहीं से एक बड़ा भारी बाघ कूद पड़ा और बटोही की गर्दन मरोड़कर खून चुसने लगा। इस प्रकार उस बटोही का अन्त हो गया। संसार में जीवों की भी ऐसी ही दशा होती है। साधना करते हुए यदि विषयसुख, धन-जन अथवा मान-यश आदि की कामना की जाए तो ऐसी कामना कुछ अंश में अवश्य पूर्ण होती है, परन्तु अन्त में बाघ का भय भी रहता है। अर्थात् रोग, शोक, ताप, अपमान तथा धनहानि-रूपी बाघ जीते-जागते बाघ से लाख गुना अधिक कष्टदायक होते हैं।

१०६०. एक बार कुछ मछुआरिनों को बाजार से लौटते हुए राह में रात हो गई, आसमान में बादल घिर आए और आँधी चलने लगी। उन्हें पास ही एक मालिन के यहाँ आश्रय लेना पड़ा। मालिन ने जिस कमरे में उनके सोने की व्यवस्था की उसमें फूलों की टोकरियाँ रखी हुई थीं। उन फूलों की सुगन्ध के कारण मछुआरिनों को काफी रात तक नींद नहीं आ पाई। आखिर उनमें से एक ने कहा, 'बाहर जो हमारी मछली की टोकरियाँ रखी हैं उन पर थोड़ा पानी छिड़क कर अगर हम अपने सिरहाने रख लें तो उस गन्ध से यह फूलों की गन्ध दब जाएगी।' यह सुझाव सभी को पसन्द आया। और तब सब मछुआरिनों ने अपनी अपनी टोकरी पर पानी छिड़ककर वह अपने सिरहाने रख ली और देखते ही देखते वे सब की सब मजे से खुर्राटे भरने लगीं। संसारी जीवों का यही हाल है। वे विषय-सुख और भोग-वासना के वातावरण में पले होते हैं इसलिए त्याग और पवित्रतापूर्ण वातावरण में जाते ही उनका दम घुटने लगता है और वे बेचैन हो जाते हैं।

१०६१. एक साधु समाधिमग्न होकर रास्ते के किनारे पड़ा था। इतने में वहाँ एक चोर आया। साधु को देखते ही वह मन ही मन कहने लगा, 'यह जरूर कोई चोर है, रातभर चोरी करने के बाद अब यहाँ पड़ा सो रहा है। अभी पुलिस आकर इसे पकड़ ले जाएगी; मैं भाग निकलूँ।' फिर एक शराबी आया और साधु को देख कहने लगा, 'सारी रात शराब चढ़ाकर

अब नाले में पड़े हो! मैं सब लक्षण समझता हूँ, बेटा!' अन्त में वहाँ एक साधु आया और उस समाधिमग्न साधु की अवस्था को पहचानकर वह उसकी सेवा करने लगा। (अपने संसारासक्तिजन्य संस्कार के कारण हम यथार्थ आध्यात्मिक सम्पदाओं को नहीं समझ पाते।)

१०६२. श्रीरामकृष्ण पुजारीवर्ग के विषय में श्रीचैतन्यदेव के जीवन से सम्बन्धित एक घटना बताया करते थे। चैतन्यदेव भावसमाधि में पूरी तरह मग्न होकर समुद्र में गिर पड़े थे। उस अवस्था में वे एक मछुए के जाल में फँस गए और जाल के साथ बाहर निकाले गए। चैतन्यदेव के पावन स्पर्श के प्रभाव से वह मछुआ भी भावावस्था को प्राप्त हुआ और सब काम-काज छोड़ हरिनाम लेते हुए पागलों की तरह घूमने लगा। घरवालों के काफी प्रयत्न करने के बावजूद जब उसकी अवस्था में कोई अन्तर नहीं हुआ तब निरुपाय हो वे चैतन्यदेव के निकट आए और उन्हें सब हाल कह सुनाया। तब चैतन्यदेव ने कहा, "किसी पुजारी के यहाँ का चावल लाकर उसके मुँह में डालो, उससे वह अच्छा हो जाएगा।" घरवालो ने वैसा ही किया। उससे मछुए की वह भावावस्था चली गई। (आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग पर संसारासक्ति और अपवित्रता का ऐसा ही दुष्परिणाम होता है।)

१०६३. किसी रईस आदमी ने अपनी जायदाद की देखरेख के लिए एक गुमास्ता को नियुक्त कर रखा था। किसी के पूछने पर कि 'यह जमीन-जायदाद किसकी है', वह गुमास्ता कहा करता, 'यह सब कुछ मेरा है – ये मकान, यह बगीचा, सब!' यह कहते हुए वह मारे गर्व के फूला नहीं समाता। एक दिन मालिक की सख्त मनाई होते हुए भी उसने उसके तालाब से मछलियाँ पकड़ी। और दुर्भाग्यवश, मालिक ने उसे रंगे हाथों पकड़ लिया। गुमास्ता की बेईमानी से नाराज हो मालिक ने उसे खूब डाँट-फटकारकर नौकरी से निकाल दिया। जाते समय वह अपनी छोटीसी सन्दूकची तक नहीं ले जा सका! झूठा गर्व करने का यही परिणाम होता है।

१०६४. एक बार एक नाई कहीं जा रहा था। जाते जाते एक जगह एक पेड़ के नीचे अचानक उसे सुनाई दिया, कोई मानो कह रहा है, 'सात

घड़ा धन लेगा?' नाई ने आश्चर्यचकित हो चारों ओर देखा किन्तु कहीं कोई दिखाई नहीं दिया। परन्तु सात घड़ा धन की बात सुनकर उसके मन में लालच पैदा हुआ और वह जोर से बोल उठा, 'हाँ, लूँगा!' त्योंही उसे फिर वही आवाज सुनाई दी – 'अच्छा, तेरे घर पर रख आया हूँ, जा, ले ले।' नाई ने घर आकर देखा, सचमुच ही सात घड़े रखे हुए हैं। उसने सब घड़ो को खोलकर अच्छी तरह देखा, तो उसे दिखाई दिया कि छह घड़े तो सोने की मुहरों से भरे हैं, पर सातवाँ घड़ा कुछ खाली है। उसके मन में सातवे घड़े को भी पूरा भरने की तीव्र इच्छा उठी और उसने घर में जितना भी धन, गहने आदि थे वह सब लाकर उस घड़े में डाल दिया। पर भला इतने से वह घड़ा कैसे भरता! घड़े को पूरा भरने के लिए नाई बड़ा ही व्याकुल रहने लगा। घर-गृहस्थी के खर्च में कटौती करते हुए वह बचा हुआ सारा धन घड़े में डालने लगा। पर वह घड़ा भरता ही न था। अन्त में उसने राजा से प्रार्थना की कि उसे जो वेतन मिलता है उससे उसका गुजारा नहीं हो पाता, दया करके वेतन बड़ा दिया जाए। राजा उस नाई पर खुश था। उसके कहते ही राजा ने वेतन दुगुना कर दिया। पर नाई की दशा पहले जैसी ही रही। अब तो वह लोगों से माँगकर खाता और पूरा वेतन घड़े में डाल देता। पर घड़ा था कि भरने का नाम ही नहीं लेता। दिनोंदिन नाई की हालत को बिगड़ते देख एक दिन राजा ने पूछा, "क्यों रे! तुझे जब कम वेतन मिलता था, तब तो तेरी गुजर-बसर अच्छी तरह से हो जाती थी, और अब दुगुना वेतन पाकर भी तेरी ऐसी दशा क्यों है? तू क्या सात घड़ा धन ले आया है?" नाई ने हक्काबक्का होकर कहा, "जी, आपको किसने बताया?" राजा ने कहा, "अरे, वह तो यक्ष का धन है! उस समय यक्ष ने आकर मुझसे भी पूछः था, 'सात घड़ा धन लोगे?' मैंने पूछा, 'वह धन जमा करने के लिए है, या खर्च करने के लिए?' तब वह बिना उत्तर दिए भाग गया। वह धन कभी नहीं लेना चाहिए, उसे खर्च नहीं किया जा सकता, सिर्फ जमा ही करना पड़ता है। तू भला चाहता है तो जल्दी वह धन लौटा आ।" तब नाई के होश आए और वह झटपट उस जगह पर जाकर, चिल्लाकर

बोल आया, 'तुम्हारा धन तुम ले जाओ, मुझे नहीं चाहिए।' यक्ष ने कहा 'ठीक है।' घर लौटकर नाई ने देखा कि वे सातों घड़े गायब हो गए हैं। दुःख की बात यह थी कि इतने दिनों तक पेट को काटते हुए उसने उस खाली घड़े में जो कुछ धन डाला था, वह भी चला गया। धर्मराज्य में भी ऐसा ही हुआ करता है। जमा-खर्च का ठीक-ठीक ज्ञान न रहे तो अन्त में अपना सर्वस्व गवाँ बैठना पड़ता है।

१०६५. आषाढ़ के दिन थे। एक बकरी का बच्चा अपनी माँ के पास खेल रहा था। खेलते हुए उसने पूछा, 'माँ, रास़फूल खाने को जी हो रहा है, कब खाने मिलेंगे?' बकरी बोली, 'ठहर जा बेटा। अभी रासफूल* खाने को बहुत दिन हैं। पहले कुवाँर-कार्तिक के दिन अच्छी तरह बीत जाए, फिर बच निकला तो रासफूल खाना। यह तेरे लिए संकट का समय है। कुवाँर में दुर्गापूजा के समय कोई तेरी बलि न चढ़ा दे। फिर कार्तिक में कालीपूजा का भयंकर समय है, उस समय भी यही डर है। इन दो खतरों से तू बच भी निकले तो थोड़े ही दिनों में जगद्धात्रीपूजा आ जाती है-- उसमें कहीं तेरी बलि न चढ़ा दी जाए। इन सब संकटों से बच सका तभी तू कार्तिक की पूनम में रासफूल खाने की आशा कर सकता है।' झूठी आशा से अत्यधिक उत्फुल्ल मत होओ; जीवन में कई संकटों का सामना करना पड़ता है।

कामिनी का बन्धन

१०६६. एक बार एक आधुनिक विद्या-विभूषित शिक्षित व्यक्ति श्रीरामकृष्ण के साथ तर्क-वितर्क कर रहा था। उसका मत यह था कि संसार में रहकर भी संसार से निर्लिप्त रहा जा सकता है। श्रीरामकृष्ण ने उससे कहा, "तुम लोगों के 'निर्लिप्त संसारी' कैसे होते हैं जानते हो? एक घर में एक गरीब ब्राह्मण कुछ सहायता माँगने गया। उस घर का मालिक ऐसा ही एक 'निर्लिप्त संसारी' था। यानी वह अपने हाथ में एक पैसा भी नहीं रखता था – सब कुछ पत्नी के हाथ में सौंप देता था। मालिक ने कहा,

---

* रास पूर्णिमा के समय जिन कृत्रिम फूलों से राधाकृष्ण की झाँकी सजाई जाती है।

'महाराज, मैं तो रुपए-पैसों को छूता तक नहीं। आप फिजूल ही मेरे पास माँग रहे हैं।' ब्राह्मण भी किसी हालत में छोड़नेवाला नहीं था, वह बहुत आरज़ू-मिन्नत करने लगा। जब घर के मालिक ने देखा कि वह कुछ पाए बिना छोड़नेवाला नहीं है तो वह बोला, 'अच्छा, तो आप कल आइए, देखूँ आपके लिए यदि कुछ कर सकूँ।' फिर उसने घर के अन्दर जाकर पत्नी से कहा, 'देखो, एक गरीब ब्राह्मण बड़े संकट में पड़ गया है, उसे एक रुपया देना होगा।' सुनते ही उसकी पत्नी गुस्से से तिलमिलाकर बोली, 'वाह! तुम तो बहुत बड़े दाता बन गए! रुपये-पैसे क्या घास-पत्ते जैसे हो गए हैं कि तोड़कर दे दिए जाएँ।' लालाजी तब सकपकाकर धीरे-धीरे विनती के स्वर में कहने लगे, 'गरीब आदमी है; बहुत पीछे पड़ा है; एक रुपया दिए बिना नहीं चल सकता।' तब मालकिन ने काफी विरोध के बाद एक दुअन्नी निकालकर झल्लाते हुए कहा, 'मैं रुपया हरगिज नहीं दे सकूँगी। यह दुअन्नी ले जाओ।' लालाजी तो 'निर्लिप्त संसारी' ठहरे! निरुपाय होकर उन्होंने, पत्नी ने जो दिया वही रख लिया और दूसरे दिन उस ब्राह्मण को दे दिया। तो ऐसे निर्लिप्त संसारियों का यही हाल है। उनका स्वयं का कोई बस नहीं चलता। वे गृहस्थी के काम-काज की ओर स्वयं ध्यान नहीं दे पाते इसलिए सोचते हैं कि वे निर्लिप्त, निरासक्त पुरुष हैं; परन्तु वास्तव में वे जोरू के गुलाम होते हैं – हमेशा अपनी पत्नी के इशारे पर चला करते हैं।''

१०६७. पहले जयपुर के गोविन्दजी के मन्दिर के पुजारी लोग विवाह नहीं करते थे। उस समय वे अत्यन्त तेजस्वी थे। एक बार राजा ने उन्हें बुला भेजा, परन्तु वे नहीं गए, कहा, 'राजा को यहाँ आने बोलो।' बाद में राजा ने उनका विवाह कर दिया। तब फिर उन्हें बुलवाना नहीं पड़ता था। वे स्वयं ही राजा के पास चले आते और कहते, 'महाराज, हम आशीष देने आए हैं। हम यह निर्माल्य लाये हैं इसे धारण कीजिए।' अब वे ऐसा करने को विवश थे; क्योंकि आज घर की दीवार खड़ी करनी है, कल बच्चे का अन्नप्राशन है, परसों उसका विद्यारम्भ करना है। और इन सब के लिए पैसा चाहिए!

तुम लोग तो स्वयं ही देख रहे हो, दूसरे की नौकरी स्वीकार कर तुम कैसे पराधीन बन गए हो। देखो न, इतनी परीक्षाएँ पास किया हुआ, इतनी अँगरेजी जाननेवाला पण्डित भी नौकरी स्वीकारते ही दोनों जून साहब के बूट की चोट सहता जाता है! इतना अपमान, दासत्व की यह यातना क्यों सहनी पड़ती है? इसका एकमात्र कारण है – कामिनी का मोह।

१०६८. एक आदमी नौकरी की तलाश में बहुत ही परेशान था। ऑफिस के बड़े बाबू के पास जाते जाते उसकी नाक में दम आ गया पर बड़े बाबू इतना ही कहते, कि इस समय नौकरी खाली नहीं है; बीच-बीच में आकर पूछ लिया करो। ऐसा करते हुए बहुत समय बीत गया, पर नौकरी लगने की कोई उम्मीद ही नहीं दिखाई दी। एक दिन उस आदमी ने अंपने एक दोस्त के आगे अपना दुखड़ा रोया। सुनते ही दोस्त बोल उठा, 'वाह रे तेरी अक्ल! उस आदमी के पास चक्कर लगाने से क्या होनेवाला है! तू एक काम कर। तू गुलाबी के पास जाकर उसे राजी करा ले। देख, कल ही तेरी नौकरी लग जाएगी!' वह आदमी बोला, 'तब तो मैं अभी उसके पास चला।' गुलाबी बड़े बाबू की रखैल थी। वह आदमी उसके पास जाकर कहने लगा, 'अम्मा, मैं बड़ी मुसीबत में पड़ गया हूँ। बहुत दिनों से कोई काम-धन्दा नहीं है। बाल-बच्चों के भूखे मरने की बारी आ गई है। ब्राह्मण का बेटा ठहरा, दूसरा कुछ तो नहीं कर सकता। कहाँ जाऊँ? क्या करूँ? तुम एक बार कह दो तो मुझे नौकरी मिल जाए।' गुलाबी के मन में दया आ गई। उसने सोचा, 'अरे रे, बेचारा गरीब ब्राह्मण बड़ी तकलीफ पा रहा है।' वह बोली, 'तो बेटा, किससे कहना होगा?' आवेदक ने कहा, 'तुम कृपा करके एक बार बड़े बाबू से कह दो तो मुझे काम मिल जाए।' गुलाबी बोली, 'ठीक है। मैं आज ही बाबू से बताती हूँ।' दूसरे ही दिन सबेरे उस उमीदवार के पास एक चपरासी ने आकर खबर दी कि उसे बड़े बाबू ने आज ही ऑफिस में जाने को कहा है। उसके जाते ही बड़े बाबू ने ऑफिस के सबसे बड़े साहब के पास सिफारिश कर दी, 'ये सज्जन हमारे काम के लिए बहुत ही योग्य हैं। उनके द्वारा ऑफिस को विशेष लाभ होगा। उन्हें

नियुक्त किया जा रहा है।' कामिनी का ऐसा ही प्रभाव है। सारा जग इस कामिनी और कांचन को लेकर भूला हुआ है।

१०६९. एक पण्डितजी के शिष्य की कपड़े की दुकान थी। एक बार पण्डितजी को पोथी-पत्रा बाँधने के लिए एक खण्ड कपड़े की जरूरत पड़ी। उन्होंने अपने शिष्य की दुकान में आकर अपनी आवश्यकता जताई। शिष्य कहने लगा, 'अरे महाराज, पहले बतलाने से अच्छा होता। अभी कुछ ही दिन पहले एक खण्ड बचा था पर मैंने वह एक जन को दे दिया। खैर, अब की अगर छोटा खण्ड बचे तो आपके लिए रख दूँगा। पर आप बीच-बीच में आकर खबर लेते जाइए।' गुरुजी उसकी बात मानकर जाने लगे। इधर शिष्य की पत्नी घर के भीतर से सब देख रही थी। गुरुजी को जाते देख उसने आदमी भिजवाकर उन्हें घर के अन्दर बुला भेजा। गुरुजी अन्दर आए। शिष्य की पत्नी ने पूछा, 'महाराज, आप मालिक से क्या माँग रहे थे?' गुरुजी ने सब बातें बतला दीं। तब शिष्य-पत्नी ने कहा, 'तो आप जाइए, कल ही आपके यहाँ कपड़ा भिजवा देती हूँ।' गुरुजी 'ठीक है' कहकर चल दिए। रात को जब वह शिष्य दुकान बन्द कर घर आया तो उसकी पत्नी ने पूछा, 'क्या तुम दुकान बन्द करके आए हो?' वह बोला, 'हाँ, क्यों भला?' पत्नी बोली, 'तुम अभी जाकर मेरे लिए दो अच्छे खण्ड कपड़े ले आओ।' शिष्य कहने लगा, 'उसमें क्या रखा है? मैं कल ही तुम्हें दो बहुत अच्छे खण्ड ला दूँगा।' पत्नी बोली, 'नहीं नहीं, यह नहीं होगा, अभी ले आओ!' आखिर शिष्य बेचारा क्या करता! यह तो गुरु नही थे कि बीच-बीच में आकर खबर लेने को कहा जाए, वह तो गुरु के भी गुरु महागुरु का हुक्म था। इसकी बात तो टाली नहीं जा सकती थी। निरुपाय होकर उसने रात को फिर दुकान खोली और दो खण्ड कपड़े ले आया। दूसरे दिन सबेरे ही शिष्य-पत्नी ने एक जन के हाथ उन खण्डों को गुरुजी के यहाँ भिजवाकर उनसे कहने को कहा, 'अब से आपको जो कुछ लगे उसके लिए आप मुझसे कहा कीजिएगा।'

१०७०. किसी के पूछने पर कि 'आप अपनी पत्नी के साथ गृहस्थी

क्यों नहीं करते', श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया – "एक दिन गणेश ने एक बिल्ली को नाखून से खरोंच दिया था। घर जाकर उन्हें माता पार्वती के गाल पर नख के चिह्न दिखाई दिए। उन्होंने पूछा, 'माँ, तुम्हारे गाल पर ये नाखून के दाग कैसे आए?' जगज्जननी बोली, 'बेटा, यह तुम्हारे ही नाखून के दाग हैं।' गणेश ने आश्चर्य से पूछा, 'भला मेरे नाखून तुम्हारे गाल पर कब लगे?' पार्वती ने कहा, 'बेटा, क्या तुम्हें याद नहीं कि सबेरे तुमने एक बिल्ली को नोचा था?' गणेश बोले, 'बिल्ली को नोचा तो था, पर तुम्हारे गाल पर दाग कैसे बना?' पार्वती बोलीं, 'बेटा! इस संसार में मेरे सिवा कुछ नहीं है। सभी जीव-जन्तु, सारी सृष्टि मैं ही हूँ। तुम किसी को चोट पहुँचाओ वह चोट मुझी को पहुँचेगी।' सुनकर गणेश आश्चर्यचकित हो गए और उन्होंने आजीवन विवाह न करने की प्रतिज्ञा की। भला विवाह किससे करें! जिससे विवाह करने जाएँ वह तो उनकी माँ ही हैं! सर्वत्र सभी नारियों में माँ की सत्ता का ज्ञान होने के कारण उनके लिए विवाह करना सम्भव नहीं हो सका। मेरी भी यही अवस्था है। मैं नारी मात्र को अपनी माता समझता हूँ।"

आध्यात्मिक उन्नति मन ही पर आधारित है

१०७१. जिसका जैसा भाव होता है उसे वैसा ही लाभ होता है। दो मित्र घूम रहे थे। घूमते हुए एक स्थान पर उन्होंने देखा भागवत का पाठ चल रहा है। एक मित्र ने कहा, 'चलो भाई, थोड़ी देर वहाँ बैठकर भागवत सुनें।' दूसरा बोला, 'ना भाई भागवत सुनकर क्या होगा? चलो अमुक वेश्या के यहाँ जाकर मौज उड़ाएँ।' पहला मित्र इस पर राजी नहीं हुआ, वह जाकर भागवत सुनने लगा। दूसरा मित्र वेश्या के घर जा पहुँचा। परन्तु वहाँ जाकर वह मौज नहीं उड़ा सका। वह यही सोचने लगा कि 'हाय, मैं यहाँ क्यों आया! मेरा दोस्त वहाँ बैठकर कितना सुन्दर हरिगुणगान सुन रहा है!' उधर दूसरा मित्र भागवत सुनने तो बैठा, पर बैठकर केवल यही विचार करने लगा कि 'हाय, मैं अपने दोस्त के साथ क्यों नही गया! वह इस समय

वहाँ कितना मौज न उड़ा रहा होगा!' परिणाम यह हुआ कि जो व्यक्ति भागवत सुन रहा था उसे तो वेश्या के घर जाने का फल मिला, और जो वेश्या के घर बैठा था उसे भागवत-श्रवण का फल।

१०७२. किसी शिवमन्दिर के निकट एक संन्यासी रहा करते थे। सामने ही एक वेश्या का मकान था। वेश्या के यहाँ दिन-रात लोगों का ताँता लगा रहा रहता। उसका जीवन देख संन्यासी के मन में बहुत दुःख होता। एक दिन संन्यासी ने उस वेश्या को बुलाकर फटकारते हुए कहा, 'तू बड़ी पापिन है, दिन-रात पाप किया करती है। अन्त में तेरी क्या गति होगी?' सुनकर वेश्या को अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ और वह मन ही मन स्वयं को धिक्कारती हुई ईश्वर से खूब प्रार्थना करने लगी। वह दूसरा कुछ नहीं कर सकती थी, पेट के लिए उसे वही धन्धा करना पड़ता था। परन्तु उस दिन से वह जब कभी पापकर्म करती, अत्यन्त कातर हो भगवान से प्रार्थना करती, क्षमा माँगती। इधर संन्यासी ने विचार किया, 'देखूँ आज से इसके पास कितने लोग आते हैं!' और उस दिन से वे संन्यासी वेश्या के यहाँ जितने लोग आते उतने ही कंकड़ एक ओर जमाकर रखने लगे। होते होते कंकड़ों की ढेरी जम गई। फिर एक दिन संन्यासी ने उस स्त्री को कंकड़ो की ढेरी दिखाकर कहा, 'देख थोड़े ही दिनों में तूने कितना पाप किया है! अब भी तू सावधान हो जा!' कंकड़ों की ढेरी देख वह स्त्री व्याकुल हो रोते हुए भगवान् से प्रार्थना करने लगी, 'हे भगवान्, मुझे बचाओ, रक्षा करो।' भगवान् की लीला अगम्य है। कुछ ही दिन बाद उस वेश्या और संन्यासी दोनों की एक साथ मृत्यु हो गई। उस समय यमदूत आकर संन्यासी को और विष्णुदूत आकर वेश्या को ले जाने लगे। यमदूतों को देख संन्यासी ने घबड़ाकर कहा, 'तुम लोगों से भूल हो गई है! विष्णुदूत मेरे लिए आए होंगे और तुम लोग अवश्य ही उस वेश्या के लिए भेजे गये हो।' यमदूतों ने कहा, 'नहीं, नहीं, हमसे कोई भूल नहीं हुई, सब ठीक ही है।' संन्यासी ने क्रोधित होकर कहा, 'क्या? मैं जीवन भर भगवान् का नाम लेता रहा और वह औरत वेश्यागिरी करती रही। पर इस समय मुझे तुम लोग और उसे विष्णुदूत ले जाएँगे! यह कैसी

बात है!' यमदूतों ने कहा, 'उसने वेश्यागिरी नहीं की, वेश्यागिरी तो तुम करते रहे। और तुमने भगवान् का नाम नहीं लिया, भगवान् का नाम तो वह लेती रही। तुम अच्छी तरह सोचकर देखो। ज़िसका जैसा भाव है उसे वैसा ही लाभ होता है।'

धर्मतत्त्व को ठीक से समझ न सकना कितना भयंकर होता है!

१०७३. किसी राजा को उसके गुरु ने उच्च अद्वैततत्त्व का उपदेश प्रदान किया – 'सर्व घट में एक ही ब्रह्म विराजित है, सभी समान हैं।' राजा को यह बात बड़ी पसन्द आई। उसने सभा से लौटकर रानी के बदले उसकी दासी के साथ भोग-विलास करने की इच्छा प्रकट करते हुए कहा, 'रानी और दासी तो एक ही हैं।' रानी ने घबड़ाकर गुरुदेव को सब बातें बतला दीं। गुरुदेव बोले, 'भोजन के समय राजा को एक बर्तन में कुछ विष्ठा भी परोसना।' रानी ने वैसा ही किया। राजा और गुरुदेव साथ ही भोजन करने बैठे। भोजन के साथ विष्ठा देखते ही राजा तो आगबबूला हो गया। तब गुरुदेव ने कहा, "तुम तो अद्वैततत्त्व को जानते हो! जब सब कुछ एक है तब भोजन और विष्ठा भी तो एक ही हैं। फिर विष्ठा क्यों न खा सकोगे?" इस पर राजा क्रुद्ध होकर बोल उठा, 'तो फिर आप ही क्यों नहीं खाते!' गुरुदेव ने 'ठीक है' कहकर झट शूकररूप धारण कर उस विष्ठा को खा लिया और फिर से पूर्वरूप धारण कर लिया। राजा तो देखकर दंग ही रह गया। तब उसकी आँखें खुलीं और वह समझ गया कि अद्वैततत्त्व सिर्फ मुँह से कहने की बात नहीं है, उसका अनुभव होना चाहिए।

१०७४. एक ब्राह्मण ने एक बाग लगाया था। वह दिन-रात उस की देखरेख में लगा रहता। एक दिन बाग में एक गाय घुस पड़ी और ब्राह्मण के इतने श्रम से लगाए हुए पौधों को खाने लगी। यह देखते ही ब्राह्मण मारे गुस्से के आगबबूला हो उठा और उसने गाय को इतना पीटा कि वह मर गई। यह खबर तुरन्त फैल गई और सब लोग ब्राह्मण को गोहत्या के लिए दोषी ठहराने लगे। परन्तु ब्राह्मण अपना दोष कबूल नहीं करता था।

वह कहता, "इसमें मेरा क्या कसूर? मैंने गोहत्या नहीं की, मेरे हाथ ने यह काम किया है। हाथ के अधिष्ठाता देवता इन्द्र हैं। अतएव गोहत्या का पाप इन्द्र को लगेगा, मुझे नहीं। मैं निर्दोष हूँ।" इन्द्र ने देखा की बड़ी मुसीबत है। वे ब्राह्मण को सबक सिखाने के लिए स्वयं एक ब्राह्मण का रूप धारण कर उस बाग में आए और ब्राह्मण से पूछने लगे, "यह बाग किसका है, महाराज?"

ब्राह्मण – मेरा!

इन्द्र – वाह! सुन्दर बगीचा है। आपका माली भी बड़ा कुशल है। देखिए तो, कितनी अच्छी तरह से सजाकर पौधों को लगाया है।

ब्राह्मण – अजी, मैंने खुद खड़े रहकर सब देख-भालकर लगवाया है।

इन्द्र – अच्छा! यह रास्ता भी कितना सुन्दर है! यह सब किसने बनाया?

ब्राह्मण – अजी, यह सब तो मेरे ही हाथ का काम है।

इन्द्र – वाह, वाह! सभी कुछ आपने ही किया है; सिर्फ इस गाय को मारते समय इन्द्र आया था, क्यों!

१०७५. एक मैदान में एक विषैला साँप रहता था। उस ओर जाने से सभी घबड़ाते थे, क्योंकि किसी के पास आते ही वह साँप उसे काट खाता था। एक बार एक साधु उस ओर से गुजरा। पहले तो साँप उसे भी काटने को दौड़ा पर उसके पास आते ही उसके मन्त्र के प्रभाव से वह वशीभूत हो गया। तब उस साधु ने उसे हिंसा न करने का उपदेश दिया। साधु का उपदेश पाकर साँप बिलकुल ही बदल गया। अब वह किसी की हिंसा नहीं करता, हमेशा शान्त रहता। लोगों को शीघ्र पता चल गया कि अब यह साँप पहले जैसा भयावह नहीं रह गया है, अब यह किसी को नहीं काटता। अब लड़के-बच्चे उसे सताने लगे। कोई उसे पत्थर मारता, तो कोई उसकी पूँछ पकड़कर खींचता। इस प्रकार उसे बहुत ही तकलीफ होने लगी। उसकी हालत बहुत बिगड़ गई। एक दिन वह साधु वहाँ आया। साँप की दुर्दशा को देख उसे बड़ा अचम्भा हुआ। कारण पूछने पर साँप बोला, "महाराज,

आपका उपदेश सुनकर मैंने हिंसा छोड़ दी है, पर ये लोग मुझे बड़ा सताते हैं।'' तब साधु ने कहा, ''अरे, मैंने तुझे काटने से मना किया था, फुफकारने से कब मना किया? खुद की रक्षा करने के लिए फुफकारकर लोगों को अवश्य डराया करना, पर हाँ, उन्हें काटना नहीं।'' इसी प्रकार तुम संसार में रहते समय कभी-कभी आत्मरक्षा के लिए दूसरों को भय दिखा सकते हो, परन्तु किसी को हानि न पहुँचाओ।

१०७६. एक बार आचार्य ने शिष्यों को उपदेश दिया, 'सभी वस्तु नारायण हैं।' शिष्य ने इसके शब्दार्थ को ही ग्रहण किया, मर्मार्थ को नहीं। एक दिन कहीं जाते समय उसने रास्ते पर एक हाथी को आते देखा। हाथी के ऊपर बैठा महावत चिल्ला रहा था, 'हट जाओ, हट जाओ'। पर शिष्य ने मन ही मन विचार किया, 'मैं क्यों हटूँ? मैं नारायण हूँ, यह हाथी भी नारायण है। फिर नारायण को नारायण से डर किस बात का?' ऐसा सोचकर वह वहीं खड़ा रहा। हाथी ने पास आते ही उसे सूँड़ से उठाकर दूर पटक दिया। उसे बड़ी चोट लगी। बाद में गुरु के पास पहुँचकर उसने सारी घटना कह सुनाई। तब गुरुजी ने कहा, 'यह ठीक कहा कि तुम भी नारायण हो और हाथी भी नारायण है; पर हाथी के ऊपर बैठा और एक नारायण तुम्हें जब सावधान कर दे रहा था, तब उसकी बात तुमने क्यों नहीं सुनी?'

मतान्धता के दोष

१०७७. घण्टाकर्ण जैसे एकांगी मत बनो। एक शिव-भक्त था, जो शिव की उपासना किया करता था पर विष्णु के प्रति द्वेषभाव रखता था। एक दिन भगवान् शंकर ने उसे दर्शन देकर कहा, 'देखो, जब तक तुम्हारा विष्णु के प्रति द्वेषभाव दूर नहीं होगा तब तक मैं तुम पर प्रसन्न नहीं होऊँगा।' भक्त ने कुछ नहीं कहा। वह फिर भी शिव की ही एकनिष्ठ उपासना करने लगा। उसकी उपासना की तीव्रता के कारण शिवजी को उसे फिर से दर्शन देना पड़ा। अबकी बार भगवान् हरिहर के रूप में आविर्भूत हुए। आधा शरीर शिव का था और आधा विष्णु का। शिव को देख भक्त आनन्दित हुआ पर

विष्णु को देख दु:खित। इस तरह वह आधा आनन्दित और आधा दु:खित हुआ। फिर वह देवता की पूजा करने लगा। पूजा करते समय उसने केवल शिव की ही पूजा की, विष्णु की ओर देखा तक नहीं। जब वह धूप चढ़ाने लगा तो कहीं उसकी सुगन्ध विष्णु को भी न मिल जाए इस शंका से वह विष्णु की नाक दबाए बैठा रहा। तब भगवान् बोले, "देखो, मैंने तुम पर कृपा कर हरिहर का रूप धारण किया जिससे समझ सको कि शिव और विष्णु अभिन्न हैं; पर तुम यह समझ ही नहीं सके। इस एकांगी भाव के लिए तुम्हें काफी कष्ट भोगना पड़ेगा।" विष्णु के प्रति उसके द्वेषभाव की बात धीरे-धीरे सब दूर फैल गई और गाँव के बच्चे उसे देखते ही 'हरि हरि' कहकर ताली बजाते हुए चिढ़ाने लगे। अन्त में निरुपाय हो, हरिनाम सुनने से बचने के लिए उसने अपने दोनों कानों में दो घण्टे लटका लिये। ज्योंही बच्चे 'हरि हरि' कहकर चिल्लाते त्योंही वह उन घण्टों को ज़ोर से बजाकर हरिनाम न सुनने की कोशिश करता। इस तरह उसका नाम 'घण्टाकर्ण' पड़ गया।

१०७८. एक बार चार अन्धे हाथी देखने गए थे। उनमें से एक जन हाथी के पैर को छू आया और कहने लगा, "हाथी खम्भे-जैसा है।" दूसरे ने हाथी की सूँड़ को छुआ था, वह कहने लगा, "हाथी मूसल-जैसा है।" तीसरा अन्धा हाथी के पेट को छू आया था; वह कहने लगा, "हाथी बड़ी नाँद की तरह है।" चौथा हाथी के कान का स्पर्श कर आकर कहने लगा, "हाथी तो सूप-जैसा है।" इस तरह चारों हाथी के रूप के बारे में वाद-विवाद करने लगे। उनका कोलाहल सुन एक व्यक्ति ने आकर पूछा, "क्या बात है? तुम लोग क्यों झगड़ रहे हो?" तब उन्होंने उसे मध्यस्थ ठहराकर सब किस्सा कह सुनाया। सुनकर वह आदमी बोला, "तुममें से किसी ने भी ठीक-ठीक हाथी को नहीं देखा। हाथी खम्भे के जैसा नहीं, उसके पाँव खम्भे-जैसे हैं। वह मूसल जैसा नहीं उसकी सूँड़ मूसल-जैसी है। वह नाँद के जैसा नहीं, उसका पेट नाँद के जैसा है। वह सूप-जैसा नहीं, उसके कान सूप-जैसे हैं। इन सबको मिला कर ही हाथी बना है।' जिन्होंने ईश्वर के स्वरूप

के एक ही पहलू को देखा है, वे इसी प्रकार आपस में झगड़ते रहते हैं।

१०७९. किसी कुएँ में एक मेंढक रहता था। वह वहीं जन्मा था और वहीं बडा हुआ था। एक बार एक समुद्र का मेढ़क उस कुएँ में आ पड़ा। कुएँवाले मेढ़क ने उससे पूछा, "तुम कहाँ से आ रहे हो।" समुद्री मेढ़क बोला, "समुद्र से।" कुएँवाले मेढक ने पूछा, "समुद्र कितना बड़ा है?" दूसरे मेढ़क ने उत्तर दिया, "बहुत बड़ा!" तब कुएँवाले मेढ़क ने अपने दो पैर फैलाकर पूछा, "इतना बड़ा?" समुद्री मेढ़क बोला, "इससे बहुत बड़ा।" तब कुएँवाले मेढ़क ने कुएँ के इस ओर से उस ओर तक छलाँग मारकर पूछा, "फिर क्या वह इतना बड़ा है?" समुद्रवाले मेढ़क ने कहा, "नहीं, वह इससे भी बहुत बड़ा है।" तब कुएँ का मेढक बोला, "तेरी बात झूठ है। भला कुएँ से भी बड़ा कुछ हो सकता है?" क्षुद्र बुद्धि वाले भी इसी प्रकार सोचा करते हैं कि उन्हीं का ठीक है, दूसरों का गलत।

भक्ति, विश्वास तथा शरणागति

१०८०. एक बार एक भक्त को एक धोबी पीट रहा था और भक्त 'नारायण' 'नारायण' कहते हुए रो रहा था। नारायण उस समय वैकुण्ठ में लक्ष्मीजी के निकट विराजमान थे। वे झट उठकर उसे बचाने के लिए दौड़े। पर थोड़ा जाकर ही वे लौट आए। यह देख लक्ष्मीजी ने पूछा, "इतने जल्दी लौट आए?" नारायण ने कहा, "मुझे नहीं जाना पड़ा। वह मूर्ख भी धोबी बन गया है। वह स्वयं ही अपनी रक्षा कर रहा है। उसे जो मार रहा था, उस धोबी को अब यह भी मारने लगा है। तब मेरे जाने की क्या जरूरत?" ईश्वर पर सम्पूर्ण रूप से निर्भर होने पर ही वे रक्षा करते हैं – अन्यथा नहीं।

१०८१. एक बार गोपाल का कुछ समाचार न मिलने के कारण यशोदा माता राधिका के पास आकर बोलीं, "बेटी, तू मेरे गोपाल की कोई खबर जानती है?" राधा उस समय भावमग्न थीं, यशोदा की बात को वे न सुन सकीं। बाद में भावसमाधि के भंग होने पर अपने सामने नन्दरानी यशोदा को बैठी देख उन्होंने उन्हें प्रणाम कर पूछा, "माँ, तुम यहाँ क्यों आई हो?"

यशोदा ने अपने आने का कारण बताया। सुनकर राधा बोलीं, "माँ, तुम नैन मूँदकर गोपाल के रूप का ध्यान करो। ऐसा करते ही तुम उन्हें देख पाओगी।" यशोदा के नैन मूँदते ही महाभावमयी राधिका ने उन्हें भाव में निमग्न कर दिया और तब यशोदा को भावावस्था में गोपाल के दर्शन हुए। तदनन्तर यशोदा ने राधिका से वर माँगा, "बेटी, मुझे यही वर दो कि मैं नैन मूँदते ही गोपाल के दर्शन पाऊँ।"

१०८२. एक बार राम वन में भ्रमण करते हुए पम्पा सरोवर के किनारे आए और अपने तीर-धनुष को किनारे जमीन में गाड़कर पानी पीने के लिए सरोवर में उतरे। ऊपर आकर उन्होंने देखा कि उनके बाण से एक मेढ़क बिंधकर लहूलुहान हो पड़ा है। राम ने अत्यन्त दुःखी हो उससे कहा, "तुमने आवाज क्यों नहीं की? तुम चिल्लाते तो मैं जान जाता कि यहाँ तुम हो, तब तुम्हारी यह दशा न होती!" मेढ़क बोला, "राम, जब मैं संकट में पड़ जाता हूँ तब 'हे राम, रक्षा करो' कहकर पुकारता हूँ। अबकी जब राम ही मार रहे हैं, तब और किसे पुकारूँ?"

१०८३. एक दिन किसी रईस आदमी का नौकर कपड़े में ढकी हुई कोई वस्तु हाथ में ले मालिक के दफ्तर के एक कोने में विनीत भाव से खड़ा था। मालिक ने उसे देखकर पूछा, "क्योंजी, तुम्हारे हाथ में क्या है?" अत्यन्त संकोच के साथ नौकर ने कपड़े में से एक शरीफा निकालकर मालिक के सामने रखा; वह बोला तो कुछ नहीं पर उसके चेहरे से यह भाव स्पष्ट रूप से प्रकट हो रहा था कि 'मालिक अगर इसे ग्रहण करें तो मैं निहाल हो जाऊँ।' उसका भक्ति-भाव देख मालिक ने प्रेम के साथ उस फल को ग्रहण करते हुए कहा, "वाह, बहुत अच्छा शरीफा है! तुम कहाँ से ले आए?" भगवान् भी इसी तरह भक्त के हृदय का भाव देखा करते हैं। भक्तिभाव से अर्पित की हुई सामान्य वस्तु भी वे बड़े प्रेम से स्वीकार करते हैं।

१०८४. श्रीरामकृष्ण (प्रतापचन्द्र मजूमदार के प्रति) – देखो, तुम्हें एक बात बताता हूँ। तुम पढ़े-लिखे हो, बुद्धिमान हो। तुम गम्भीरात्मा हो। केशव और तुम मानो गौर-निताई की तरह दो भाई थे। लेक्चर देना, तर्क-

वितर्क, वाद-विवाद करना – यह सब तो काफी हो चुका। अब भी क्या तुम्हें यह सब अच्छा लगता है? अब मन को समेटकर ईश्वर की ओर लगाओ। अब ईश्वर में डुबकी लगाओ।

प्रताप – जी हाँ, इसमें कोई सन्देह नहीं, यही करना कर्तव्य है। फिर भी मैं यह सब इसलिए कर रहा हूँ जिससे उनका (केशव का) नाम रहे।

श्रीरामकृष्ण (हँसकर) – तुम यह कह तो रहे हो कि उनका नाम बनाए रखने के लिए यह सब कर रहे हो, पर कुछ दिनों बाद तुममें यह भाव भी नहीं रह जाएगा। एक किस्सा सुनो –

एक आदमी एक पहाड़ के ऊपर कुटिया बनाकर रहता था। उसने बड़ी मेहनत से वह कुटिया बनाई थी। एक दिन बड़ी भारी आँधी उठी। कुटिया हिलने-डुलने लगी। तब उसे बचाने के लिए वह बड़ा चिन्तित हो उठा। वह प्रार्थना करने लगा, 'हे पवनदेव, मेरी कुटिया को न गिराओ, बाबा।' परन्तु पवनदेव ने नहीं सुना। कुटिया चरमराने लगी। तब उस आदमी को एक युक्ति सूझी, उसे याद आया कि हनुमानजी पवन के पुत्र हैं। वह बेचैन हो कहने लगा, 'दुहाई है बाबा; यह हनुमानजी की कुटिया है; इसे मत तोड़ो।' कुटिया फिर भी चरमर करने लगी। कौन किसकी सुने! कई बार 'हनुमानजी की कुटिया', 'हनुमानजी की कुटिया' रटने के बाद भी जब कोई फायदा नहीं हुआ तब वह कहने लगा, 'बाबा, यह रामजी की कुटिया है; दुहाई है, इसे न तोड़ो।' परन्तु इससे भी कुछ लाभ न हुआ। कुटिया आखिर चरमराती हुई टूटने लगी। तब वह जान बचाने के लिए बाहर निकल आया। निकलते हुए वह बोला, 'जाने दो, मेरे साले की कुटिया है!'

केशव के नाम को बनाए रखने की तुम्हें कोई जरूरत नहीं। जान रखो, – जो कुछ हुआ है वह ईश्वर की इच्छा से ही हुआ है! उन्हीं की इच्छा से बना, अब फिर उन्हीं की इच्छा से मिट रहा है, तुम भला क्या कर सकते हो? तुम्हारा अब यही कर्तव्य है कि तुम सम्पूर्ण मन को ईश्वर में लगाओ – उनके प्रेमसागर में कूद पड़ो।

१०८५. एक आदमी किसी साधु के पास जाकर अत्यन्त दीनभाव

दिखाते हुए बोला, "महाराज, मैं बड़ा अधम हूँ, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?" साधु ने उसके मनोभाव को समझते हुए कहा, "तुम ऐसी कोई वस्तु ले आओ जो तुमसे भी हीन हो।" उस आदमी ने सोचा, 'भला मुझसे हीन वस्तु और क्या हो सकती है? एकमात्र विष्ठा ही मुझसे हीन होगी।' ऐसा सोचा वह मैदान में विष्ठा लाने के लिए गया। पर उसके निकट आते ही विष्ठा बोल उठी, "मुझे मत छुओ! मैं पहले देवताओं के भोग में चढ़नेवाली सुन्दर मिठाई थी। पर एक बार तुम्हारे सम्पर्क में आते ही मेरी ऐसी दशा हो गई कि मेरे पास आते ही लोग नाक पर कपड़ा लगाकर दूर हट जाते हैं। अब तुम मुझे फिर छूने आए हो? तुम्हारे स्पर्श से न जाने मेरी और भी क्या दुर्दशा होगी! मुझे मत छुओ!" यह सुनते ही उस आदमी में यथार्थ दीनता का भाव आ गया।

१०८६. एक बार नारद के मन में अभिमान उत्पन्न हुआ, 'मेरे जैसा भक्त कोई नहीं।' भगवान् नारद का यह भाव जान गए। उन्होंने कहा, "नारद, अमुक स्थान पर मेरा एक भक्त रहता है, उससे मिल आओ।" नारद ने वहाँ जाकर एक किसान को देखा। वह किसान सुबह उठ केवल एक बार हरिनाम का उच्चारण कर हल ले खेत में चला गया। खेत में उसने दिनभर काम किया। फिर घर आ रात को सोते समय वह और एक बार हरि का नाम लेकर सो गया। यह सब देखकर नारद ने मन ही मन कहा, 'वाह रे वाह! भगवान् इसी को भक्त कह रहे हैं? भक्त का लक्षण तो इसमें कुछ भी नहीं दिखाई देता!' फिर नारद ने भगवान् के पास जाकर अपना मनोभाव प्रकट किया। तब भगवान् बोले, "नारद, तुम इस तेल से भरी कटोरी को हाथ में ले गोलोकधाम का भ्रमण कर आओ, परन्तु देखना, एक बूँद तेल न छलक पाए।" भगवान् के आदेशानुसार नारद हाथ में तेल का कटोरा लिये गोलोकभ्रमण कर आए। तब भगवान् ने पूछा, "नारद, गोलोकभ्रमण करते समय तुमने मेरा कितनी बार स्मरण किया?" नारद बोले, "भगवन्, मैं एक बार भी आपका स्मरण नहीं कर सका। भला करता भी कैसे? आपने मुझे जो तेल की कटोरी दी थी वह लबालब भरी हुई थी। उसमें से तेल

छलक न पाए इस भय से मुझे उसी ओर पूरी दृष्टि रखकर बहुत ही सम्हल-सम्भलकर चलना पड़ा।'' भगवान् ने कहा, 'नारद, एक कटोरी तेल के भय से तुम्हारे जैसा भक्त मुझे भूल गया! फिर वह किसान कितना बड़ा भक्त न होगा जो सिर पर यह प्रचण्ड संसार का भार ढोते हुए भी दिन में कम से कम दो बार तो मेरा स्मरण करता है!''

१०८७. किसी समय एक स्थान पर दो योगी भगवत्प्राप्ति के लिए साधना कर रहे थे। एक दिन देवर्षि नारद उस ओर से गुजरे। उन योगियों में से एक ने नारद से पूछा, ''क्या आप स्वर्ग से आ रहे हैं?'' नारद बोले, ''हाँ।'' योगी ने कहा, ''अच्छा बताइए तो भला, भगवान् इस समय स्वर्ग में क्या कर रहे हैं?'' नारद बोले, ''मैंने आते समय देखा कि भगवान् सुई के छेद में से ऊँट और हाथियों को पार करा रहे हैं।'' सुनकर योगी ने कहा, ''इसमें कोई अचरज नहीं। भगवान् के लिए कुछ भी असम्भव नहीं!'' किन्तु दूसरा योगी बोल उठा, ''यह असम्भव है। तुम भी स्वर्ग में नहीं गए!''

पहला योगी भक्त था। उसमें शिशु की तरह सरल विश्वास था। वह जानता था कि भगवान् के लिए कुछ भी असम्भव नहीं; भगवान् का स्वरूप कोई नहीं जानता।

१०८८. एक बार किसी का लड़का इतना बीमार पड़ा कि उसके बचने की कोई आशा नहीं रही। जब उसके प्राण अब तब हो रहे थे उस समय किसी ने बताया, 'एक उपाय है। यदि स्वाति नक्षत्र की वर्षा का जल किसी मुर्दे की खोपड़ी में गिरे और यदि उस जल को पीने कोई मेढक आए और कोई विषैला साँप उस मेढ़क को पकड़ने जाए पर मेढक उछलकर भाग जाए और साँप का विष उस खोपड़ी के जल में गिर पड़े तो रोगी को वह विषैला जल थोड़ासा पिलाने पर वह बच सकता है। उस आदमी ने पंचांग देखा। उसी दिन स्वाति नक्षत्र लगा था। तब वह भगवान् से प्रार्थना करते हुए दवा की खोज में निकला। उसी समय बारिश भी शुरू हो गई। तब वह व्याकुल हो कहने लगा, 'हे भगवन्, अब मुर्दे की खोपड़ी भी कहीं मिला दो।' खोजते हुए उसे एक स्थान पर मुर्दे की खोपड़ी पड़ी मिली। उसमें

स्वाति का पानी भी पड़ा हुआ था। तब वह प्रार्थना करते हुए कहने लगा, 'भगवन् दया करो, अब बाकी चीजें भी जुटा दो।' उसकी व्याकुलता जैसे जैसे प्रबल होती गई वैसे वैसे सब सामान भी जुटते जाने लगे। देखते ही देखते एक मेढ़क और उसका पीछा करते हुए एक साँप उस ओर आ पड़ा। खोपड़ी के पास आते ही साँप उसे काटने गया पर मेढ़क उछलकर पार कर गया और साँप का विष उस खोपड़ी के जल में गिर गया। तब वह आदमी मारे खुशी के ईश्वर का जयजयकार करते हुए वह जल ले आया। ईश्वर पर विश्वास रखकर व्याकुलता से प्रार्थना करने पर वे अवश्य सुनते हैं। उनकी कृपा से सब सम्भव हो जाता है।

१०८९. साधना अत्यन्त आवश्यक है; परन्तु यदि ठीक ठीक विश्वास हो तो फिर अधिक श्रम नहीं करना पड़ता। व्यासदेव यमुना पार करनेवाले थे कि इतनें में वहाँ कुछ गोपियाँ आ पहुँचीं। उन्हें भी यमुना के उस पार जाना था किन्तु कहीं कोई नाव नहीं दिखाई देती थी। व्यासदेव को देखकर गोपियों ने कहा, "महाराज, अब क्या किया जाए!" व्यासदेव बोले, "ठीक है, मैं तुम्हें पार करा देता हूँ। पर मुझे बड़ी भूख लगी है। तुम्हारे पास कुछ है?" गोपियों के पास दूध, दही, मक्खन आदि बहुत था। व्यासदेव के आगे रखते ही वे वह सब कुछ खा गए। तब गोपियों ने पूछा, "महाराज, पार जाने का क्या हुआ?" तब व्यासदेव यमुना के निकट जा खड़े हुए और बोले, "हे यमुने, यदि मैंने आज कुछ न खाया हो तो तेरा जल दो भागों मे बँट जाए और बीच के मार्ग से हम लोग पार हो जाएँ।" व्यासदेव ने ऐसा कहते यमुना का जल दो भागों मे विभक्त हो गया और बीच में से रास्ता बन गया। गोपियाँ आश्चर्यचकित हो सोचने लगीं, 'अभी तो इन्होंने इतना खाया, और फिर भी कहते हैं कि यदि मैंने आज कुछ न खाया हो...।' किन्तु यह उनका दृढ़ विश्वास था कि 'मैंने नहीं खाया, हृदय में जो नारायण हैं, उन्हींने खाया है।'

१०९०. किसी ब्राह्मण के यहाँ ठाकुरजी की नित्य सेवा होती थी। एक दिन किसी काम से ब्राह्मण को कहीं दूर जाना पड़ा। जाते समय वह

अपने छोटे बालक से कह गया, "देख, आज के दिन ठाकुरजी को तू ही भोग लगा देना, उन्हें ठीक से भोजन करा देना।" ठीक समय पर बालक ने ठाकुरजी को भोग लगाया और शान्त बैठकर देखने लगा। पर ठाकुरजी तो जैसे के वैसे ही रहे। उन्होंने न बातचीत की, न ही कुछ खाया। बालक को पूरा विश्वास था कि ठाकुर सामने रखे आसन पर बैठकर वास्तव में भोजन करेंगे। उसके बड़ी देर तक बैठे रहने के बाद भी जब ठाकुरजी नहीं उठे तो वह बार बार विनती करने लगा, "ठाकुरजी, बाबूजी मुझसे तुम्हें भोजन कराने के लिए कह गए हैं। तुम क्यों नहीं आते? मेरे हाथ से तुम क्यों नहीं खाते?" वह इस तरह कहते हुए व्याकुल होकर रोने लगा। उसका रुदन देख ठाकुरजी मुसकराते हुए आसन पर आ विराजे और भोजन करने लगे। ठाकुरजी को खिला-पिलाकर जब वह पूजागृह से बाहर निकला तो घरवालों ने कहा, "भोग तो चढ़ चुका, अब वह सब प्रसाद बाहर ले आ।" बालक बोला, "हाँ भोग लग चुका। ठाकुरजी सब जीम गए।" घरवालों ने आश्चर्यचकित होकर कहा, "क्या कहता है?" बालक सरल भाव से बोला, "क्यों, ठाकुरजी ने सब कुछ खा लिया है।" तब सब ने पूजाघर में जाकर देखा कि बालक का कहना सही था। सब मारे अचरज के दंग रह गए! सरल विश्वास और व्याकुलता में इतनी सामर्थ्य है!

१०९१. बालक जैसा विश्वास चाहिए! बालक माँ को देखने के लिए जिस प्रकार व्याकुल होता है उस प्रकार की व्याकुलता चाहिए। यह होने से ईश्वरदर्शन अवश्य होंगे।

जटिल नाम का एक बालक था। वह रोज वन में से होकर पाठशाला में जाया करता था। वन में से अकेले जाते हुए उसे डर लगता। एक दिन उसने अपनी माँ से यह बात बताई। माँ बोली, "डर किस बात का, बेटा! तू मधुसूदन को पुकारा करना!" बालक ने पूछा, "मधुसूदन कौन है, माँ?" माँ ने उत्तर दिया, "मधुसूदन तेरे भैया लगते हैं।" उसके बाद अकेले जाते हुए जैसे ही उसे डर लगा कि वह पुकारने लगा, "भैया मधुसूदन!" पर कहीं कोई नहीं दिखाई दिया। तब वह जोर जोर से पुकारते हुए रोने लगा,

"भैया मधुसूदन! तुम कहाँ हो? तुम आओ, मुझे बड़ा डर लग रहा है।" बालक की व्याकुलता देख मधुसूदन न रह सके। वे झट उसके सामने प्रकट होकर बोले, "ले मैं आ गया। तू डरता क्यों है?" यह कह मधुसूदन ने उसे पाठशाला के निकट पहुँचा दिया और कहा, "तू जब कभी मुझे पुकारेगा, मैं उसी समय आ जाऊँगा। तुझे कोई डर नहीं।" यही बालक का विश्वास है! यही उसकी व्याकुलता है!

१०९२. एक ग्वालिन एक ब्राह्मण पण्डित के यहाँ दूध पहुँचाया करती थी। ग्वालिन का घर नदी के उस पार था; समय पर नाव न मिलने के कारण उसे दूध लाने में देर हो जाया करती थी। एक दिन देरी के कारण पण्डितजी ने उसे खूब फटकारा। ग्वालिन बोली, "क्या करूँ, महाराज? मैं तो घर से जल्दी ही निकलती हूँ पर मल्लाह के लिए मुझे बहुत देर तक बैठे रहना पड़ता है।" पण्डितजी बोले, "अरी! रामनाम लेकर लोग भवसागर पार हो जाते हैं और तू एक छोटीसी नदी को पार नहीं कर पाती!" ग्वालिन बेचारी भोली-भाली थी। पण्डितजी की बात सुन वह बड़ी प्रसन्न हुई। दूसरे दिन से वह नाव के लिए राह न देख विश्वास के साथ रामनाम लेते हुए पैरों चलकर नदी पार कर आने लगी। एक दिन ब्राह्मण ने उससे पूछा, "क्या बात है? आजकल तो तुझे देर नहीं होती!" ग्वालिन बोली, "महाराज, तुम्हारी बात सुनकर मैं अब नाव के लिए नहीं ठहरती, रामनाम लेते हुए पैदल ही नदी पार कर आती हूँ।" पण्डितजी को इस बात पर विश्वास ही नहीं हुआ। उन्होंने उससे कहा, "तू मुझे चलकर नदी पार कर दिखा सकती है?" ग्वालिन पण्डितजी को साथ ले गई और नदी में उतरकर रामनाम लेते हुए चलने लगी। पण्डितजी भी घबराते हुए पानी में उतरे और धोती को सम्हालते हुए बड़ी मुश्किल से एक दो पग आगे बढ़े। ग्वालिन ने थोड़ी दूर जाकर जब पीछे मुड़कर देखा, तो पण्डितजी बड़े मुसीबत में पड़े हुए थे। तब वह बोली, "वाह्र महाराज, तुम मुँह से रामनाम भी लोगे और हाथों से धोती भी सम्हालोगे – यह कैसे चलेगा!" भगवान् पर पूरे विश्वास के साथ समर्पण करो, तभी काम बनेगा।

१०९३. मानव में स्वाधीन इच्छा है या नहीं इस विषय पर बहुत देर तक वाद-विवाद करने के पश्चात् श्रीरामकृष्ण के दो बालक-शिष्य यथार्थ समाधान पाने के लिए श्रीरामकृष्ण के निकट उपस्थित हुए। बालकों का विवाद कुछ देर तक सुनने के बाद श्रीरामकृष्ण ने कहा, "भला स्वाधीन इच्छा भी किसी में विद्यमान है! ईश्वर की ही इच्छा से सदा सब कुछ होता रहा है और होता रहेगा। मनुष्य इस बात को अन्त में समझ पाता है। फिर भी यह बात सत्य है कि यदि किसी गाय को एक लम्बी रस्सी के द्वारा खूँटे से बाँधकर रखा जाए तो वह गाय चाहे तो खूँटे से एक हाथ दूरी पर खड़ी हो सकती है, और चाहे तो रस्सी जितनी लम्बी है उतनी दूर तक जाकर भी खड़ी हो सकती है; मनुष्य की स्वाधीन इच्छा भी इसी प्रकार की है। वह गाय उतनी सीमा के भीतर चाहे जहाँ बैठे, खड़ी हो या घूमती रहे – इसी विचार से मनुष्य उसे इस प्रकार से बाँधता है। इसी प्रकार, ईश्वर ने भी मनुष्य को कुछ शक्ति प्रदान कर उसे उस शक्ति का चाहे जैसा एवं चाहे जितना उपयोग करने की स्वतन्त्रता देकर छोड़ दिया है। इसीलिए मनुष्य समझता है कि वह स्वाधीन है। पर रस्सी खूँटे से बँधी हुई है। फिर भी एक बात है। कातर होकर उनसे प्रार्थना करने पर वे रस्सी को ढीला कर बाँध सकते हैं, उसे और भी लम्बा कर दे सकते हैं और चाहे तो गले के बन्धन को एकदम खोल भी दे सकते हैं।"

सुनकर शिष्यों ने पूछा, "तब तो साधन-भजन करने में मनुष्य का हाथ नहीं है! सभी ऐसा कह सकते हैं, – 'मैं जो कुछ कर रहा हूँ, सब ईश्वर की इच्छा से कर रहा हूँ!' "

श्रीरामकृष्ण – पर वैसा केवल मुँह से कहने से क्या होगा! 'काँटा नहीं है' मुँह से कहने से क्या होगा; काँटे पर हाथ पड़ते ही तो 'उफ' कर उठना पड़ता है। साधन-भजन करना यदि मनुष्य के हाथ में होता तो सभी लोग साधन-भजन कर पाते – पर यह क्यों नहीं हो पाता? फिर भी, यह सच है कि ईश्वर ने मनुष्य को जितनी शक्ति दी है उसका पूरी तरह से सदुपयोग किए बिना वे अधिक शक्ति नहीं देते। इसीलिए पुरुषार्थ या उद्यम आवश्यक

है। ईश्वर की कृपा का अधिकारी बनने के लिए सभी को कुछ न कुछ उद्यम करना पड़ता है। ऐसा करने पर उनकी कृपा से दस जन्म का भोग एक ही जन्म में कट जाता है। किन्तु उनके ऊपर निर्भर होकर कुछ न कुछ उद्यम करना ही पड़ता है। एक कथा सुनो –

"गोलोकविहारी भगवान् विष्णु ने एक बार किसी कारण से नारद को शाप दिया कि तुम्हें नरक भोगना पड़ेगा। सुनकर नारद बड़े चिन्तित हुए। उन्होंने नाना प्रकार से स्तव-स्तुति के द्वारा भगवान् को प्रसन्न करते हुए पूछा, 'भगवन्, नरक कहाँ है, कैसा है, उसके कितने प्रकार हैं – मुझे यह जानने कि इच्छा हो रही है; आप कृपा कर मुझे यह बताएँ।' तब भगवान् विष्णु भूमि पर खड़िया के द्वारा स्वर्ग, नरक और पृथ्वी का चित्र खींचकर नारद को दिखाते हुए बोले 'यह स्वर्ग है और यह नरक।' सुनते ही नारद ने 'अच्छा! तब तो यह मेरा नरक भोग हो चुका' कहकर चित्र में अंकित नरक के स्थान पर लोटकर उठते हुए भगवान् को प्रणाम किया। विष्णु ने हँसते हुए कहा, 'यह क्या? तुम्हारा नरक भोग कहाँ हुआ?' नारद बोले, 'क्यों भगवन्! स्वर्ग और नरक तो आपका ही सृजन है! जब आपने चित्र बनाकर दिखाते हुए कहा कि यह नरक है, तव वह स्थान वास्तव में ही नरक बना और मेरे उस स्थान पर लोटने के कारण मेरा वास्तव में नरक भोग ही हुआ।' नारद ने यह बात आन्तरिक विश्वास के साथ कही थी। इसलिए विष्णु ने भी 'तथास्तु' कहा। परन्तु नारद को भगवान् पर पूरा विश्वास रखकर उस चित्र के नरक पर लोटना तो पड़ा ही, तभी (उतना उद्यम करने के बाद ही) उनका भोग कट सका।"

१०९४. एक बार अर्जुन के मन में बड़ा गर्व उत्पन्न हुआ कि 'मैं भगवान् का सबसे बड़ा भक्त हूँ।' अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्ण उसके गर्व को चूर्ण करने के लिए उसे एक दिन अपने साथ लेकर घूमने गए। जाते जाते एक स्थान पर उन्होंने एक ब्राह्मण को देखा। वह सूखी घास खा रहा था पर उसकी कमर में एक तेज तलवार लटक रही थी। अर्जुन तुरन्त समझ गया कि ब्राह्मण परम वैष्णव है, अहिंसा पालन करना ही उसका धर्म है,

यहाँ तक कि वह हरी घास तक को जीवनयुक्त समझकर नहीं खाता, केवल सूखी घास खाकर पेट भरता है। परन्तु भला ऐसे परम वैष्णव की कमर में तलवार क्यों? इस विसंगति को समझ न पाकर अर्जुन ने कृष्ण से पूछा, "यह कैसी विचित्र बात है! इसमें एक ओर परम अहिंसा का भाव दिखाई दे रहा है, और दूसरी ओर घोर हिंसा का प्रतीक! इसका कारण क्या है? मेरी तो समझ में नहीं आता।" श्रीकृष्ण ने कहा, "तुम उसी से पूछो न।" तब अर्जुन ने ब्राह्मण के निकट जाकर पूछा, "महाराज, तुम तो जीवहिंसा नहीं करते, सूखी घास खाया करते हो, फिर तुम्हारे पास यह तलवार क्यों?" ब्राह्मण बोला, "यह तलवार मैंने चार जनों को काटने के लिए रखी है।"

अर्जुन – किस-किसको?

ब्राह्मण – पहले उस दुष्ट नारद को!

अर्जुन – क्यों?

ब्राह्मण – दुष्ट की इतनी मजाल कि वह क्या दिन, क्या रात, जब चाहे तब मेरे भगवान् को गाते-बजाते हुए जगा देता हैं!

अर्जुन – दुसरा कौन?

ब्राह्मण – वह दुष्ट प्रह्लाद है। पाजी ने भगवान् की नवनीत जैसी कोमल देह को कठीन स्फटिकस्तम्भ के भीतर से निकाला!

अर्जुन – तीसरा कौन?

ब्राह्मण – वह दुष्ट द्रौपदी है।

अर्जुन – उसने क्या किया?

ब्राह्मण – पापिन की इतनी हिम्मत कि जिस समय भगवान् भोजन करने बैठे थे उसी समय उन्हें बुलाकर भोजन नहीं करने दिया; और ऊपर से उन्हें अपना जूठा खिलाया!

अर्जुन – और चौथा किसे काटना है?

ब्राह्मण – साले अर्जुन को!

अर्जुन – क्यों?

ब्राह्मण – साले का इतना दुस्साहस कि मेरे भगवान् को अपना सारथी

बनाया!

ब्राह्मण के भक्तिभाव की गहराई को देख अर्जुन स्तम्भित और मुग्ध हो गया। उसका अहंकार चूर्ण हो गया।

१०९५. किसी गाँव में एक जुलाहा रहता था। वह बड़ा धार्मिक था। उसकी धार्मिकता के लिए सभी उस पर विश्वास करते थे तथा उससे प्रेम रखते थे। जुलाहा हाट में जाकर कपड़े बेचा करता था। खरीददार के द्वारा कपड़े की कीमत पूछे जाने पर वह कहता, "रामजी की इच्छा से सूत का दाम एक रुपया है, रामजी की इच्छा से मेहनत के चार आने लगे, रामजी की इच्छा से मुनाफा दो आना लगाया गया, सो रामजी की इच्छा से कपड़े का दाम हुआ एक रुपया छह आना।" उसकी बात पर विश्वास कर लोग झट मुँहमाँगा दाम देकर कपड़ा ले जाते। जुलाहा बड़ा भक्त था। भोजन के बाद वह गहरी रात तक बरामदे में बैठा हुआ ईश्वर का चिन्तन, उनका नाम गुणगान किया करता।

एक दिन उसे बड़ी रात तक नींद नहीं आई। वह बैठे बैठे बीच बीच में तमाखूँ पी रहा था। उसी समय रास्ते से डकैतों का एक दल कहीं डकैती करने जा रहा था। उन्हें सामान ढोने के लिए एक कुली की जरूरत थी। वे उस जुलाहे को देखते ही अपने साथ खींच ले गए। फिर उन्होंने एक मकान में डाका डाला और सब माल जुलाहे के सिर पर लाद कर चलने लगे। पर इतने में पुलिस आ पहुँची। पुलिस को देख डाकू तो भाग निकले पर बेचारा जुलाहा सिर पर माल लादे हुए पकड़ा गया। उसे थाने में ले जाया गया। दूसरे दिन हाकिम के सामने न्याय होनेवाला था। यह खबर सुनते ही गाँववाले थाने में जा पहुँचे और हाकिम से कहने लगे, "हुजूर, यह बड़ा धर्मात्मा है, यह डकैती हरगिज नहीं कर सकता।" तब हाकिम ने उसे सारी घटना विस्तृत रूप से कह सुनाने के लिए कहा। जुलाहा बोला, "हुजूर! रामजी की इच्छा से मैंने रात को रोटी खाई। फिर रामजी की इच्छा से बरामदे में बैठकर भगवान् का नाम लेने लगा। रामजी की इच्छा से बहुत रात हो गई। ऐसे समय, रामजी की इच्छा से रास्ते से एक डाकुओं की टोली जा

रही थी। रामजी की इच्छा, वे मेरा हाथ पकड़कर खींच ले गए। फिर रामजी की इच्छा से उन्होंने एक जन के मकान में डाका डाला। रामजी की इच्छा से उन्होंने मेरे सर पर सब माल लाद दिया। इतने में रामजी की इच्छा से पुलिस आ पहुँची। रामजी की इच्छा से सब डाकू भाग गए। रामजी की इच्छा से मैं पकड़ा गया। रामजी की इच्छा से कल रात भर मैं थाने में बन्द रहा और आज सबेरे रामजी की इच्छा से मुझे हुजूर के सामने लाया गया।'' उस जुलाहे की सरलता और धर्मभाव को देख हाकिम ने उसे छोड़ दिया। जुलाहा घर लौटते हुए राह में अपने पहचानवालों से कहने लगा, ''रामजी की इच्छा से मुझे छोड़ दिया गया।''

संसार में रहना, संन्यास ग्रहण करना – सभी राम की इच्छा है। इसलिए उन्हीं पर सब भार डालकर संसार का कामकाज करो।

१०९६. एक रात को कोई चोर राजमहल में चोरी करने घुसा। उसे सुनाई दिया कि राजा रानी से कह रहा है, 'कल सबेरे गंगाजी के किनारे जो साधु ठहरे हुए हैं उनमें से एक जन के साथ राजकन्या का विवाह रचाएँगे।' सुनते ही चोर ने सोचा, 'मैं भी क्यों न गंगा किनारे साधु बनकर बैठा रहूँ! यदि भाग्य जाग जाएँ तो राजकुमारी के साथ विवाह हो जाएगा।' उसने वैसा ही किया। दूसरे दिन सबेरे राजा के कर्मचारी उस स्थान पर आकर एक एक कर सब साधुओं को राजकन्या के साथ विवाह करने के लिए विनती करने लगे, पर कोई साधु राजी न हुआ। अन्त में राजकर्मचारियों ने उस साधुवेशधारी चोर को आमन्त्रण दिया। पर चोर उस समय अपना मनोभाव प्रकट न कर थोड़ा चुप्पी साधे रहा। राजा के कर्मचारियों ने आकर राजा से कहा, 'एक युवक साधु हैं, वे शायद राजी हो सकते हैं, परन्तु और कोई साधु तैयार नहीं हैं।' तब राजा स्वयं उस साधुवेशधारी चोर के निकट आए तथा नाना प्रकार से उसकी आरजू-मिन्नत करने लगे। परन्तु राजा को सामने देखते ही उसे चोर के मन में परिर्वतन हो गया। वह सोचने लगा, 'मैंने केवल साधु का वेश चढ़ाया है इतने से ही राजा खुद आकर मेरी इतनी खुशामद कर रहा है, तब तो न जाने वास्तव में साधु बनने पर मुझे और क्या क्या न

मिलेगा।' इस विचार के परिणामस्वरूप उसने विवाह के प्रस्ताव को नकार दिया और वह वास्तव में यथार्थ साधु बनने के लिए प्रयत्न करने लगा। फिर उसने कभी विवाह नहीं किया और वह एक अच्छा साधु बन गया। तनिक देर के लिए साधु का वेश पहनकर साधुओं के बीच बैठते ही चोर का मन इतना बदल गया! सत्संग की महिमा का बखान नहीं किया जा सकता।

त्याग और वैराग्य

१०९७. किसी आदमी को कोई नौकरी नहीं थी। उसकी पत्नी उसे हमेशा नौकरी ढूँढ़ने के लिए परेशान किया करती। एक बार उसका लड़का बहुत बीमार पड़ा और कुछ दिन तक अत्यधिक पीड़ा भोगने के बाद एक दिन वह चल बसा। उसके मर जाने पर जिस समय घर में रोना-पिटना चल रहा था ऐसे समय वह आदमी कपड़े बदलकर घर से बाहर निकल गया। उस समय घर के सभी लोग शोकमग्न थे, इसलिए उसकी ओर किसी का ध्यान नहीं गया। पर कुछ देर बाद जब वह नहीं दिखाई दिया तब सब लोग उसे ढूँढ़ने लगे। वह कहीं नहीं मिला। तब सब बड़े चिन्तित हो गए। काफी देर के बाद वह आदमी आता हुआ दिखाई दिया। उसे देखते ही उसकी पत्नी ने गुस्सा होकर उससे पूछा, "कहाँ गए थे।" वह बोला, "क्यों, नौकरी की तलाश में।" स्त्री तिलमिलाकर बोल उठी, "तुम कैसे अजीब हो जी! क्या तुम्हारे मन में तनिक भी दया-माया नहीं है! आज ही सोने जैसा बच्चा चल बसा, और तुम्हारे मन में थोड़ा भी दु:ख नहीं हुआ? आज तुम नौकरी ढूँढ़ने निकले?" तब वह आदमी हँसकर बोला, "देखो! एक दिन मैंने सपना देखा था कि मेरे सात लड़के हैं और बहुत धन-दौलत है; मैं उनके साथ खूब आनन्द मना रहा हूँ। ऐसे समय मेरी नींद खुल गई और फिर वे सब के सब जाने कहाँ गायब हो गए। उस समय तो उन सात बच्चों के लिए मुझे कोई दु:ख हुआ नहीं।" जो संसार को स्वप्नवत् जानता है, वह साधारण मनुष्यों की तरह संसार के सुख-दु:खों से लिप्त नहीं होता।

१०९८. एक बार एक युवक संन्यासी किसी के घर भिक्षा माँगने गया। वह बालसंन्यासी था, उसे संसार का कोई अनुभव नहीं था। घर में से एक जवान लड़की ने आकर उसे भिक्षा दी। संन्यासी ने उसके स्तनों को देखकर पूछा, "इसकी छाती में क्या फोड़े हुए हैं?" लड़की की माँ बोली, "नहीं बेटा! इसके पेट से बच्चा पैदा होगा इसलिए भगवान् ने इसे ये स्तन दिए हैं – इन स्तनों से बच्चा दूध पीएगा।" सुनते ही संन्यासी बोल उठा, "तब चिन्ता किस बात की है! मैं फिर क्यों भिक्षा माँगू? जिन्होंने मेरा सृजन किया, वे ही मुझे खाने को भी देंगे!"

१०९९. एक व्यक्ति तथा उसकी पत्नी दोनों संसार से विरक्त हो घर-द्वार छोड़कर विभिन्न तीर्थ-क्षेत्रों की यात्रा करते हुए घूम रहे थे। चलते हुए उस व्यक्ति को राह में एक स्थान पर एक बहुमूल्य हीरा पड़ा हुआ दिखाई दिया। उसकी पत्नी कुछ पीछे थी। हीरे को देखते ही पति के मन में विचार आया, 'हीरा देखकर मेरी पत्नी के मन में लोभ पैदा न हो जाए' और वह तुरन्त उसे ढाँकने के लिए उस पर धूल उठाकर डालने लगा। इतने में उसकी पत्नी निकट आ पहुँची और उसने पूछा, "यह क्या कर रहे हो?" पति झेंप गया। पत्नी ने पैर से धूल हटाकर उस हीरे को देखते हुए कहा, "अब भी तुम्हारे भीतर हीरा और धूल में भेदबुद्धि बनी हुई है! तब तुम घर छोड़कर निकल क्यों आए!"

११००. वैराग्य कैसे साधा जा सकता है? एक बार एक स्त्री ने अपने पति से कहा, "मेरा भैया संन्यासी बननेवाला है। उसके लिए वह काफी दिनों से कुछ कुछ तैयारी कर रहा है।" पति ने कहा, "हट पगली, वह कभी संन्यासी नहीं बन सकेगा। इस तरह तैयारी करके संन्यासी नहीं बना जाता।" स्त्री बोली, "फिर भला किस तरह संन्यासी बना जाता है?" "किस तरह संन्यासी बना जाता है, देखना चाहती है?" कहकर पति ने झट सब वस्त्र फाड़कर केवल कौपीन पहन लिया और स्त्री से 'आज से तू मेरी माँ हुई' कहते हुए घर से निकल पड़ा। फिर वह कभी नहीं लौटा।

११०१. 'बनत बनत बनि जाई' 'चलो राम का नाम लो', 'जैसी

उनकी मरजी' – यह सब मन्द वैराग्य है। जिसे तीव्र वैराग्य होता है उसके प्राण भगवान् के लिए इस तरह व्याकुल रहते हैं, जैसे अपनी कोख की सन्तान के लिए माँ के प्राण व्याकुल रहते हैं। जिसे तीव्र वैराग्य होता है वह भगवान् के बिना और कुछ नहीं चाहता। संसार उसे कुएँ जैसा प्रतीत होता है, लगता है कि अब डूबा। सगे सम्बन्धी काले नाग की तरह प्रतीत होते हैं, उनसे दूर भागने की इच्छा होती है और वह भागता भी है। वह ऐसा कभी नहीं सोचता कि 'पहले घर का बन्दोबस्त कर लूँ, फिर ईश्वर-चिन्तन करूँगा।' उसके भीतर बड़ी जिद रहती है।

तीव्र वैराग्य किसे कहते हैं, इसकी एक कहानी सुनो। किसी देश में एक बार सूखा पड़ा। किसान लोग दूर से नालियाँ काट-काटकर खेत में पानी लाने लगे। एक किसान बड़ा जिद्दी था। उसने एक दिन प्रतिज्ञा की कि जब तक नदी के साथ नाली का संयोग होकर पानी न आने लगे, तब तक बराबर नाली खोदता रहूँगा। इधर नहाने-खाने का समय हो गया। उसकी पत्नी ने लड़की के हाथ तेल भिजवा दिया। लड़की बोली, "पिताजी, दोपहर हो गई, तेल लगाकर नहा लो।" उसने कहा, "तू जा, मुझे अभी काम है।" दोपहर ढल गई पर वह काम में डटा रहा। नहाने का नाम तक नहीं लिया। तब उसकी पत्नी खेत में जाकर कहने लगी, "अभी तक नहाया क्यों नहीं? उधर रोटियाँ ठण्डी हो गईं। तुम हरएक काम में ऐसा ही हठ किया करते हो! काम कल करते, नहीं तो खाने-पीने के बाद ही कर लेते!" किसान हाथ में कुदाल उठाए गालियाँ देता हुआ स्त्री को मारने दौड़ा। बोला, "तेरी अकल चरने गई है क्या? देखती नहीं, बारिश हुई नहीं; खेती-बाड़ी का काम कुछ हो नहीं पाया। इस बार लड़के-बच्चे क्या खाएँगे? सब भूखे मरेंगे! मैंने प्रतिज्ञा कर ली है कि आज पहले खेत में पानी लाऊँगा, उसके बाद ही नहाने-खाने की बात होगी।" उसके तेवर देख उसकी स्त्री भाग आई। किसान ने दिन भर जी-तोड़ मेहनत करने के बाद आखिर शाम के समय नदी के साथ नाली को जोड़ ही दिया। फिर एक ओर बैठकर देखने लगा, नदी का पानी कैसे कलकल कर बहता हुआ खेत में आ रहा है। तब उसका

मन शान्ति और आनन्द से भर उठा। फिर घर जाकर उसने स्त्री को पुकारकर कहा, "अब थोड़ा तेल ले आ और चिलम में तमाखू भर दे।" उसके बाद निश्चिन्त होकर स्नान-भोजन कर वह चैन से सोता हुआ खर्राटे लेने लगा। ऐसी जिद तीव्र वैराग्य की उपमा है।

एक और किसान था। वह भी खेत में पानी लाने गया था। पर जब उसकी पत्नी खेत में गई और बोली, 'समय बहुत हो गया है, अब चलो, इतनी ज्यादा मेहनत न करो', तब उसने कोई विरोध न कर चुपचाप कुदाल रख दी और बोला, "अच्छा, तू कहती है तो चल।" वह किसान कभी खेत में पानी नहीं ला सका! यह मन्द वैराग्य की उपमा है।

हठ के बिना जिस प्रकार किसान खेत में पानी नहीं ला सकता, उसी प्रकार मनुष्य भी ईश्वरदर्शन नहीं कर सकता।

११०२. एक मछुआ रात के समय किसी के बगीचे मे घुसकर तालाब से चोरी-चोरी मछलियाँ पकड़ रहा था। मालिक को इसकी खबर लग गई और उसने लोगों को बुलाकर बगीचा घेर लिया। वे लोग मशाल जलाकर चोर को ढूँढ़ने लगे। इधर मछुए ने स्वयं को बचाने के लिए झट शरीर पर थोड़ी राख मल ली और एक पेड़ के नीचे साधु सजकर बैठ गया। उन लोगों ने बहुत खोज-तलाश की पर चोर कहीं नहीं मिला, केवल एक पेड़ के नीचे एक साधु भभूत रमाए ध्यानमग्न बैठा हुआ दिखाई दिया। दूसरे ही दिन गाँव भर में खबर फैल गई कि अमुक के बगीचे में एक बड़े भारी महात्मा आए हुए हैं। फिर क्या था, सब लोग फूल, फल, मिठाई आदि लेकर साधु के दर्शन के लिए आने लगे; उसे भेंट चढ़ाते हुए प्रणाम करने लगे। साधु के सामने बहुत रुपए-पैसे भी पड़ने लगे। तब मछुए ने विचार किया, 'कितने अचरज की बात है! मैं सचमुच में साधु नहीं हूँ, फिर भी मुझ पर लोगों की इतनी श्रद्धा-भक्ति है। तब तो सच्चा साधु बन जाने पर मुझे अवश्य ही भगवान् मिलेंगे, इसमें सन्देह नहीं।'

जब कपट-साधना से ही उसमें इतनी चेतना जाग गई तब सत्य-साधना होने पर तो कोई बात ही नहीं।

११०३. किसी साधु को खूब सिद्धियाँ प्राप्त हुई थीं। इसलिए उसे अहंकार भी हुआ था। किन्तु वह साधु स्वभाव से अच्छा था, उसने तपस्या भी की थी। इसलिए एक दिन स्वयं भगवान् साधु का वेश धरकर उसके निकट आए और बोले, "महाराज, सुना है कि आपको खूब सिद्धियाँ प्राप्त हुई हैं!" साधु ने उन्हें आवभगत कर पास बैठाया। इतने में सामने से एक हाथी जाता हुआ दिखाई पड़ा। नए साधु ने पूछा, "क्यों महाराज, क्या आप चाहें तो इस हाथी को मार सकते हैं?" पहला साधु बोला, "हाँ, यह हो सकता है।" फिर उसने थोड़ीसी धूल लेकर मन्त्र पढ़ते हुए उस हाथी पर फेंका। हाथी तुरन्त छटपटाकर मर गया। तब आगन्तुक साधु ने कहा, "आपमें कितनी शक्ति है! हाथी को मार डाला!" पहला साधु आनन्द से मुसकराने लगा। फिर नए साधु ने कहा, "अच्छा, आप इस हाथी को फिर जिला भी सकते हैं?" पहला साधु बोला, "यह भी हो सकता है?" ऐसा कहकर उसने फिर उस पर मन्त्र पढ़कर धूल फेंकी, हाथी तत्काल हड़बड़ाकर उठ खड़ा हुआ। तब नया साधु बोला, "आपमें कितनी शक्ति है। पर मैं आपसे एक बात पूछता हूँ। यह जो आपने हाथी को मारा और फिर जिला दिया, इससे आपको क्या लाभ हुआ? इससे आपकी स्वयं की कितनी उन्नती हुई? इसके द्वारा क्या आप भगवान् को पा सके?" इतना कहकर वह साधु अदृश्य हो गया।

११०४. एक लकड़हारा जंगल में लकड़ी काटकर बेचते हुए अत्यन्त कष्ट से दिन गुजारा करता था। एक दिन अचानक एक साधु ने उससे कहा, "बच्चा, आगे बढ़ो।" साधु की बात सुनकर लकड़हारा कुछ दूर तक गया। उसे वहाँ एक चन्दन का वन दिखाई दिया। तब वह चन्दन की लकड़ियाँ काट लाया और उन्हें बेचकर उसे बहुत अधिक पैसा मिला। दूसरे दिन उसने विचार किया, 'मुझे साधु बाबा ने चन्दन के बारे में तो कुछ नहीं कहा था, उन्होंने तो सिर्फ आगे बढ़ने कहा था। मुझे और आगे बढ़ना चाहिए।' वह चन्दन वन से भी आगे बढ़ा और थोड़ी दूर चलकर उसे एक जगह ताँबे की खान दिखाई पड़ी। वह उस खान में से बहुतसा ताँबा उठा लाया और

उसे बाजार में बेचकर उसने पहले दिन से भी अधिक धन कमाया। इसके दूसरे दिन वह और आगे बढ़ा तो उसे चाँदी की खान मिली। चाँदी बेचकर उसे और अधिक धन प्राप्त हुआ। परन्तु इतने से न भूलकर वह और भी आगे आगे जाने लगा। धीरे धीरे उसे सोने और हीरे की खानें मिली और वह बहुत धनवान बन गया। धर्मराज्य में भी यही नियम है। यदि तुम यथार्थ ज्ञान चाहते हो तो आगे बढ़े चलो। साधना की किसी विशेष अवस्था में कुछ सिद्धियाँ या अद्भुत दर्शनादि पाकर मारे आनन्द के अपना उद्देश्य भूल मत जाओ। यदि तुम आगे बढ़े चलोगे तो तुम्हें अन्त में अमूल्य धन प्राप्त होगा।

११०५. अकबर शाह जिस समय दिल्ली का बादशाह था उस समय दिल्ली से कुछ दूरी पर एक वन में एक फकीर रहा करता था। उस फकीर के कुटिया में काफी लोग आया-जाया करते पर फकीर के पास उनका आदर-सत्कार करने के लिए कुछ नहीं था। एक बार फकीर को अतिथि-अभ्यागतों का आदर-सत्कार करने की बड़ी इच्छा हुई और उसने सोचा, 'यह काम रुपए-पैसे के बिना नहीं हो सकता, इसके लिए एक बार अकबर शाह के पास जाया जाए।' अकबर शाह का दरबार साधु-सन्त और फकीर-दरवेशों के लिए हर समय खुला रहता था। फकीर जिस समय गया उस समय अकबर शाह नमाज पढ़ रहा था। फकीर पास ही जाकर बैठ गया। उसने सुना कि अकबर खुदा से कह रहा है, 'अल्लाह, मुझे धन दे, दौलत दे, ताकत दे।' सुनते ही फकीर उठकर चला जाने लगा। अकबर ने इशारे से उसे बैठने को कहा, फिर नमाज पूरा करने के बाद उसने उससे पूछा, "आप आकर बैठे, फिर उठकर जाने क्यों लगे?" फकीर बोला, "बादशाह को वह बात सुनने की कोई जरूरत नहीं; मैं चलता हूँ।" बादशाह के बहुत जबरदस्ती करने पर अन्त में फकीर ने कहा, "मेरे यहाँ कई लोग आया करते हैं। उनकी सुख-सुविधा के लिए तुम्हारे पास कुछ माँगने आया था।" अकबर बोला, – "तो फिर चले क्यों जा रहे हैं?" फकीर बोला, "जब देखा, तुम भी धन-दौलत के भिखारी हो तो सोचा, 'भिखारी के पास भीख माँगने

से क्या फायदा! माँगना ही है तो अल्लाह से ही क्यों न माँगू!''

११०६. एक बार एक ब्राह्मण की किसी संन्यासी से भेंट हुई। उनमें संसार और धर्म के बारे में काफी वार्तालाप हुआ। अन्त में संन्यासी ने कहा, ''देखो बेटा, यहाँ कोई किसी का नहीं है।'' ब्राह्मण को यह बात मंजूर नहीं थी। जिस स्त्री-पुत्र, माता-पिता आदि के लिए वह दिन-रात जी-तोड़ मेहनत कर रहा है, वे उसके कोई नहीं हैं – भला इस पर वह कैसे विश्वास कर सकता था! ब्राह्मण बोला, ''महाराज, मेरा सिर थोड़ा दुखने लगे तो मेरी माँ कैसी व्याकुल हो उठती है! मेरा कष्ट दूर करने के लिए जो प्राणों की बाजी लगा देने को तत्पर रहते हैं, वे लोग क्या मेरे कोई नहीं हैं!'' संन्यासी बोला, ''अगर ऐसा हो तो वे सचमुच तुम्हारे अपने हैं। पर असल में बात यह है कि यह सब तुम्हारा भ्रम है। तुम्हारी माता, पत्नी या पुत्र तुम्हारे लिए अपनी जान दे सकते हैं – इस बात पर कभी विश्वास मत रखना। बात सच है या झूठ यह परखकर देख लो न! आज घर जाकर तुम पीड़ा का ढोंग करते हुए चिल्लाते रहो, मैं तुम्हारे यहाँ आकर तुम्हें एक तमाशा दिखाता हूँ।''

ब्राह्मण ने वैसा ही किया। घर जाकर वह रोने-चिल्लाने लगा। काफी वैद्य, हकीम आए पर उसका दर्द कुछ कम नहीं हुआ। उसकी माँ बेचैन हो उठी, औरत और बच्चे रोने लगे। इतने में संन्यासी आ पहुँचा। उसने देखकर कहा, ''इसे बड़ा ही कठिन रोग हो गया है। इसके बचने का कोई उपाय नहीं दीख पड़ता। परन्तु यदि इसके बदले और कोई अपने प्राण दे सके तो यह बच सकता है।'' सुनकर सब लोग आश्चर्य से ताकने लगे। तब संन्यासी ने रोगी की बूढ़ी माँ से कहा, ''माई, इस बुढ़ापे में जवान, कमाते बेटे को गँवाकर तुम्हारा जीना न जीना एक ही है। तुम अगर इसके बदले अपने प्राण दे सको तो मैं इसे बचा सकता हूँ। और अगर तुम माँ होकर अपने बेटे के लिए प्राण न दे सको तो फिर भला इस संसार में और कौन है जो इसके लिए अपने प्राण दे!'' बूढ़ी रोते हुए बोली, ''बाबा, इसके लिए तुम मुझे जो कुछ करने कहोंगे, मैं वही करूँगी। अब रही प्राण देने

की बात – भला ऐसे बेटे के लिए प्राण देना कौन बड़ी बात है – पर मैं यही सोच रही हूँ कि मेरे मरने पर घर में इन बच्चों का क्या हाल होगा! मेरी किस्मत ही फूटी है, नहीं तो मेरे सर पर इन सब का भार क्यों होता।"

इधर यह बात सुनते सुनते रोगी की स्त्री जोर से पुकारकर रो पड़ी, "ओ मेरे बाबूजी, ऐ मेरी अम्माँ, तुम्हें दगा देकर मैं कैसे जाऊँ!" संन्यासी ने उसकी ओर देखकर कहा, "इसकी माँ तो इसके लिए जान नहीं दे सकी। पर तुम तो इसकी पत्नी ठहरीं। क्या तुम अपने पति के प्राण बचा सकती हो?" पत्नी बोली, "मैं अभागी हूँ महाराज। मेरे भाग में जो लिखा है, होने दो। अब बिना कारण अपने माँ-बाप को रुलाकर मुझे क्या मिलनेवाला है?" इस प्रकार सब लोग अपनी असुविधा व्यक्त करने लगे। तब संन्यासी ने उस ब्राह्मण से कहा, "अब देखा न, कोई तुम्हारे लिए प्राण नहीं देना चाहता। अब तो समझ गए न कि संसार में कोई किसी का नहीं।" यह देखकर ब्राह्मण संसार छोड़ संन्यासी के साथ निकल पड़ा।

११०७. एक शिष्य ने अपने गुरु से कहा था, "गुरुदेव, मेरी पत्नी मुझसे बहुत प्रेम करती है, उसी के कारण मैं संसार नहीं छोड़ पा रहा हूँ।" वह शिष्य हठयोग का अभ्यास करता था। गुरु ने उसे एक युक्ति सिखा दी। एक दिन उसके घर एकाएक खूब रोना-पीटना मच गया। मुहल्लेवालों ने आकर देखा, हठयोगी आसन पर टेढ़ा-मेढ़ा होकर निर्जीव बना बैठा है। सभी को लगा कि उसके प्राणपखेरू उड़ चुके हैं। उसकी स्त्री पछाड़ खाकर रोने लगी, "अजी, हमारा सत्यानास हो गया जी! अजी तुम यह क्या कर गए जी! अरी अम्माँ, ऐसा होगा, मालूम नहीं था री!" थोड़ी देर में सगे-सम्बन्धी एक खाट ले आए और उसकी देह को बाहर निकालने लगे। इस समय एक मुश्किल हुई। टेढ़ी-मेढ़ी और कठिन हो जाने के कारण उसकी देह दरवाजे से नहीं निकल रही थी। तब एक पड़ोसी दौड़कर एक कुल्हाड़ी ले आया और दरवाजे की चौखट को धमाधम काटने लगा। स्त्री अधीर होकर रो रही थी, पर धमाधम की आवाज सुनकर वह दौड़ी आई। उसने आकर रोते हुए पूछा, "अजी, यह क्या हो रहा है जी?" लोगों ने कहा, "इनकी

देह बाहर नहीं निकल पा रही है, इसलिए चौखट को काट रहे हैं।'' तब वह कहने लगी, ''अजी, ऐसा काम मत करना जी। मैं अभी विधवा हो गई। मुझे देखनेवाला कोई नहीं रहा। मुझे इन नाबालिग बच्चों को पालना-पोसना पड़ेगा! यह दरवाजा एक बार काटने से फिर नहीं बन पाएगा। अजी इन्हें जो होना था, सो तो हो ही गया, इन्हीं के हाथ-पाँव काट दो!'' सुनते ही हठयोगी उठ खड़ा हुआ। तब तक बूटी का असर कट चुका था। उसने उठकर कहा, ''साली, मेरे हाथ-पाँव काटती है!'' यह कहकर वह तत्काल घर छोड़कर गुरु के साथ निकल पड़ा।

माया का स्वरूप

११०८. एक आदमी वन में से होता हुआ कहीं जा रहा था। राह में उसे तीन डाकुओं ने आकर पकड़ लिया। उन्होंने उसका सबकुछ छीन लिया। फिर एक डाकू बोला, ''अब इसे जिन्दा छोड़ने में क्या फायदा?'' यह कहकर वह उसे तलवार से काटने आया। तब दूसरा डाकू बोला, ''नहीं जी, काटने से क्या मिलनेवाला है! इसके हाथ-पाँव बाँधकर यहीं छोड़ चलो।'' तब वे उसके हाथ-पाँव बाँध उसे वहीं छोड़कर चले गए। कुछ देर बाद उनमें से एकजन लौट आया और बोला, ''आह! तुम्हें कष्ट हुआ? आओ, मैं तुम्हारा बन्धन खोल देता हूँ।'' उसका बन्धन खोलकर डाकू ने कहा, ''मेरे साथ आओ, मैं तुम्हें सड़क पर पहुँचा देता हूँ।'' काफी देर तक चलने के बाद सड़क पर पहुँचकर वह बोला, ''इस रास्ते से चले जाओ, वह तुम्हारा मकान दिखाई दे रहा है।'' तब उस आदमी ने डाकू से कहा, ''भैया, आपने मुझ पर बड़ा उपकार किया, अब आप भी आइए, मेरे मकान तक चलिए।'' डाकू बोला, ''नहीं, मैं वहाँ नहीं जा सकता, पुलिस को पता चल जायगा।''

यह संसार ही वन है। इस वन में सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण तीन डाकू हैं। वे जीव का तत्त्वज्ञान छीन लेते हैं। तमोगुण जीव का विनाश करना चाहता है; रजोगुण संसार में आबद्ध करता है; पर सत्त्वगुण रज और तम से बचाता है। सत्त्वगुण का आश्रय मिलने पर काम-क्रोध आदि तमोगुणों

से रक्षा होती है। फिर सत्त्वगुण जीव के संसार-बन्धन को नष्ट कर देता है। किन्तु सत्त्वगुण भी डाकू ही है, वह तत्त्वज्ञान नहीं दे सकता। हाँ, वह जीव को उस परमधाम को जाने के मार्ग तक पहुँचा देता है और कहता है, "वह देखो, तुम्हारा मकान वह दिखाई दे रहा है!" पर जहाँ ब्रह्मज्ञान है वहाँ से सत्त्वगुण भी बहुत दूर है।

११०९. एक पण्डितजी अपने शिष्य के घर जा रहे थे। साथ कोई नौकर नहीं था। राह में एक चमार को देखकर उन्होंने कहा, "क्यों रे, मेरे साथ चलेगा? अच्छा खाने को मिलेगा, आराम से रहेगा, चल न।" चमार बोला, "महाराज, मैं नीची जाति का ठहरा, भला आपका नौकर बनकर कैसे जाऊँ?" पण्डितजी बोले, "इसके लिए तू कुछ फिकर मत कर। तू किसी को अपना परिचय नहीं देना, किसी से बातचीत भी नहीं करना।" चमार राजी हो गया। शिष्य के घर पहुँचकर सन्ध्या के समय जब पण्डितजी सन्ध्या-आह्निक कर रहे थे उस समय और एक ब्राह्मण वहाँ आया और इस नौकर से बोला, "उस जगह से मेरी जूतियाँ ले आ भला।" नौकर ने कोई उत्तर नहीं दिया। ब्राह्मण ने फिर वही दुहराया। पर नौकर चुपचाप बैठा रहा। ब्राह्मण के तीन-चार बार कहने पर भी वह टस से मस न हुआ। अन्त में ब्राह्मण ने चिढ़कर कहा, "अरे मूर्ख, त ब्राह्मण की बात नहीं सुनता; तू कौनसी जाती का है, चमार है क्या?" यह सुनते ही चमार मारे डर के काँपते हुए पण्डितजी की ओर देखकर बोला, "महाराज! महाराज! मुझे पहचान लिया। मैं चला!" और वह भाग गया। माया को पहचान लेने पर वह उसी समय भाग जाती है।

१११०. माया को समझना कठिन है। किसी समय महर्षि नारद ने भगवान् विष्णु से कहा था, "प्रभो, मुझे तुम्हारी अघटन-घटनापटीयसी माया के दर्शन कराओ।" भगवान् बोले, "तथास्तु।" इसके कुछ दिनों बाद एक दिन नारद को साथ ले भगवान् घूमने निकले। बहुत दूर घूमते हुए भगवान् को प्यास लगी। प्यास के मारे वे अधीर हो गए और नारद से बोले, "नारद! कहीं से पानी लाकर मेरी प्यास बुझाओ।" नारद तुरन्त पानी लाने चल पड़े।

पास कहीं पानी नहीं मिला। थोड़ी दूर पर एक नदी दिखाई दे रही थी। नारद ने नदी के समीप जाकर देखा, एक बड़ी सुन्दर युवती बैठी हुई है। नारद उसका रूप देख मोहित हो गए। नारद के उसके निकट जाते ही वह रमणी उनके साथ मधुर वार्तालाप करने लगी। थोड़े ही समय में दोनों के बीच परस्पर प्रणय हो गया। नारद ने उसके साथ विवाह कर वहीं गृहस्थी बसा ली। धीरे धीरे उनके कई सन्तानें हुईं। नारद उन बाल-बच्चों के साथ सुख से गृहस्थी चलाने लगे। कुछ दिनों में उस स्थान पर बड़ी महामारी फैली। चारों ओर लोग मरने लगे। नारद ने स्त्री-पुत्रों को ले उस स्थान को छोड़ दूर भाग जाने का विचार किया। उनकी स्त्री भी इस बात से सम्मत हुई। तब बच्चों को ले दोनों चलने लगे। पर जब वे नदी पार करने लगे तो जोरों से बाढ़ आ गई और उसमें एक के बाद एक उनके सभी बच्चे बह गए। अन्त में पत्नी भी वह गई। नारद उनके लिए शोक से व्याकुल हो क्रन्दन करने लगे। ऐसे समय भगवान् ने आकर कहा, "क्यों नारद, पानी कहाँ है? और तुम रो क्यों रहे हो?" भगवान् के दर्शन पा नारद विस्मित हुए और सारी बात उनकी समझ में आ गई। तब वे कहने लगे, "भगवन्, तुम्हें प्रणाम और तुम्हारी माया को भी प्रणाम!"

११११. एक बार बकरियों के झुण्ड पर एक बाघिन झपट पड़ी। बाघिन गाभिन थी। कूदते समय उसे बच्चा पैदा हो गया और वह मर गई। वह बच्चा बकरियों के साथ पलने लगा। बकरियाँ घास-पत्ते खातीं तो वह भी घास-पत्ते खाता। वे 'में-में' करती, तो वह भी 'में-में' करता। धीरे-धीरे वह बच्चा काफी बड़ा हो गया। एक दिन उस बकरियों के झुण्ड में और एक बाघ आ पड़ा। वह उस घास चरने वाले बाघ को देख आश्चर्य से दंग हो गया! उसने दौड़कर उसे पकड़ लिया। वह 'में-में' कर चिल्लाने लगा। वह उसे घसीटते हुए जलाशय के पास ले गया और बोला, "देख, जल के भीतर अपना मुँह देख। देख, तू ठीक मेरे ही जैसा है। और यह ले थोड़ासा मांस, इसे खा।" यह कह कर वह उसे जबरदस्ती मांस खिलाने लगा। पहले तो वह किसी तरह राजी नहीं हो रहा था, 'में-में' कर चिल्ला रहा था, पर

अन्त में रक्त का स्वाद पाकर खाने लगा। तब नए बाघ ने कहा, "अब समझा न कि जो मैं हूँ, वही तू भी है! अब आ, मेरे साथ वन में चल।"

गुरु की कृपा होने पर कोई भय नहीं है। वे तुम्हें बतला देंगे, तुम कौन हो, तुम्हारा स्वरूप क्या है।

१११२. 'नेति नेति' कर आत्मविश्लेषण करते हुए जहाँ जाकर मन पूर्ण रूप से शान्त हो जाता है, वहीं ब्रह्मज्ञान होता है।

एक आदमी राजा को देखना चाहता था। सात ड्योढ़ियों के पार राजा का दरबार था। पहली ड्योढ़ी पर जाकर उसने देखा, एक ऐश्वर्यशाली पुरुष बहुतसे लोगों से घिरा बैठा हुआ है, खूब शान-शौकत है, खूब रौनक है। जो राजा को देखने गया था उसने अपने साथी से पूछा, "क्या यही राजा है?" उसका साथी थोड़ा मुसकराकर बोला "नहीं"। इसके बाद की सभी ड्योढ़ियों में उसने उसी प्रकार के दृश्य देखे। वह जितना आगे बढ़ता गया, वहाँ की देवड़ी पर उतना ही अधिक ऐश्वर्य और ठाट-बाट दिखाई देने लगा। हर बार वह अपने साथी से पूछने लगा, "क्या यही राजा है?" पर सातवीं ड्योढ़ी को पार कर जब उसने प्रत्यक्ष राजा का दरबार देखा तब उसने साथी से कुछ नहीं पूछा। राजा का अतुल ऐश्वर्य देख वह निर्वाक् होकर खड़ा रहा। वह समझ गया कि यही राजा है, इस विषय में कोई सन्देह नहीं।

ब्रह्मज्ञान

१११३. एक सती साध्वी, भगवत्परायण स्त्री संसार में रहकर पति-पुत्रों की सेवा तथा भगवच्चिन्तन किया करती थी। एक दिन उसके पति का किसी रोग से देहान्त हो गया। पति का अन्तिम संस्कार आदि पूरा कर उस स्त्री ने अपने हाथों की काँच की चूड़ियाँ फोड़ डालीं और उसकी जगह सोने के कड़े पहन लिए। उसके इस विचित्र कार्य को देख लोगों ने उससे इसका कारण पूछा। तब वह बोली, "इतने दिन मेरे पति की देह काँच की चूड़ियों की ही तरह क्षणभंगुर थी। उनकी वह अनित्य देह चली गई है। अब वे क्षणभंगुर नहीं रहे, वे नित्य अखण्डस्वरूप हो गए हैं। इसी से मैंने काँच

की चूड़ियाँ फोड़कर पक्के गहने पहन लिए।''

१११४. एक बार दक्षिणेश्वर में दो साधु आए थे – वे दोनों बाप-बेटे थे। बेटे को ज्ञान हुआ था, बाप को नहीं। श्रीरामकृष्ण जिस कमरे में रहते थे उसमें वे दोनों बैठे हुए उनके साथ वार्तालाप कर रहे थे। इतने में कमरे में चूहे के बिल में से एक गोखुरा साँप निकला और उसने बेटे को काट लिया। यह देखकर उसका बाप बहुत ही घबड़ा गया और लोगों को बुलाने लगा। पर बेटा स्थिर बैठा रहा। बाप की घबराहट को देख वह हँस पड़ा। बाप नाराज हो उसे डाँटने लगा। तब वह बोला, ''कौन साँप है और उसने किसको काटा है?'' उसे एकत्व का बोध हो गया था; ऐसी स्थिति में साँप और मनुष्य में भेद नहीं दिखाई देता।

१११५. एक चाण्डाल कसाई-खाने से मांस की टोकरियाँ ले जा रहा था। पवित्र गंगाजी में स्नान कर श्रीशंकराचार्य लौट रहे थे। रास्ते में उनकी भेंट चाण्डाल से हो गई। संयोगवश शंकराचार्य के शरीर से चाण्डाल का स्पर्श हो गया। शंकराचार्य नाराज हुए और उन्होंने जोर से कहा, ''अरे तूने मुझे छू लिया!'' चाण्डाल ने उत्तर दिया, ''महाराज, न मैंने आपको छुआ, न आपने मुझको! कृपया मुझसे तर्क कीजिए और बताइए कि आपका आत्मा शरीर है, या मन है अथवा बुद्धि; बताइए आपका सच्चा स्वरूप क्या है। आप जानते हैं, आत्मा का प्रकृति के तीनों गुण सत्त्व, रज, तम से कोई सम्बन्ध नहीं।'' यह सुनकर शंकराचार्य लज्जित हुए और उन्हें सच्चा ज्ञान प्राप्त हुआ।

१११६. एक साधु अपने शिष्य को आत्मज्ञान प्राप्त कराना चाहता था। वह उसे एक सुन्दर उद्यानगृह में रखकर चला गया। कुछ दिनों बाद लौटकर उसने शिष्य से पूछा, ''बेटा, तुझे किसी बात का अभाव है?'' शिष्य के ''हाँ'' कहने पर साधु ने श्यामा नाम की एक सुन्दर स्त्री को वहाँ रखा और शिष्य को यथेच्छ आहार-विहार करने की अनुमति दी। फिर बहुत दिनों के बाद आकर साधु ने शिष्य से वही बात पूछी। इस बार शिष्य ने उत्तर दिया, ''नहीं महाराज, मुझे अब किसी बात की चाह नहीं है।'' तब

साधु ने शिष्य और श्यामा दोनों को पास बुलाया और श्यामा के हाथों की ओर निर्देश करते हुए शिष्य से पूछा, "ये क्या हैं?" शिष्य बोला, "ये श्यामा के हाथ हैं।" इसी प्रकार क्रमशः श्यामा की आँखें, नाक, कान आदि सभी अंगो का निर्देश करते हुए साधु पूछता गया, "यह क्या है?" शिष्य भी उपयुक्त उत्तर देता गया। ऐसा करते हुए शिष्य के ध्यान में अचानक यह बात आई कि "मैं बार-बार कह रहा हूँ, यह श्यामा का 'अमुक' है, यह श्यामा का 'तमुक' है, पर वास्तव में श्यामा क्या है?" असमंजस में पड़कर उसने गुरु से पूछा, "परन्तु महाराज, ये आँखें, नाक, कान आदि जिसके अंग हैं वह श्यामा वास्तव में क्या है?" साधु ने कहा, "यदि तुम जानना चाहते हो कि श्यामा कौन है, तो मेरे साथ आओ, मैं तुम्हें यह ज्ञान करा दूँगा।" इसके बाद साधु ने उसके निकट आत्मज्ञान का रहस्य प्रकट किया।

१११७. एक पिता के दो लड़के थे। ब्रह्मविद्या सीखने के लिए पिता ने दोनों को आचार्य के हाथ सौंप दिया। कुछ साल बाद दोनों गुरुगृह से लौटे और उन्होंने आकर पिता को प्रणाम किया। पिता की इच्छा हुई कि देखें इन्हें कैसा ब्रह्मज्ञान हुआ है। उन्होंने बड़े लड़के से पूछा, "बेटा! तुमने तो सब कुछ पढ़ा है, अब बताओ तो सही ब्रह्म कैसा है।" बड़ा लड़का वेदों में से नाना श्लोक बताते हुए ब्रह्म का स्वरूप समझाने लगा। पिता चुप रहे। जब उन्होंने छोटे लड़के से पूछा तो वह सिर नीचा किए चुप रहा, मुँह से एक बात न निकली। तब पिता ने प्रसन्न होकर छोटे लड़के से कहा, "बेटा, तुम्हीं ने कुछ समझा है। ब्रह्म क्या है यह मुँह से बताया नहीं जा सकता।"

१११८. एक बार एक पण्डित ने राजा के पास जाकर कहा, "महाराज, मैं आपको भागवत सुनाना चाहता हूँ, आप सुनिए।" राजा ने कहा, "महाराज! भागवत को आपने अभी भी नहीं समझा। आप उसे अच्छी तरह पढ़ने के बाद आएँ।" पण्डित चिढ़कर चला गया। उसने मन में सोचा, 'राजा कैसा बुद्धिहीन है! मैंने इतने वर्ष तक भागवत का पाठ किया, और

राजा कहता है फिर पाठ कर आने।' परन्तु उसमें राजा की बात के ऊपर कुछ उत्तर देने की सामर्थ्य न थी। पण्डित ने घर आकर भागवत पाठ करना आरम्भ किया। पढ़ते हुए वह हँसता और सोचता, 'राजा कैसा मूर्ख है; भला अब मेरे लिए इसमें समझने का क्या बाकी रहा?' कुछ दिनों में भागवत पाठ पूरा कर पण्डित फिर राजा के पास गया और बोला, "महाराज, अब मुझसे भागवत सुनिए।" राजा ने पुन: कहा, "पण्डितजी आप स्वयं अच्छी तरह पाठ कर आइए, उसके बाद मैं आपसे सुनूँगा।" पण्डित राजा के सामने कुछ बोल नहीं सका। पर मन ही मन बहुत नाराज होकर लौट आया। पर वह सोचने लगा, 'राजा मुझसे बार बार यह बात क्यों कह रहा है; अवश्य ही इसमें कुछ अर्थ है।' उसने पुन: पोथी खोली और पठन आरम्भ किया। पर इस बार वह जितना पाठ करने लगा उसके भीतर उतने ही नए नए भाव उदित होने लगे। वह भावविभोर होकर अपने कमरे में अकेला बैठकर भागवत पाठ करता और भक्तिभाव से व्याकुल हो रोने लगता। उसने राजभवन में जाना छोड़ दिया। बहुत दिनों बाद राजा ने सोचा, 'वह पण्डित अब क्यों नहीं आता है?' राजा ने स्वयं उसके यहाँ जाकर देखा, पण्डित भावमग्न हो भागवत का पाठ कर रहा है और उसके नेत्रों से अविरत प्रेमाश्रु की धार बह चली है। देखकर राजा ने कहा "महाराज! अब आपका भागवत-पाठ ठीक ठीक हो रहा है। अब मैं आपसे भागवत सुनूँगा।"

११११९. किसी स्थान पर एक मठ था। मठ के साधु महात्मा रोज भिक्षा के लिए जाया करते थे। एक दिन एक साधु भिक्षा माँगने गया तो देखा कि एक जमींदार किसी गरीब आदमी को खूब पीट रहा है। साधु बड़े दयालु थे। उन्होंने बीच में पड़कर जमींदार को मारने से मना किया। जमींदार उस समय बहुत गुस्से में था, उसने अपना सारा गुस्सा साधु पर ही उतारा। उसने साधु को इतना पीटा कि वे बेहोश होकर गिर पड़े। तब किसी ने मठ में जाकर खबर दी कि तुम्हारे किसी साधु को जमींदार ने बहुत मारा है। सुनकर मठ के साधु दौड़े आए। उन्होंने देखा कि वे साधु बेहोश पड़े हुए हैं। तब वे उन्हें उठाकर मठ में ले आए और एक कमरे में सुला दिया।

साधु बेहोश थे, मठ के लोग उनके चारों ओर विषण्ण होकर बैठे थे। कोई पंखा झल रहे थे। तो कोई चेहरे पर पानी छिड़क रहे थे। एक ने कहा, "इनके मुँह में जरा दूध डालकर देखें।" मुँह में थोड़ा थोड़ा दूध डालते डालते साधु को होश आया। वे आँखें खोलकर ताकने लगे। तब किसी ने कहा, "देखें पूरा होश आया है या नहीं, लोगों को पहचान सकते हैं या नहीं।" यह कहकर उसने ऊँची आवाज में साधु से पूछा, "क्यों महाराज आपको दूध कौन पिला रहा है?" साधु ने धीमे स्वर में कहा, "भाई, जिसने मुझे मारा था, वही अब दूध पिला रहा है।" ईश्वर को जाने बिना, पाप-पुण्य के परे गए बिना ऐसी अवस्था नहीं होती।

११२०. किसी गाँव में पद्मलोचन नाम का एक लड़का रहता था। लोग उसे पदुआ कहकर पुकारते थे। गाँव में एक जीर्ण मन्दिर था। अन्दर कोई देवमूर्ति नहीं थी। मन्दिर की दीवालों पर पीपल तथा दूसरे कई किस्म के पेड़-पौधे उग आए थे, मन्दिर के भीतर चीमगीदड़ो का बसेरा था। फर्श पर धूल और चीमगीदड़ो की विष्ठा पड़ी रहती थी। मन्दिर में लोगों का आना-जाना नहीं था।

एक दिन सन्ध्या समय गाँववालों ने शंख की आवाज सुनी। मन्दिर की ओर से भों-भों करके शंख की आवाज आ रही थी। गाँववालों को लगा, शायद किसी ने ठाकुरजी की प्रतिष्ठा की होगी, अब सन्ध्या-आरती हो रही है। बच्चे, बूढ़े, स्त्री, पुरुष सब दौड़ते हुए मन्दिर के सामने आ खड़े हुए – देवता के दर्शन करने और आरती देखने। पर मन्दिर बन्द था। एक ने धीरे से मन्दिर का दरवाजा खोला तो दिखाई दिया – भीतर पद्मलोचन एक ओर खड़ा हो भों-भों शंख फूँक रहा है। उसने देखा देवता की प्रतिष्ठा नहीं हुई है, फर्श पर झाडू तक नहीं लगाई गई है और जहाँ तहाँ चमगीदड़ों की विष्ठा पड़ी हुई है। तब उसने चिल्लाकर कहा – "तेरे मन्दिर में माधव तो है नहीं, पदूआ, तूने नाहक शंख फूँककर गड़बड़ी मचा दी। उसमें ग्यारह चमगीदड़ दिनरात गश्त लगा रहे हैं।"

यदि तुम हृदयमन्दिर में माधव की प्रतिष्ठा करना चाहो, यदि ईश्वर

लाभ करना चाहो तो सिर्फ भों-भों कर शंख फूँकने से क्या होगा? पहले चित्त को शुद्ध करो। मन के शुद्ध होने पर भगवान् इस पवित्र आसन पर आ विराजेंगे। चमगीदड़ की विष्ठा के रहते माधव को नहीं लाया जा सकता। ग्यारह चमगीदड़ यानी ग्यारह इन्द्रियाँ – पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन। माधव की प्रतिष्ठा करो, उसके बाद इच्छा हो तो भाषण, उपदेश आदि देना। पहले डुबकी लगाओ। गोता लगाकर लाल रत्न उठा लाओ, फिर दूसरे काम करना।

□□□

हमारे अन्य प्रकाशन

स्वामी विवेकानंदकृत सम्पूर्ण साहित्य

योग

ज्ञानयोग
राजयोग (पातंजल योगसूत्र, सूत्रार्थ और व्याख्यासहित)
प्रेमयोग
कर्मयोग
भक्तियोग
ज्ञानयोग पर प्रवचन
सरल राजयोग

सम्भाषणात्मक

विवेकानन्दजी के संग में
स्वामी विवेकानन्दजी से वार्तालाप
विवेकानन्दजी के संस्मरण
विवेकानन्दजी के सान्निध्य में
विवेकवाणी (स्वामी विवेकानन्द की शिक्षाएँ)

विस्तृत सूचीपत्र के लिए लिखिए –
रामकृष्ण मठ
रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली, नागपुर-४४० ०१२.

मान लो कि पैर में काँटा चुभा है।
उस काँटे को निकालने के लिए और एक
काँटे की जरूरत पडती है।
फिर उस काँटे के निकल जाने पर
दोनों काँटों को फेंक दिया जाता है। इसी प्रकार,
अज्ञानरूपी काँटे को निकालने के लिए पहले
ज्ञानरूपी काँटे को लाना पड़ता है।
फिर उन्हें पाने के लिए ज्ञान-अज्ञान दोनों को
फेंक देना पडता है; वे ज्ञान-अज्ञान के परे जो हैं!

– भगवान श्रीरामकृष्ण

रामकृष्ण मठ (प्रकाशन विभाग)
रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली, नागपुर - ४४० ०१२
e-mail - rkmnpb@gmail.com
Ph - 0712-2432690
For Online purchasing
www.rkmathnagpur.org

ISBN 978-9-3848830-1-0

9 789384 883010

(H095) Amritwani : ₹ 65.00